साधन शिखर

- शिवोम् तीर्थ

साधन - शिखर

शिवोम् तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
१२-१६, नवाली गाँव पोस्ट, दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे - ४०० ६१२ (महाराष्ट्र)
दूरभाष - ०२२ - २७४११४००
०२२ - २७८७९६४२

साधन शिखर

शिवोम् तीर्थ

प्रथम-संस्करण

सन् - २००३

मूल्य १२० रू

मुख पृष्ठ आकल्पन - अक्षय आमेरिया

छाया चित्र - कैलाश सोनी

प्रकाशक-

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रय)

१२-१६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)

जिला ठाणे- ४००६१२ (महाराष्ट्र)

दूरभाष-०२२-२७४११४००

०२२-२७८७१६४२

मुद्रक -

सन्मान एण्ड कंपनी

११३, शिवशक्ति इंडस्ट्रीयल एस्टेट,

मरोळ नाका- ४०० ०५९.

दूरभाष -०२२-२८५०११३७

समर्पण

जगजननी
जगत की पालक तथा संहारक
असुरों की मारक
भक्तों की उद्धारक
कण–कण में व्यापक
देवास की माता जी की टेकड़ी पर स्थित
भगवती चामुण्डा
के पावन श्री चरणों में

- शिवोम्

निवेदन

कहा जाता है कि, "स्मृतीयाँ अधिक दिन नहीं रहती," किंतु स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज लिखित किताबें इसे गलत सिद्ध करती है। हृदयमंथन भाग १, २ और ३ (हिंदी-भाषा) वाचकोंने महसूस किया होगा। हिंदी भाषा में प्रकाशित किताबों को मिले प्रतिसाद से उत्साहित अंग्रेजी अनुवाद **"Churning of Heart"** प्रकाशित किया गया जिसे अंग्रेजी वाचक वर्ग ने स्विकारा और सराहा।

अध्यात्म, आत्मजागृती और अपने जीवन में रोशनी पाने के लिए है। इससे आप में त्यागपूर्व प्रेम, सहिष्णूता, उदारता, क्षमाशिलता का संचार होता है, जिससे आप आदरणीय व्यक्ति बन जाते है। यह आपको दृढ़ निश्चयवाले व्यक्ति बनाता है। तथा आपमें भूत, वर्तमान और भविष्य की दृष्टी देता है. यह सब आप "हृदय मंथन" और स्वामी शिवोम् तीर्थजी महाराज की वर्तमान रचना "साधन शिखर" पढ़ के समझ सकते है।

हमें "साधन शिखर" प्रकाशित करके आनंद हो रहा है। यह अपने आपमें एक उच्चतम कृति जिससे पाँच संतों का एतिहासिक जनकार्यो की जानकारी दी गई है। इसकी प्रेरणा, २००० सालपूर्व मध्यप्रदेश स्थित देवास पर्वतोंपर इन संतोने तपस्या की और उन स्थानों को पवित्र किया। इसी स्थान पर हमारा "शक्तिपात" परांपरा के मुख्य आश्रम स्थित है।

साधन शिखर के रचनाकार ने उनकी यह रचना देवत्म शक्ति से प्रकाशित करने की अनुमती देकर जनसमुदाय पर बड़ी कृपा की है। हमें विश्वास है, इस पवित्र पुस्तिका से मिलनेवाले ज्ञान से आध्यात्मिक महत्वाकांक्षी उल्हासित होंगे। संत स्वामी विष्णू तीर्थजी महाराज ने अपना अमूल्य समय "साधन शिखर" में साधना करते व्यतीत किया। उन्हींके जन्मतिथी तथा विजयादशमी के पावन मुहूर्त पर "साधन शिखर" प्रकाशित और विमोचन करते हुये हमें बड़ी खुशी हो रही है।

टी कालिदास
अध्यक्ष
४-१०-२००३

देवात्म शक्ति सोसायटी
९२-९६, नवाली गांव, पोस्ट दहिसर (मार्गे मुम्ब्रा)
जिल्हा ठाणे महाराष्ट्र (भारत) ४००६१२.
फोन : (०२२) २७४११४००
(०२२) २७८७९६४२

विषय-सूची

भूमिका

यह उस समय की बात है जब देवास नगर का कहीं नाम तक भी नहीं था। चामुण्डा माता जी की टेकड़ी (पहाड़ी) उस समय भी थी, चारों ओर मीलों तक, वृक्षों, लताओं तथा झाड़ियों की हरियाली से आच्छादित, हिंसक वन-पशुओं का साम्राज्य, चोरों-डाकुओं की शरण स्थली। यह बात आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व की है। उस समय एक महापुरुष का टेकड़ी पर आगमन हुआ, जिस का नाम भर्तृहरि था। वह कई वर्षों तक यहां साधन रत् रहे। इसी निवास काल में उन्हों ने अपना जगत् प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ वैराग्य-शतक् लिखा। भर्तृहरि के यहां आ जाने तथा निरन्तर साधन करते रहने से टेकड़ी का साधन-शिखर-स्वरूप निखरने लगा। टेकड़ी साधन का केन्द्र बनती चली गई।

सामान्य मनुष्यों में स्मृति, अतीत में झांकने के लिए एक झरोखा है जो जीवन में घटी संवेदनाओं, विचित्रताओं एवं अकस्मात् घटनाओं को वर्तमान की तरह सजीव लक्ष्य करवा देती है, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक का विषय अतीत की स्मृति के कारण प्रत्यक्षीकरण नहीं है। यह एक ऐसे महापुरुष की अनुभव गाथा है जिस ने चैतन्य की खिड़की में खड़े हो कर अतीत में झांका। अतीत की यह घटनाएं उसे किसी जन्म में अनुभव नहीं हुई थीं। उस के अन्तर् में इन घटनाओं के संस्कार संचित होने का प्रश्न ही नहीं था, किन्तु हज़ारों वर्ष पुराना अतीत उस के सामने वर्तमान की तरह उपस्थित होता गया। यह महापुरुष और कोई नहीं, हमारे गुरुदेव स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज थे।

अपना अतीत सब लोगों के सामने स्वप्न अथवा स्मृति के रूप में उपस्थित होता है, किन्तु वह किसी के नियंत्रण में नहीं होता। यह नहीं कि जब चाहा स्वप्न देख लिया। यदि कोई यह जानना चाहे कि वह पिछले जन्म में क्या था तो उस के पास इस का कोई साधन नहीं होता। यदि कोई ज्योतिष की गणना कर के बता भी दे, तो उस की सत्यता की जांच करने का कोई उपाय नहीं होता। किन्तु साधन मार्ग में ऐसे उपायों का उल्लेख है जिस से साधक को ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है जिस से वह अपने संस्कारों की श्रृंखला को पकड़ कर पीछे की ओर चलता है जिस से उस का इस जन्म का, अथवा पिछले जन्मों का अतीत समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है।

किन्तु महाराजश्री की स्थिति इस से भी अधिक सूक्ष्म थी। अपने बारे में तो उन्हें अतीत का ज्ञान था ही, किन्तु जहां कहीं भी वह अपने मन को एकाग्र कर देते थे, उस विषय की सारी घटनाएं चलचित्र की भांति, प्रत्यक्ष हो जाती थीं। वे महापुरुषों द्वारा छोड़ी गई सूक्ष्म तरंगों को पकड़ लेते थे। कहां क्या हुआ ? उन को ज्ञात हो जाता था। इस प्रकार महाराजश्री का ऐसा अनुभव मैं जगन्नाथ पुरी में भी देख चुका था। जब उन्हें गुरुदेव स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज विषयक सारी जानकारी प्रत्यक्ष प्रकट हो गई थी, तथा जिस को

आधार बना कर मैं 'पुनरुदय' शीर्षक से पुस्तक लिख सका था।

देवास की माताजी की टेकड़ी से पांच आध्यात्मिक महापुरुष संबंधित रहे हैं, भर्तृहरि, योगी नागनाथ, चन्दबरदाई, योगी शीलनाथ महाराज तथा स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज। इस पुस्तक का वृत्तान्त परम पूज्य स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज के स्वयं के श्री मुख, से कहा गया है इस लिए टेकड़ी से संबंधित महापुरुषों में अपनी गणना उन्हों ने नहीं की। कर भी कैसे सकते थे ? अपने मुंह से कोई कैसे कह सकता है कि वह महापुरुष है।

वैसे तो महापुरुष जाति, धर्म, सम्प्रदाय की अस्वाभाविक सीमाओं से एकदम अतीत होते हैं, किन्तु फिर भी जगत उन्हें अपनी दृष्टि से देखता है तथा प्रत्येक् महापुरुष का किसी न किसी सम्प्रदाय से संबंध जोड़ लेता है। भर्तृहरि, योगी नागनाथ, तथा योगी शीलनाथ नाथ-सम्प्रदाय के महात्मा गिने जाते हैं। चन्द बरदाई को समाज ने एक महात्मा के रूप में कभी मान्यता प्रदान नहीं की। उनके जीवन में अध्यात्म सदैव उन का व्यक्तिगत् विषय रहा इस लिए उन का महात्मा-स्वरूप जगत के समक्ष कभी उपस्थित नहीं हो सका। उन की ख्याति एक कवि या सद्मित्र की ही समाज में रही है। किन्तु महाराजश्री ने उन का जैसा चित्र उद्घाटित किया है उस से पता चलता है कि वे एक पूर्ण महात्मा थे। उन्हों ने आजीवन अपनी आन्तरिक स्थिति को जगत से छिपाये रखा। स्वामी विष्णु तीर्थ देव को शक्तिपात सम्प्रदाय से संबंधित माना जाता है, जब कि मैं ने इतने वर्षों तक उन के निकट सानिध्य में रह कर यह अनुभव किया है कि उन का दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल था।

वैसे भी यदि विचार कर के देखा जाय तो शक्तिपात् कोई सम्प्रदाय है भी नहीं। नाथों का नादयोग हो, वैष्णों का भक्तिमार्ग अथवा वेदान्तियों का ज्ञान मार्ग, सब में शक्तिपात् की परम्परा रही है। शास्त्रज्ञान को अन्तर में प्रत्यक्ष अनुभव करना, शक्तिपात् का विषय रहा है। शक्तिपात् साधक को प्रयत्न की सीमाओं से मुक्त कर, साधन को स्वाभाविकता प्रदान करता है एवं विभिन्न मार्गों तथा सिद्धान्तों की कल्पना को विराम लगा देता है। किन्तु मनुष्य ने अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण शक्तिपात् को भी एक सम्प्रदाय मान लिया है। तथा शक्तिपात् के पश्चात् घटित होने वाले स्वाभाविक साधन को शक्तिपात् साधन-प्रणाली का नाम दे दिया है।

इस पुस्तक में सन् १९६६ में घटित महाराजश्री के देवास की चामुण्डा माताजी की टेकड़ी से संबंधित अनुभव संकलित हैं। भर्तृहरि का टेकड़ी वास, योगी नागनाथ का साधन-काल तथा चन्द बरदाई की टेकड़ी विषयक घटनाएं एवं योगी शीलनाथ का टेकड़ी पर उभरा व्यक्तित्व मुख्य हैं। महाराजश्री जब भाव विभोर होकर, अध्यात्म की उच्च अवस्था पर स्थित रहते हुए, बात करते थे तो ऐसा प्रतीत होता था मानो उन के समक्ष सारे चरित्र वर्तमान की भांति सजीव हो उठे हों।

बोलते-बोलते वह कई बार रुक जाया करते थे जैसे किसी घटना का अवलोकन कर रहे हों। कई बार वह बोलते समय आंखे बंद कर लेते थे जैसे कि सारा नाटक उन के अन्तर में घटित हो रहा है। वास्तव में ही, अतीत में घटित सारी घटनाएं महापुरुषों के अन्तर में ही प्रत्यक्ष होती हैं। तुलसी दासजी को यदि राम लक्षमण तथा सीताजी चित्रकूट में दिखाई दिए तो यह उन के अन्तर् का अनुभव था। स्थूल-जगत में घटनाओं के लिए स्थूल शरीरों की आवश्यकता होती है किन्तु रामजी आदि का वहां कोई स्थूल शरीर था ही नहीं। इसी प्रकार महाराजश्री को यदि यह अनुभूतियां हुई तो सब कुछ उन के मानसिक आन्तरिक धरातल पर ही हुआ।

आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व माताजी की टेकड़ी पूर्णतया जन-विहीन, वनाच्छादित एकान्त-शान्त थी। एक छोटी सी गुफा में माताजी की एक शिला पर उभरी आकृति के दर्शन करने, टेकड़ी के आस-पास की पहाड़ियों पर निवास करने वाले अदृश्य महापुरुष यदा-कदा आते रहते थे। उन दिनों यहां वर्षा काफी हुआ करती थी। इधर-उधर पानी के स्त्रोत फैले थे। जंगली फल तथा कंदमूल की कोई कमी नहीं थी। एकान्तप्रिय साधकों के लिए यह स्थान आदर्शरूप था।

भर्तृहरि ने जब यह स्थान देखा तो उन का हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। भोजन, जल,एकान्त, प्राकृतिक सौंदर्य, माताजी की उपस्थिति, सब कुछ तो साधन के अनुकूल था। टेकड़ी पर खड़े हो कर देखने से जहां तक नज़र जा सकती थी कोई बस्ती नहीं थी। उन्हों ने कुछ समय यहीं बिताने का मन बना लिया। भर्तृहरि के रूप में जैसे वैराग्य, त्याग तथा तपस्या ने मूर्तिमान स्वरूप धारण कर लिया था। उन का ध्यान आते ही मन में उपरति का भाव तरंगित हो उठता है। उन्हों ने राज-वैभव, विलासिता की सभी सुविधाएं, तथा मान-सन्मान सभी कुछ त्याग कर अपने-आप को अध्यात्म-उत्थान के लिए समर्पित कर दिया था। वैराग्य ही योग-भक्त का आधार है। वैराग्यहीन-व्यक्ति अध्यात्म के क्षेत्र में एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकता। भर्तृहरि जन्म-जन्मान्तर के योगी थे। किसी प्रबल प्रारब्ध के कारण, कुछ समय के लिए सांसारिकता में उलझ गए थे। जब उन्हें अपनी पटरानी पिंगला की ओर से झटका लगा, तो उन के हृदय का प्रसुप्त वैराग्य जाग्रत हो गया। कोई अन्य राजा होता तो पिंगला को सूली पर टंगवा देता, किन्तु भर्तृहरि वैराग्याभिभूत हो कर गृहत्याग कर गए एवं नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित हो कर विरक्त हो गए। इन का वैराग्य इतना परिपक्व था कि सम्प्रदाय में इन के नाम पर वैराग्य सम्प्रदाय ही चल निकला। वह वैराग्य, त्याग, तपस्या के महानायक थे। देवास की टेकड़ी जहां भारत की राजनैतिक-सामाजिक उथल पुथल की मूक दर्शक रही है वहीं इन महापुरुषों के ज्ञान,वैराग्य, साधन, ईश्वर-प्रेम तथा समर्पण-भाव की भी साक्षी है। टेकड़ी वह भी देखती रही है जो सामान्य जन की दृष्टि में कभी नहीं आया, अर्थात् हज़ारों वर्षों से समाधि लगाए अदृश्य महापुरुष एवं उन की गति विधियां। भर्तृहरि (योगी

विचार नाथ) तथा योगी नागनाथ का नाम नाथ सम्प्रदाय में अत्यन्त आदरपूर्वक लिया जाता है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के संधि काल में योगी शीलनाथ महाराज देवास पधारे तथा माताजी के मंदिर से कुछ नीचे अपनी धूनी प्रज्वलित की। फिर टेकड़ी से कोई एक मील दूर शीलनाथ धूनी संस्थान में बीस वर्ष के करीब रहे। बीसवीं शताब्दी के मध्य में स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज का देवास में पदार्पण हुआ तथा टेकड़ी पर नारायण कुटी में अपना आसन जमाया। आप शक्तिपात् के अनुभव-सिद्ध आचार्य थे। कई पुस्तकों की रचना की तथा अनेकों साधकों को अनुगृहीत किया।

आज तीर्थ के रूप में, टेकड़ी की, जन-जन में मान्यता प्राप्त हो चुकी है। सकाम तथा निष्काम दोनों प्रकार के भक्त, भगवती के दरबार में माथा नवाने आते हैं। वर्ष में कई मेले लगते हैं। यह सब भगवती के आशीर्वाद तथा महापुरुषो की तपस्या का फल है। साधन के संबंध में एक बार महाराजश्री से बात हुई तो कहने लगे, "कई साधन हैं ही कहां ? एक ही साधन है शक्ति की जाग्रति। जाग्रति के पश्यात ही भक्ति, योग, ज्ञान, नाद, हठ, विचार आदि स्वाभाविक घटित होने लगते है। जब तक जाग्रति नहीं तब तक साधना अस्वाभाविक है तथा साधना नाना प्रकार की है। साधन का मुख्य बिन्दु शक्ति की जाग्रति ही है।

देवास की माताजी की टेकड़ी एक तीर्थ-स्थल तो है ही, किन्तु पांचों महापुरुषों तथा अन्य अनेकों साधको की यह तप: स्थली भी रही है। अत: इस टेकड़ी को यहां साधन-शिखर कहा गया है। यह एक उभरी हुई पहाड़ी तो है, चामुण्डा माता जी की चेतन-सत्ता का भी यहां अस्तित्व है। अत: स्वाभाविक ही साधन-शिखर के रूप में विकसित हो गई है। उक्त पांचों महापुरुषों के यहां निवास-काल की अवधि दो हज़ार वर्षों में फैली है। यदि भर्तृहरि विक्रमी संवत के आरंभ में यहां रहे तो स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज बीसवीं शताब्दी में यहां विराजमान रहे। टेकड़ी इन सभी महापुरुषों के साधन तथा तपस्या की साक्षी है। शरणस्थली है, प्रेरणा का स्त्रोत है, शक्ति दायिनी है।

महाराजश्री के सद्वचनों पर आधारित यह पुस्तक चामुण्डा माताजी की टेकड़ी को आधार बना कर लिखी गई है जो आदर्शरूप पांचों महापुरुषों के आध्यात्मिक प्रसंगों के कारण साधकों के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्रद है। आशा करता हूं कि पाठक-साधक इस से अवश्य लाभान्वित होंगे तथा इस के साथ ही माताजी की टेकड़ी के प्रति भी उन के अन्तर में श्रद्धा, प्रेम एवं समर्पण का विकास हो गा।

इन्दौर म. प्र. भारत
दि. 5-10-2003
विजय दशमी

-शिवोम्

साधन शिखर

भर्तृहरि (योगी विचार नाथ)

विषय प्रवेश

सन् १९६६। जुलाई का महीना। गुरु पूर्णिमा का दिन। समय प्रात: काल साढ़े पांच बजे। महाराज श्री (स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज ब्रह्मलीन) अपने नित्य नियमानुसार देवास में नारायण कुटी आश्रम के पीछे चामुण्डा माता जी की टेकड़ी पर घूमने के लिए जा रहे थे। महाराज श्री का कमण्डल लिए मैं पीछे-पीछे चल रहा था। प्रात: काल की शीतल समीर शरीर में आनन्द तथा मन में उत्साह का संचार कर रही थी। आश्रम में गुरु पूर्णिमा के कारण गहमा- गहमी थी तो टेकड़ी पर भी माता जी के मंदिरों में आज मेला लगता था।

किसी समय माता जी की टेकड़ी पर हरियाली रही होगी किन्तु आज तो ऐसी स्थिति थी जैसे किसी गंजे व्यक्ति के सिर पर एक भी बाल नहीं होता। उसी प्रकार सारी टेकड़ी पर एक भी वृक्ष दिखाई नहीं देता था। नाग-पंचमी पर सांपो की पूजा कराने के पश्चात् सपेरे सांपों को टेकड़ी पर छोड़ जाया करते थे जिस से टेकड़ी सांपों की नगरी के रूप में विकसित हो गई थी। प्राय: लोग अंधेरा हो जाने के पश्चात् टेकड़ी पर जाते हुए डरते थे। पिछले तीस वर्षों में यहां का स्वरूप काफी बदल गया है। अनेकों वृक्ष खड़े हो गए हैं। डामर तथा सीमेंट की पक्की सड़कें उभर आई हैं। मंदिरों ने भी काफी विकास-विस्तार पा लिया है। पानी के नलों तथा बिजली के बल्बों ने टेकड़ी का नक्शा ही बदल दिया है। किन्तु सन् १९६६ में यह सब कुछ भी नहीं था। ऊबड़-खाबड़ पत्थरों भरा मार्ग, सड़क के किनारे कोई जंगला नहीं, बैठने के लिए एक बैंच नहीं।

महाराजश्री को वह समय स्मरण हो आया जब सन् १९५४ में, आश्रम के मंदिर में शंकर जी की प्रतिष्ठा हुई थी। आश्रम उस समय चारों ओर से खुला था ही। आस-पास एक भी मकान या झौंपड़ी नहीं थी। प्रतिष्ठा से एक दिन पूर्व की बात है। उस अवसर पर बाहर से भी काफी मेहमान आए हुए थे। देवास तथा आस-पास के भक्त थे ही। सेवा करने वाले भी कई लोग थे। आश्रम में काफी बड़ा शामियाना लगा था। सब लोगों का भोजन हो रहा था। उस दिन टेकड़ी पर भी कोई मेला लगा था। मेले वालों ने यह समझा कि यहां जन साधारण के लिए कोई भण्डारा हो रहा है। लोग आते रहे और खाते रहे। दूसरे दिन के भण्डारे के लिए जो सामान ला कर रखा था, वह भी समाप्त हो गया। (सब लोग ज़ोर से हंसते हैं) क्या किया जाए ? यह तो शंकर जी के मेहमान थे, संकोच त्याग कर सेवा कर्तव्य था।

एक सज्जन ने प्रश्न किया, गुरु पूर्णिमा पर भी चामुण्डा देवी के मंदिर में

टेकड़ी पर मेला लगता है, लोग दर्शन-पूजन के लिए आते हैं, यह बात कुछ समझ में नहीं आई। गुरु पूर्णिमा तो शिष्यों का गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने का दिवस है। देवी जी का भला इस से क्या संबंध हो सकता है ?

महाराज श्री- संबंध है और घनिष्ट संबंध है। यदि विचार कर के देखा जाय तो शक्ति ही गुरु है। शक्ति से युक्त होने पर ही ईश्वर गुरुतत्त्व कहलाता है क्योंकि शक्ति के संयोग के बिना न तो ईश्वर किसी का अंधकार मिटा सकता है, न कल्याण ही कर सकता है तथा न ही किसी की प्रार्थना सुन सकता है, जो कि गुरु का वास्तविक कार्य है। गुरुओं में भी वही शक्ति, अन्तर्गुरु के रूप में कार्य करती है अर्थात् गुरुओं का वास्तविक स्वरूप अन्तर्गुरु है। अतः यदि कोई भगवती के मंदिर में गुरुपूर्णिमा पर पूजन के लिए जाता है तो इस में आश्चर्य की क्या बात है ?

इस पर किसी ने शंका व्यक्त की- शक्ति का ब्रह्म के साथ आधार-आधेय के रूप में अभिन्न संबंध कहा जाता है, जब कि आप कह रहे हैं कि शक्ति से युक्त होने पर ही, ब्रह्म का गुरुतत्त्व नाम होता है अर्थात् शक्ति ब्रह्म से कभी युक्त होती है तो कभी वियुक्त, इस प्रकार गुरुतत्त्व भी नित्य तत्त्व नहीं रहा। जो स्वयं अनित्य है, वह किसी को नित्यत्व कैसे प्रदान कर सकता है।

महाराज श्री- युक्त तथा वियुक्त होना केवल औपचारिक एवं पारिभाषिक शब्द है। जब शक्ति ब्रह्म में विलीन हो कर प्रसुप्त अवस्था में चली जाती है तो उसे ब्रह्म की शक्ति से रहित अवस्था कहा जाता है। क्योंकि तब शक्ति एकदम क्रियारहित होती है। जब शक्ति ब्रह्म में प्रकट हो कर क्रियाशील हो जाती है तो उसे ब्रह्म के साथ युक्त-अवस्था कहा जाता है। विलीनावस्था में भी शक्ति की विद्यमानता तथा ब्रह्म के साथ उस की अभिन्नता में कोई अन्तर नहीं आता। विलीन हो जाने पर शक्ति की क्रिया भी विलीन हो जाती है तथा ब्रह्म भी शव के समान हो जाता है। अतः तुम्हारी यह शंका निराधार है।

पुनः शंका उपस्थित की गई- फिर भी गुरु तत्त्व तो अनित्य होही गया। जब शक्ति ब्रह्म में विलीन हो जाती है, उस समय गुरुतत्त्व नहीं होता। जब शक्ति प्रकट एवं क्रियाशील हो जाती है, तभी गुरुतत्त्व भी प्रकट हो जाता है।

महाराज श्री- तुम्हारी यह युक्ति हमारी समझ में नहीं आई। जब शक्ति विलीन होकर भी नित्य है तब गुरुतत्त्व अनित्य कैसे हो गया। हां, यह कह सकते हैं कि गुरु तत्व की क्रिया-शीलता कभी प्रकट होती है, कभी अप्रकट, किन्तु गुरु तत्त्व विद्यमान अवश्य रहता है।

एक भक्त- शक्ति को गुरु मान कर ही कई लोग गुरुपूर्णिमा पर दर्शन-पूजन के लिए चामुण्डा माता जी के मंदिर में आते हैं किन्तु एक बात की समझ नहीं आई। एक बार गुरु पूर्णिमा पर मैं ओंकारेश्वर चला गया। देखा तो वहां भी दर्शनार्थियों

की बहुत भीड़ थी। जब शक्ति ही वास्तव में गुरु है तो फिर शंकर जी के मंदिर में लोग क्यों जाते हैं ?

महाराज श्री- प्राय: मनुष्य बार-बार यही भूल कर जाता हैं कि शक्ति को शिव से भिन्न मान लेता है। शक्ति तथा शिव दो हैं ही कहां ? दोनों में आधार-आधेय का संबंध है। जहां आधार रहेगा वहीं आधेय भी होगा। मैं यह कहा ही करता हूं कि किसी देवता की उपासना उस की शक्ति की उपासना है। देवता शक्ति से युक्त होकर ही अपने उपासक की पूजा स्वीकार करते हैं। जिस देवता में शक्ति विद्यमान तथा कार्यशील न हो, वह प्रार्थना भी कैसे सुन सकता है ? कहीं सीधे शक्ति की पूजा होती है तो कहीं किसी देवता के माध्यम से शक्ति की पूजा। शक्ति ही गुरुतत्त्व है। वैसे देखा जाय तो सभी देवताओं में शक्ति की विद्यमानता के कारण किसी भी देवता को गुरु रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। ओंकारेश्वर में कई महात्माओं के आश्रम हैं। उन के शिष्य अपने-अपने गुरु महाराज के दर्शन-लाभ के लिए जाते हैं तो शंकर के मंदिर में भी पूजा के लिए चले जाते हैं। इस प्रकार मंदिरों में भी भीड़ हो जाती है जिस से तुम्हें वहां इतने दर्शनार्थी दिखाई दिए। जिस साधक की दृष्टि गुरुतत्त्व ईश्वर तत्त्व पर होती है उसे प्रत्येक् देवता में, अपने गुरु महाराज में तथा अपने स्वयं के अन्तर में भी,गुरुतत्त्व ही दिखाई देता है।

एक भक्त- हिन्दु दर्शन को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। आज कल तो इस विषय में कई प्रकार की भ्रान्तियां हैं। कई लोग तो यह भी कहते सुने जाते हैं कि हिन्दु लोग कई भगवानों को मानते हैं।

महाराज श्री- इस बात का उत्तरदायित्त्व स्वयं हिन्दुओं पर भी है। कई लोग वास्तव में ही कई भगवानों की भ्रान्ति से ग्रसित हो जाते हैं। भगवान तो एक ही है पर उस के रूप अनेक हैं किन्तु नासमझी में लोग अनावश्यक वादविवाद में उलझ जाते हैं तथा विधर्मियों को भी कटाक्ष करने का अवसर प्रदान कर देते हैं। सभी जीवों में आत्म-तत्त्व एक समान होते हुए भी सारा संसार पुलिंग तथा स्त्रीलिंग में बटा हुआ है। यह विभाजन केवल शारीरिक स्तर तक ही सीमित है, किन्तु देखने-समझने की दृष्टि भी उस के अनुसार ही विकसित हो गई है। ईश्वर में कोई लिंग-भेद नहीं है किन्तु देखने, समझने तथा विचार करने वालों में यह दृष्टि अवश्य विद्यमान है। जो ईश्वर को पुरुष दृष्टि से देखता है वह उसे चित् कहता है। जो स्त्री रूप में उस की कल्पना करता है वह उसे चिति कहता है। एक ही ईश्वर कहीं पुरुष रूप में, तो कहीं स्त्री रूप में है। यही तो ईश्वर का बहुरूपियापन है। जिस पर नासमझी से लोग कई भगवानों की बात जड़ देते हैं।

भगवान के कई रूप निश्चित करने में भक्तों की श्रद्धा तथा भावना भी एक

महत्वपूर्ण पक्ष है। अपनी भावना तथा मान्यता के अनुरूप ही, भगवान के स्वरूप के विषय में कोई कल्पना कर सकता है। भक्त अनेक हैं तथा उन की चित् स्थितियां भी भिन्न-भिन्न हैं। परिणामतः भगवान के अनेकों स्वरूप विकसित हो गए हैं, किन्तु भगवान एक ही है।

एक भक्त- महाराज श्री ! जब आप प्रथम बार यहां टेकड़ी पर आए थे तो आप को कैसा लगा ?

महाराजश्री-तब हम नए-नए देवास आए थे कुछ दिन तो अस्वस्थता रही। जब स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ तो एक दिन माता के दर्शन करने के लिए टेकड़ी की ओर निकल गए पर अभी आधा ही चढ़े थे कि एक महात्मा दिखाई दिए। सिर पर जटाजूट, नाभी तक लम्बी दाढ़ी, कौपीन धारन किए, एक हाथ में कमण्डल दूसरे में त्रिशूल। मैं ने ऊं नमो नारायणाय किया तो अभिवादन के उपरान्त पूछने लगे, "कहां जा रहे हो ? माता जी के दर्शन करने ?"

हमने कहां- वहीं जा रहा हूं।

महात्माजी- कोई संसारी कामना ले कर जा रहे हो या माताजी की कृपा प्राप्त करने ?

हम ने कहा- संन्यास ले लिया है तो संसारी कामनाएं पीछे छूट गई हैं। अब तो भगवती से कृपा की याचना है।

इतनी बात कर के हम आगे बढ़ गये। थोड़ी देर के पश्चात् पीछे मुड़ कर देखा तो महात्मा जी कहीं दिखाई नहीं दिए।

टेकड़ी के शिखर पर जब पहला मंदिर आया तो बाहर चबूतरे पर एक महिला को बैठे पाया। ज़ेवरों से लदी हुई, मुख पर अलौकिक तेज। हम पास से निकले तो महिला ने कहां, "यदि भगवती के दर्शन करने जा रहे हो तो शुद्ध मन से जाओ। संसार की वासनाएं मन को दूषित कर देती हैं।" हम बोले तो कुछ नहीं। केवल सिर झुकाकर एवं दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम किया तथा मंदिर की ओर आगे बढ़ गए।

मंदिर में जा कर हम आश्चर्य चकित रह गए। अभी जिस महिला को बाहर बैठे देखा था उस की आकृति ठीक इस प्रतिमा की आकृति से मिलती थी। हम उस महिला के दर्शन पाने को लालायित को कर बाहर भागे किन्तु महिलां वहां नहीं थीं। हम मंदिर में वापिस आए तथा भगवती की प्रतिमा के सामने बैठ कर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। काफी देर तक वहां अश्रुपूरित नेत्र लिए बैठे रहे।

वहां से चल कर हम दूसरे मंदिर की ओर बढ़े। अब की बार मंदिर से कुछ दूर एक महिला पत्थर पर बैठी थी एवं निरन्तर हमारी ओर देखे जा रही थी। हम ने

इस बात की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया किन्तु मंदिर में जाने पर देखा कि इस मंदिर की प्रतिमा की आकृति भी उस महिला से पूरी तरह मेल खाती थी। हम तीव्र गति से बाहर भागे किन्तु वह महिला भी अदृश्य हो चुकी थी। मैं वहीं रास्ते पर बैठ कर रोने लगा। रोने की आवाज़ सुन कर पुजारी मंदिर से बाहर निकल आया। मुझ से रोने का कारण बहुत पूछा किन्तु हम क्या बताते। मंदिर में दर्शन कर के हम आगे बढ़ गए।

जब चामुंडा माता जी का मंदिर आया तो हम बड़े ध्यान से चारों ओर देख रहे थे। सहसा मुझे गुफा के ऊपर एक महिला बैठी दिखाई दे गई। ऊपर चढ़ने का कोई मार्ग था नहीं। मैं ने वहीं से प्रणाम किया जिस का उत्तर उस ने हाथ उठा कर आर्शीवाद के रूप में दिया। उस के पश्चात् वह महिला अदृश्य हो गई।

देवास में हम जहां ठहरे थे, वहां रात को छत पर हम अकेले सोया करते थे। उस रात मैं इन्हीं विचारों में खोया हुआ था। सर्वप्रथम जो त्रिशूलधारी महात्मा मिले थे, क्या वह शंकर थे ? क्या भगवती ने कई महिलाओं के रूप में हमें दर्शन दिए ? फिर हम से बात क्यों नहीं की ? इतने में क्या देखता हूं कि चामुण्डा जी मेरे सामने प्रकट हो गई। हम लेटे हुए थे तो उठ कर बैठ गए तथा प्रणाम किया। इतने में चामुण्डा भगवती के कई रूप उन के आस-पास प्रकट हो गए। हम विस्मित हुए अभी देख ही रहे थे कि माता जी के दोनों ओर राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान तथा दत्तात्रेय की आकृतियां प्रकट हो गईं। हम उठ कर खड़े हो गए तथा सभी देवी-देवताओं को साष्टांग प्रणाम किया। हमारे देखते ही देखते सभी आकृतियां चामुण्डा जी में विलीन हो गईं। केवल चामुण्डा जी रह गईं।

भगवती- इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह सभी मेरे ही विभिन्न स्वरूप हैं। मेरा ही सारा विस्तार है। मेरी ही क्रिया है। तुम जगत में जो कुछ देखते हो, सब मुझ से ही प्रकट होता है तथा मुझ में समा जाता है। हिमखण्ड भी मेरा ही स्वरूप है तथा आकाश भी। पशु-पक्षी, देवी-देवता, संसारी-विरक्त, गुरु-चेला, मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं। तुम्हारा कल्याण हो।

इतना कह कर भगवती अदृश्य हो गई।

महाराज श्री की बातें सुन कर सब मौन धारण किए थे। बातें करते तथा विभिन्न मंदिरों के सामने खड़े हो कर प्रणाम करते हुए हम चामुण्डा माताजी के मंदिर के सामने पहुंच गए थे। महाराजश्री ने हाथ की छड़ी एक दीवार से टिका दी, चप्पल उतार दी, दोनों हाथ जोड़ कर तथा सिर झुका कर प्रणाम किया। फिर एक पत्थर पर बैठ कर मंदिर का इतिहास सुनाने लगे।

"परम-भक्त तथा महायोगी भर्तृहरि का नाम तो आप लोगों ने सुन ही

रखा होगा। आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी से पहले उज्जैन के महाराजा भर्तृहरि थे जिन के नीति शतक्, श्रृगांर शतक्, वैराग्य शतक् ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। वह अत्यन्त विद्वान तथा नीति-निपुण राजा थे। महाराजा विक्रमादित्य उन के छोटे भाई थे। महाराजा भर्तृहरि राजकाज का उत्तरदायित्व विक्रमादित्य के कंधों पर डाल कर, कुछ विलासी हो गए थे। अपना अधिकांश समय अपनी रानी पिंगला के साथ ही व्यतीत करते थे। रंगारंग की महफिल जमी रहती। चौसर के पांसे फैके जाते। कविगण अपनी काव्यकला का प्रदर्शन करते रहते। सहसा राजा को ज्ञात हुआ कि अपनी रानी पिंगला जिस को वह प्राणों से भी अधिक प्रिय मानते हैं तथा जिस के प्रेमपाश में बंध कर वह राज्य के उत्तरदायित्वों से भी विमुख हो गए हैं वही रानी अन्य किसी पर-पुरुष के प्रेम में उलझी है। उन के मन को इस से बड़ा आघात लगा तथा जगत के प्रति मन में वैराग्य जाग्रत हो गया। उन्हें इस बात का क्रियात्मिक अनुभव हो गया कि जगत में किसी का कोई नहीं। सब का अपना स्वार्थ है। राज-काज विक्रमादित्य को सौंप कर तथा नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर, संन्यासी हो गए। उन्हें इस बात का निश्चित ज्ञान हो गया कि विषयभोग में रोगी हो जाने का भय है। यदि शरीर में आसक्ति हो तो मृत्यु का भय है। शास्त्रीय पाण्डित्य में वाद-विवाद हो जाने पर पराजय का भय है। केवल वैराग्य ही एक ऐसा पदार्थ है जो सर्वभय विहीन है। फिर क्यों न वैराग्य का आश्रय लिया जाए। अत: नाथ सम्प्रदाय में महायोगी गोरखनाथ से दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्हों ने पहले तो भारतभर का देशाटन किया। प्राय: आप का निवास वन-स्थलियों के एकान्त वातावरण में ही हुआ करता था। फिर घूमते हुए वहां आ पहुंचे जहां इस समय देवास नगर बसा है। यहां की माताजी की टेकड़ी उस समय घने जंगल में स्थित थी जिस में भांति-भांति के हिंसक पशु विहार करते थे, जिस के कारण लोग डर के मारे उधर कम ही जाते थे। डाकुओं-लुटेरों के भय से भी लोग त्रस्त थे। एकान्त प्रेमियों को ऐसे स्थान ही अच्छे लगते हैं। उन के समीप ऐसी जगह साधना के लिए आदर्श-रूप हैं।

एक दिन भर्तृहरि आध्यात्मिक नशे में छके हुए घूमते-भटकते चामुण्डा माताजी की टेकड़ी के पास तक आ पंहुचे। उस समय टेकड़ी के ऊपर जाने के लिए कोई सड़क नहीं थी। यहां तक कि पगडंडी का भी कोई मार्ग नहीं था। लोगों का इधर आना-जाना हो तो कोई मार्ग भी बने। टेकड़ी ऐसे लग रही थी जैसे कोई हरे रंग की चादर ओढ़ कर बैठा हो। भर्तृहरि को टेकड़ी के नीचे पानी का एक झरना दिखाई दिया। उन्हों ने प्यास बुझाई तथा एक वृक्ष के नीचे बैठ गए।

इतने में भर्तृहरि की नज़र एक वृक्ष के नीचे खड़े एक बड़े मोटे बंदर पर पड़ी जो उन्हीं की ओर देख रहा था। पता नहीं कौन से आकर्षण से खिचे भर्तृहरि भी उस बंदर की ओर देखने लगे। काफी देर तक दोनों मंत्रमुग्ध बने, एक दूसरे की ओर

देखते रहे। जब बंदर वहां से चला तो न जाने किस शक्ति ने भर्तृहरि को भी उस बंदर के पीछे-पीछे जाने पर विवश कर दिया। ऊपर जाने का कोई मार्ग तो था नहीं। बंदर तो वृक्षों की शाखाओं पर छलांगे लगाता हुआ ऊपर चढ़ता चला गया किन्तु भर्तृहरि को ऊपर जाने में काफी कठिनाई आ रही थी। बंदर थोड़ा चढ़ कर ठहर जाता तथा भर्तृहरि की प्रतीक्षा करता। भर्तृहरि वृक्षों को पकड़-पकड़ कर चढ़ते हुए पसीना-पसीना हो गए। चोटी पर पहुंच कर, बंदर भर्तृहरि को एक गुफा में ले गया जहां शिला पर चामुण्डा की एक प्रतिमा उभरी थी। भर्तृहरि को वहीं छोड़ कर बंदर अदृश्य हो गया।

भर्तृहरि नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से शक्ति के उपासक तो थे ही, टेकड़ी की चोटी पर पहुंच कर उन्हें अपार शान्ति का अनुभव हुआ। उन्हें शक्ति की सूक्ष्म तरंगे शरीर में प्रवेश करती सी लग रही थीं। मन में अलौकिक आनन्द की प्रतीति होने लगी। अन्तरानुभूतियां आरंभ हो गईं। जैसे कोई बालक माता की गोद में आ कर आनन्द अनुभव करता है।

शाम का समय होने को आ गया था। टेकड़ी एकदम सुनसान थी। हवा के कारण वृक्षों के पत्ते हिलने के अतिरिक्त कोई आवाज़ नहीं थी। हां, बीच-बीच में जंगली जानवरों की आवाजे वातावरण में अवश्य गुंजरित हो जाती थीं। भर्तृहरि को भूख भी लग आई थी किन्तु उन का यहां से जाने का मन नहीं हो रहा था। फिर यह बात भी थी कि जाना भीं कहां था? दूर-दूर तक आस-पास कोई गांव नहीं था। उन्हें ने रात भूखे-प्यासे गुफा में ही व्यतीत की। सारी रात साधन में ही बैठे रहे। इस दिन उन का साधन में ऐसा मन तल्लीन हुआ कि भूख-प्यास की ओर ध्यान ही नहीं गया।

प्रातःकाल हुआ तो भर्तृहरि गुफा से बाहर निकले। थोड़ी ही दूरी पर उन्हें पानी का एक चश्मा दिखाई दे गया। नित्यकर्म से निवृत्त हो कर उन्होंने स्नान किया। देखा तो वृक्षों पर भांति-भांति के फल लटक रहे थे। उन्होंने पेट की आग बुझाई। साधकों को तीन बातों की आवश्यकता होती है, -जंगल अर्थात् एकान्त, जल तथा आहार। भर्तृहरि को यह तीनों प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो गए थे, अतः यह स्थान उन के मन को भा गया। वह पुनः गुफा में लौट कर साधन में बैठने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि अधर में से एक महात्मा प्रकट हो गए तथा बोले, "तुम कौन हो तथा यहाँ क्या कर रहे हो।" भर्तृहरि ने प्रणाम करने के पश्चात् पहले तो अपना परिचय दिया फिर कहा, "मुझे नहीं पता कि मैं यहां कैसे आ गया। यहां बहुत अच्छा लग रहा है। मन होता है कि यहीं रह कर ध्यान-भजन करूं।

महापुरुष- मैं रात को भी यहां आया था। उस समय तुम अपने ध्यान में

थे। मैं ने ध्यान में विघ्न डालना उचित नहीं समझा अतः माताजी के दर्शन कर वापिस चला गया। तुम्हारा यहां रह कर भजन करने का विचार बड़ा शुभ है। पानी की भगवान ने व्यवस्था कर रखी है। वृक्षों पर जंगली फल लदे हैं। हिंसक पशु नीचे ही रहते हैं, टेकड़ी पर नहीं आते, इस लिए तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं। यहां केवल बंदरों का आना-जाना है या सांप हैं। सांपों से यदि तुम नहीं डरोगे तो वह तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे। सब से बढ़ कर माता जी की चेतन उपस्थिति यहां उपलब्ध है।

भर्तृहरि- मैं आप का बहुत आभारी हूं कि आपने दर्शन दिए तथा मेरा उत्साह बढ़ाया। क्या मैं आप का परिचय जान सकता हूं?

महापुरुष- हम सामने की पहाड़ियों में अदृश्य रूप से निवास करते हुए साधन करते हैं। यहां माताजी के दर्शन करने आते रहते हैं।

भर्तृहरि- क्या आप की तरह के और भी कुछ महापुरुष हैं ?

महाराज- हां, हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो न जाने कब से निरन्तर समाधि में ही बैठे हैं।

इतनी बात कह कर महापुरुष पुनः अधर में अदृश्य हो गए।

मैं ने महाराज श्री को याद दिलाया कि आज गुरुपूर्णिमा है। आश्रम पर लोग आप की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

इस पर महाराजश्री ने कहा, " इस समय बस इतना ही। बाकी बात फिर करेंगे। आज तो आश्रम पर बहुत काम है।"

महाराजश्री ने चप्पल पहनी, छड़ी उठाई तथा तेज़ी से आश्रम की ओर टेकड़ी से उतरने लगे।

भर्तृहरि की साधना

महाराजश्री गुरुपूर्णिमा पर बहुत व्यस्त रहे। गुरुपूर्णिमा के पश्चात् भी तीन-चार दिन तक कई लोग आश्रम पर ठहरे रहे। प्रातः काल भ्रमण के समय भी कई लोग साथ हो जाते थे जिस से इधर-उधर की चर्चा अधिक चलती रहती थी। जब सब लोग चले गए तो पुनः टेकड़ी का साधन-शिखर विषयक विषय चलने लगा। उस दिन महाराजश्री के साथ मेरे अतिरिक्त केवल दो लोग ही और थे। माताजी के मंदिर पहुंच कर पहले महाराज श्री ने प्रणाम किया, फिर एक पत्थर पर बैठ गए तथा कहने लगे :-

महाराजश्री- और तो कोई रहने का स्थान था ही नहीं, गुफा के बाहर भी एक दम ढलवान थी, सभी जंगल था, इस लिए भर्तृहरि माताजी की गुफा में ही

रहने लगे। गुफा बहुत छोटी थी किन्तु भर्तृहरि के पास कोई सामान नहीं था। रात को अधिकांश समय साधन करते, नींद आ जाती तो सरहाने एक पत्थर रख कर सो जाते थे। उन का सारा सामान शरीर पर केवल एक कौपीन (लंगोटी) थी। उन्हें माताजी का सानिध्य तथा अदृश्य महापुरुषों के दर्शन का लाभ प्राप्त हो रहा था। प्रथम दिवस जो महापुरुष आए थे उस के अतिरिक्त भी उन को कई अदृश्य महापुरुषों के दर्शन का सौभाग्य मिला। मालवा क्षेत्र अदृश्य महापुरुषों का निवास-स्थान तो है ही। चामुण्डा माताजी का मंदिर उन महापुरुषों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र है। भर्तृहरि के आस-पास छोटे-बड़े, कई रंगों के सांप घूमा करते थे किन्तु वे उन से कभी भी भयभीत नहीं हुए। उन्हें सांपों में भी माताजी के ही दर्शन होते थे। बंदरों के साथ तो उन की मित्रता ही हो गई थी। पहले दिन भर्तृहरि को जो मोटा बंदर मिला था, वह रात को भी उन के साथ ही रहने लगा था। उसे भर्तृहरि माताजी के लिए उसी रूप में देखते थे जैसे राम जी के लिए हनुमान जी थे।

एक दिन भर्तृहरि साधन में बैठे थे। अन्तर्नाद पर उन की एकाग्रता बनी थी। अपने तन की उस समय उन को कोई सुध नहीं थी कि एक मोटा सांप आ कर उन के गले से लिपट गया। जब उन का ध्यान भंग हुआ तो उन्हों ने सांप को गले से लिपटे देखा। भर्तृहरि प्रसन्न होकर भावावेश में नाचने लगे तथा चिल्लाने लगे, "मां ने मुझे गले लगा लिया, मां ने मुझे गले लगा लिया।" उस समय वह एकदम छोटे बालक के तरह हो गए थे। सांप गले में लिपटा था और वे नाच रहे थे।

अदृश्य महापुरुषों के दर्शन उन्हें होते ही रहते थे। एक दिन एक महापुरुष प्रकट हुए तो उन्हों ने निवेदन किया, "महाराज! मैं गंदगी में धंसा हुआ जीव हूं। संसार के सभी अवगुण मुझ में हैं। ईश्वर से जैसी लौ लगनी चाहिए उस का मुझ में अभाव है। क्या मैं भी कभी आप के जैसा बन पाऊंगा ?"

महापुरुष- भर्तृहरि ! चिन्ता मत करो। इतने ऊंचे साधक हो कर भी तुम्हें अपने दोषों का आभास तथा दुख है, यह एक साधक के लिए बड़ा शुभ लक्षण है। तुम्हारे साधन का भविष्य बड़ा उज्जवल है। तुम अवश्य ही एक दिन भगवान के प्रिय भक्त, योगी तथा ज्ञानी बनोगे। भगवती की अन्तर्जाग्रति के रूप में तुम्हें कृपा प्राप्त है ही। भगवती के चरण पकड़े रहो। वही नाव है, वही खेवनहार है। चिन्ता के स्थान पर भगवती के समर्पण में मन को लगाओ। तुम्हारा वैराग्य परिपक्व हो चुका है आगे का कार्य सरल है।

भर्तृहरि- अभी तो ऐसा लगता है कि मन में सब कालिमा भरी है। प्रकाश की एक किरण भी नहीं ।

महापुरुष- जिस प्रकार बादल की एक टुकड़ी आ कर सूर्य को ढक लेती है

उसी प्रकार तुम्हारे प्रारब्ध ने तुम्हारी वास्तविक स्थिति को ढक रखा है। थोड़ा धैर्य रखो सब उजाला हो जायगा।

इतना कह कर महापुरुष अदृश्य हो गए।

महाराजश्री थोड़ी देर के लिए मौन हो गए। इस पर एक भक्त ने प्रश्न किया, "आप कहा करते हैं कि कारण अथवा श्मशान वैराग्य कोई वैराग्य नहीं। जहां कारण समाप्त हुआ कि वैराग्य शिथिल हो जाता है तो भर्तृहरि के वैराग्य का संबंध भी किसी कारण से ही है ! उसे कौन सा वैराग्य कहना उचित होगा ?"

महाराजश्री- भर्तृहरि के वैराग्य को कारण-वैराग्य कहना उचित नहीं। वे पूर्व जन्मों से ही पूर्ण वैराग्यवान् थे जिसे उन के चित्त के दबे संस्कारों ने उदय हो कर ढक लिया था। पिंगला की घटना ने उन के अन्तर् के प्रसुप्त वैराग्य को जगा दिया था। इसी लिए वैराग्य के जाग्रत होते ही उपरामता की सीढ़ियां तीव्रता से चढ़ते गए।

भर्तृहरि को साधन के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था। न कोई मिलने के लिए आने वाला था तथा न ही उन्हें किसी को मिलने के लिए जाना था। न कोई खेती-बाड़ी थी, न ही कोई व्यापार। राज-काज वह पहले ही त्याग चुके थे। यदि कभी कोई महापुरुष प्रकट हो जाता था, तो थोड़ा सतसंग हो जाता था, अन्यथा उन के साथी केवल बंदर या सांप ही थे। धीरे-धीरे सांप भी जैसे उन के मित्र हो गए थे। किन्तु जैसा क़ि आप को पता है कि पूर्व अनुभवों की स्मृतियां इतनी शीघ्र पीछा नहीं छोड़तीं। साधक के लाख प्रयत्न करने पर भी वह विचारों तथा अन्य अनुभूतियों के रूप में चित्त में प्रकट होती ही रहती हैं। भर्तृहरि को अपनी पत्नी के विश्वासघात का स्मरण हो आता तो वे क्रोध से तमतमा उठते थे। कभी अपने भाई का विचार आ जाता तो प्रेम तथा वात्सल्य से हृदय भर उठता था। कई बार राजकाज में आने वाली विभिन्न अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं के अन्तर् में कई प्रकार के भाव उदय हो जाते थे। इस प्रकार उन का मन कई रूपों, रंगों, स्वरूपों तथा अवस्थाओं में तरंगित होता रहता था।

धीरे-धीरे उन्हें यह बात स्पष्ट होती चली गई कि यह विचार किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भेजे हुए नहीं हैं अपितु अपने पूर्वकृत कर्मों तथा अनुभवों की स्मृतियों का प्रतिफल है। इन स्मृतियों की तरंगों को चित्त से हटाना आवश्यक है अन्यथा मन की निर्मलता कैसे सम्पादित होगी ? वे भावावेश में पुकार उठते, "हे मां ! तेरी कैसी असीम कृपा है जो इन स्मृतियों को मन से बाहर निकाल रही है। अन्यथा जीव

अपने मन से पूर्व स्मृतियों को निकाल पाने में पूर्णतया असमर्थ है। हे मां ! तुम्हारी कृपा के बिना मन निर्मल नहीं हो सकता।"

तब वह विचारों, भावों एवं ऐसी ही आन्तरिक अन्य तरंगों को निमंत्रित करने लगते ताकि वह उदय हो कर क्षीण हो जाएं, किन्तु उन के सचेत होते ही विचार-प्रवाह एकदम ठहर जाता था। तब उन्हें चिन्ता सताने लगती कि उन की मन-निर्मलता का प्रवाह रुक गया है। उन्हों ने सोचा कि विचारों के उदय होने या उदय न होने, अथवा उदय होने के लिए निमंत्रित करने के मार्ग का त्याग कर, शक्ति की क्रियाशीलता के प्रति नतमस्तक हो जाने का मार्ग क्यों न अपनाया जाए ? जीव अपने बारे में क्या जानता है ? उसे तो यह भी नहीं पता कि अगले क्षण क्या होने वाला है ? आत्म-निवेदन ही साधन है आत्म-निवेदन ही भक्ति है। आत्म- निवेदन ही तपस्या है।

भर्तृहरि दिन प्रति दिन आत्म-केन्द्रित होते जा रहे थे। जगत के प्रति उदासीनता का भाव बढ़ता जा रहा था। बंदरों तथा सांपो के प्रति लक्ष्य में भी कमी आ रही थी। पता नहीं किन संस्कारों के कारण उन में विलासिता का भाव जाग उठा था तथा वह अपनी पत्नी के प्रति अत्याधिक आकर्षित हो गए थे। देखने में उन के वैराग्य का कारण उन की चित्त-स्थिति का बदलाव था। दबे हुए संस्कार उभरते ही वह वैराग्यवान हो कर साधनरत् हो गए थे। भगवती की कृपा ही उन्हें खेंच कर माता जी की टेकड़ी पर ले आई थी, जहां भगवती के आर्शीवाद के अतिरिक्त उन्हें अदृश्य महापुरुषों का वरद्हस्त भी प्राप्त हो गया। भर्तृहरि एक झटके में अध्यात्म की कठिन चढ़ाई चढ़ते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे। इतना तीव्र संवेग, ऐसी उत्कट लगन तथा साधन की ऐसी अखण्ड निरन्तरता बहुत कम साधकों में मिलती है। हर समय भाव-विभोर, हर समय साधन में डूबे हुए।

नाथ सम्प्रदाय केवल शक्ति का ही नहीं, शिव सहित शक्ति का उपासक है अर्थात् उन की शक्ति शिव की शक्ति है। शक्ति जो भी रूप धारण करती है अथवा क्रिया करती है, शिव उस के आधार-रूप में सदैव उस के साथ रहता है। शिव रूपी आधार में कोई भी स्पंदन या आंदोलन नहीं होता, उस की शक्ति में होता है। शक्ति ही कभी अधो-क्रम में (प्रसवक्रम या व्युत्थान)तो कभी उर्ध्वक्रम में (प्रति प्रसवक्रम या उत्थान)गतिशील होती है। इस बात का अनुभव आध्यात्मिक महापुरुषों ने ध्यान की अवस्था में प्राप्त किया। भर्तृहरि उत्कृष्ट साधक थे। शिव-शक्ति पर उन की अगाध श्रद्धा थी। अतः उन्हों ने अपने-आप को भगवती के प्रति पूरी तरह समर्पित कर दिया। अनुपम क्रियाशीलता का अनुभव करते हुए दिव्य भावावेश में लीन रहने लगे।

टेकड़ी के आस- पास कुछ दूरी पर, फैले हुए कुछ गांव थे। कई लोगों को टेकड़ी पर भगवती के प्रत्यक्ष होने की जानकारी तो थी, किन्तु जंगल में हिंसक पशुओं का भय तथा टेकड़ी पर चढ़ने के मार्ग के अभाव में कभी-कभार ही कोई इधर आता था। जब से भर्तृहरि यहां आ कर रहने लगे थे तब से एक व्यक्ति भी इधर नहीं आया था। एक बार कुछ श्रद्धालु भक्तों ने चामुण्डा माता जी के दर्शन करने की ठानी तथा किसी प्रकार माताजी की गुफा तक पहुंच गए। देखा तो एक व्यक्ति पहले से ही वहां उपस्थित था

गांव वाले- आप कौन है ?

भर्तृहरि - मैं यहीं रहता हूं।

यह सुन कर सभी गांव वाले अवाक् रह गए। इस घोर वन में अकेले ! बोले, "आप कब से यहां रह रहे हैं ?"

भर्तृहरि- कुछ महीनों से।

गांव वाले- आप को यहां अकेले डर नहीं लगता ?

भर्तृहरि- अकेला कहां हूं ? भगवती जो साथ है (फिर थोड़ी देर रुक कर) डर उस को लगता है जिस का लक्ष्य हिंसक पशुओं से भरे इस जंगल की ओर होता है। जिस का ध्यान माता जी के चरणों की ओर केन्द्रित रहे, उसे कैसा भय ?

गांव वाले- आप कहां से आए हैं ?

तब भर्तृहरि को अपना परिचय देना पड़ा। जब गांव वालों को यह पता चला कि यह उन के पूर्व महाराज तथा उज्जैन के वर्तमान महाराजा विक्रमादित्य के बड़े भ्राता भर्तृहरि हैं तो वह दंग रह गए, तथा भर्तृहरि के पांव पर गिर पड़े। बोले, "क्षमा करें महाराज, आप के शरीर पर केवल कौपीन तथा आप के बढ़े हुए बालों के कारण आप को पहचान पाने में भूल हो गई। आप का वैराग्य तथा त्याग धन्य है। चामुण्डा माताजी के प्रति आप की श्रद्धा धन्य है। हम तो आप की प्रजा हैं।

भर्तृहरि - कौन राजा ? और कौन प्रजा ? यह सब संसार की कल्पनाएं हैं। संसार का एक ही राजा है ईश्वर, हम सब उसी की,प्रजा हैं। किन्तु उस एक राजा को भूल कर संसार अन्य तथाकथित राजाओं की चापलूसी करता फिरता है। यदि जीव संसार के राजा की शरण ग्रहण करे तो उस का बेड़ा पार हो जाय।

गांव वाले- महाराज ! हम तो साधरण जन नासमझ हैं। ज्ञान की बातों को क्या जानें ? आप तो हमें आज्ञा करें कि आप की क्या सेवा करें ? कुछ सीदा आप को पहुंच दिया करें। आप के पास कुछ ओढ़ना-बिछौना भी दिखाई नहीं दे रहा।

भर्तृहरि- यदि आप वास्तव में ही मेरी सेवा करना चाहते हैं तो भगवान का भजन करो। इस से बड़ी कोई सेवा नहीं । मैं यहां बड़े आनन्द में हूं। पेट भरने

के लिए जंगली फल उपलब्ध हैं, जल है, सोने के लिए धरती है। और क्या चाहिए ? अब आप लोग जाइए, दिन का उजाला रहते घरो को वापिस पहुंच जाना चाहिए।

जब गांव वाले चले गए तो भर्तृहरि भाग कर गुफा में माताजी के सामने जा बैठे। बोले, "तुम्हारी कैसी लीला है ? इन गांव वालों में मुझे तुम्हारा ही स्वरूप दिखाई दे रहा था। वह बात करते थे तो ऐसा आभास होता था कि तुम बोल रही हो। वास्तव में ही क्या संसार में अन्य कोई नहीं है ? जहां देखो, तुम्हारा ही विस्तार दिखाई देता है। तुम्हीं हंसती हो, तुम्हीं रोती हो, तुम्हीं लड़ती हो, तुम्ही प्रेम करती हो। मैं भी क्या तेरा ही स्वरूप हूं ? फिर मुझे ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता ?"

तभी न जाने कौन भर्तृहरि के अन्तर से बोल उठा। संभवत: माताजी की क्रियाशीलता ही इस रूप में प्रकट हुई थी, "भर्तृहरि ! तुम्हारे अन्तर् के मोह तथा अभिमान ने ही, तुम्हारे अन्तर् के मेरे स्वरूप को ढांक रखा है अन्यथा तुम्हारी सांसे, तुम्हारा रुधिर-प्रवाह, हृदय की धड़कन, बोलना-चलना-देखना, सब मेरी शक्ति की ही क्रियाएं हैं। तुम्हारा व्यक्तित्व मेरे ही कारण है। जब तक तुम्हारा मोह तथा अभिमान बना रहेगा, मैं इसी प्रकार ढकी रहूंगी"

भर्तृहरि- मैं कुछ नहीं जानता कि मोह क्या है ? तथा अभिमान क्या है। मुझे यही पता है कि सब तुम्हारी लीला है। तुम चाहो तो पल भर में सारा अंधकार दूर हो जाए। मेरा पुरुषार्थ तो थक गया है। अब तुम्हारी शरण के सिवाय अन्य मार्ग नहीं। हे मां। रक्षा करो।

तभी फिर अन्तर् से आवाज़ आई, "समय आने पर सब ठीक होगा। मेरी शरण पकड़े रहो। अपने सारे गुण- अवगुण मुझे अर्पण कर दो। मैं ही काली हूं, तीनों गुणों का भक्षण करके तृप्त होती हूं"

भर्तृहरि कुछ देर उसी प्रकार बैठे रहे, फिर भावावेश में ही उठ कर गुफा से बाहर आ गए। उन की दृष्टि चारों ओर फैले वृक्षों पर पड़ी। दूर-दूर तक, जहां तक दृष्टि जाती थी, वृक्ष ही वृक्ष थे। कुछ छोटे बालकों के समान, कुछ युवाओं की तरह तने हुए, तो कुछ वृद्धों की तरह थोड़े झुके हुए। भर्तृहरि सोचने लगे, "मनुष्यों की भांति वृक्षों में भी कितना परिवर्तन होता रहता है। यह फलते हैं, फूलते हैं, बढ़ते हैं, फिर मुरझा जाते हैं। प्रत्येक् वृक्ष मरने से पहले अपने जैसे अनेकों वृक्ष पैदा कर जाता है। इन का आवागमन क्रम भी मनुष्यों की भांति गतिशील बना रहता है। यह सब शक्ति की ही लीला है क्योंकि शक्ति के संयोग के बिना कोई परिवर्तन, कोई परिणाम अथवा कोई क्रिया संभव नहीं। तभी भर्तृहरि का लक्ष्य अपने अन्तर की ओर चला गया। उसे रुधिर प्रवाहित होता, हृदय धक्-धक् करता तथा श्वास-प्रश्वास की

गतिशीलता अनुभव होने लगी। उसे संस्कार उदय होकर वासना का रूप ग्रहण करते प्रतीत होने लगे। उस ने सोचा कि यही तो भगवती है जो मेरे अन्तर् में क्रियाशील है।

भर्तृहरि का दृष्टिकोण बदल चुका था। यह सारी बातें वह पुस्तकों में पढ़ते रहे थे, किन्तु अब उन बातों का क्रियात्मक अनुभव हो रहा था। अब तक वह बौद्धिक-ज्ञान से ही संतुष्ट चले आ रहे थे, किन्तु अब वह विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे। उन्हें अपने अन्तर् का ढ़ांचा, तथा उस में घटित होने वाली क्रियाशीलता प्रत्यक्ष अनुभव हो रही थी। यही तो भगवती की लीला है।

वह सोचते कि अन्तर् के ढांचे के संचालन में मेरा कोई हाथ नहीं, जब कि बाहर के सभी कर्म मैं आन्तरिक ढांचे के आधार पर ही करता हूं। इस का अर्थ यह है कि बाहर के सभी कर्म भी आन्तरिक शक्ति ही करती है। वे अब तक कैसी भ्रान्ति में पड़े थे। कुछ नहीं करने वाला हो कर भी, सर्व कर्ता होने के मिथ्या अभिमान में भटकता फिर रहा था।

भर्तृहरि को अपनी मूखर्ता पर हंसी के साथ, अपने आप पर दया भी आने लगी थीं, "सारे जीव ही कर्ता की भ्रान्ति से ग्रसित हैं। यदि अन्तर् में झांक कर एक बार भी देख लें तो कर्तापन की सारी अकड़ टूट कर बिखर जाय। किन्तु जीव भी ऐसा ढीठ है कि अन्तर् में झांक कर देखना ही नहीं चाहता। या ऐसा समझो कि अन्तर् में झांकने से डरता है। वह अपने कर्तापन के अभिमान को खोना नहीं चाहता। उसे इस मिथ्या भ्रान्ति में पड़े रहने में सुख मिलता है। वाह रे जीव ! तू भी कैसा मूर्ख बना जगत में घूमता-भटकता फिर रहा है।

यह तो ज्ञात नहीं कि भर्तृहरि कितना समय यहां साधन-रत् रहे किन्तु उन्हों ने माताजी के चरणों के सानिध्य का आनन्द खूब लूटा। उन के लिए यह टेकड़ी साधन-शिखर सिद्ध हुई। यहां साधन भी करते रहे तथा आध्यात्मिकता की चढ़ाइयां भी चढ़ते रहे। साधन-शिखर पर साधन करते हुए उन्हें अन्तर का साधन-शिखर दिखाई देने लगा था। कई लोगों की ऐसी भी मान्यता है कि वैराग्य-शतक् काव्य ग्रन्थ की रचना भर्तृहरि ने माताजी की टेकड़ी के अपने निवास-काल में ही की।

भर्तृहरि के माताजी की टेकड़ी पर साधनरत् होने का समाचार तीव्रगति से आस-पास के गांव में फैल गया। एक-दो व्यक्ति तो इधर आते हुए डरते थे किन्तु कई बार लोग समूह बना कर आने लगे। लोगों ने ही रास्ते के झांड़-झंकार काट कर टेकड़ी पर चढ़ने का पगडंडी का मार्ग बना लिया। किन्तु लोग कभी-कभार ही आते थे इस लिए भर्तृहरि के एकान्त-सेवन में कई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। अभी तक भी

टेकड़ी वृक्षों के गहन वन में अकेली ही सिर उठाये खड़ी थी।

इस पर एक भक्त ने प्रश्न किया, "प्राय: ऐसा देखा गया है कि अधिकांश लोग सकाम भावनाएं ले कर ही भगवती चामुण्डा के दरबार में आते हैं। इस के विपरीत यहां रहते हुए भर्तृहरि ने वैराग्य शतक् लिखा जो कि पूर्णतया वासनाओं से हटने की प्रेरणा देता है। तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवती की सकाम भक्ति फलदायनी है अथवा वैराग्ययुक्त। सकाम उपासना में कल्याण है अथवा समर्पणयुक्त साधना में।

महाराजश्री- जैसी भक्त की भावना होती है उसी के अनुरूप उस की भक्ति का स्वरूप प्रकट होता है तथा वैसा ही उस को फल प्राप्त होता है। जो साधक भगवती के चरणों का प्रेम प्राप्त करने के लिए साधन-भजन करते हैं, उन के मनोविकारों तथा वासनाओं को निर्मूल कर के, चामुण्डा माता उन के मन में अपने प्रति अगाध प्रेम भर देती है। वह हर समय प्रेम में ही छके रहते हैं। जगत का कोई भी आकर्षण उन्हें प्रभावित नहीं करता। किन्तु जो साधक संसार की कामनाओं की पूर्ति के लिए माता की शरण में जाते हैं तथा भजन-कीर्तन करते हैं, उन की जागतिक इच्छाएं पूर्ण होती हैं। किन्तु वास्तविक भक्ति माताजी के प्रेम में निहित है। शक्ति माता के समान जन्म देने वाली, पिता के समान पालन करने वाली, स्वामी के समान रक्षा करने वाली, मित्र के समान सुहृद तथा गुरु के समान ज्ञान देने वाली है। उस का आश्रय ग्रहण करना ही भक्ति है।

भर्तृहरि ने वैराग्याभिभूत हो कर चामुण्डा माता की शरण ग्रहण की थी, इस लिए सांसारिक कामनाओं का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अत: उन्हें माताजी के चरणों के प्रति प्रेम प्राप्त हुआ तथा यहां रहकर वह वैराग्य-शतक् लिखने में समर्थ हुए। निरन्तर साधन कर पाने में सक्षम हुए तथा भगवती की कृपा के पात्र बने। सांसारिक वासनाओं का त्याग हो कर, अन्तर् में मां के चरणों की प्रेम-पूर्ण स्थापना हुई।

एक भक्त- यदि भर्तृहरि ने यहां पर तपस्या की तो महाराजा विक्रमादित्य भी अपने बड़े भाई से मिलने के लिए यहां अवश्य कभी आते रहते हों गे।

महाराजश्री- अवश्य आते थे। भर्तृहरि के टेकड़ी पर होने की बात फैलते-फैलते महाराजा विक्रमादित्य तक भी पहुंच गई थी। कहा तो यह भी जाता है कि माताजी के मंदिर के सामने जो दीप स्तंभ बना है वह महाराजा विक्रमादित्य ने ही बनवाया था। जो भी हो किन्तु यह बात निश्चित है कि महाराजा विक्रमादित्य का ध्यान माताजी की टेकड़ी की ओर अवश्य बना था।

एक भक्त- विक्रमादित्य इतने शक्तिशाली एवं धर्म परायण राजा थे किन्तु

उन्हें ने चामुण्डा माताजी के मंदिर पर दर्शनार्थ जाने वालों के लिए कोई सुविधा नहीं की। इस से तो आज का युग ही अच्छा है जिससे टेकड़ी पर जाने वाले भक्तों के लिए इतनी सुविधाएं उपलब्ध हो गई है।

महाराजश्री- पहले समय में यात्रियों के लिए अधिक सुविधाएं उपलब्ध कराने के परिपाटी नहीं थी। तीर्थ यात्रा तपस्या तथा कष्ट सहन करने के लिए की जाती थी। ऊबर-खाबर रास्तों से होते हुए जाना, कठिन चढ़ाइयां-उतराइयां, पीने का जल मिलने में कठिनाई, गरमी, वर्षा तथा ठण्डक का त्रास, यह सब यात्रा के आवश्यक अंग माने जाते थे। यदि यात्रियों को सभी सुविधाएं उपलब्ध करा दी जाएं तो फिर तपस्या की संभावना ही कहा रहती है ? जब कि तीर्थ यात्री को मान-अपमान अनुकूलता-प्रतिकूलता प्रसन्न-चित्त सहन करते हुए यात्रा करना कर्तव्य माना जाता था। संभवतः इसी लिए महाराजा विक्रमादित्य ने माताजी टेकड़ी का मार्ग ठीक नहीं कराया।

कोई राजा हो या रंक, तीर्थ यात्रा में सब एक समान यात्री होते थे, भिक्षुक एवं तपस्वी। आज तीर्थ यात्रा चाहे अधिकतर मनोरंजन का साधन बन कर रह गई हो किन्तु उस समय संस्कारों के नाश तथा चित्त-शुद्धि का साधन थी। साधक के विषय में, भर्तृहरि के विचार, जो उन्हों ने वैराग्य-शतक् में व्यक्त किए हैं, इस प्रकार हैं, "वह धन्य हैं जिन के पवित्र हाथ ही नहीं, पात्र भी पवित्र है। भ्रमण का आश्रय ले कर प्राप्त की गई भिक्षा ही उन का अक्षय भोजन है। लम्बी चौड़ी तथा विस्तार पाई हुई दिशाएं ही उन के वस्त्र हैं। पृथ्वी ही जिन की शैया का कार्य करती है। जिन के अन्तर् में अनासक्ति योग है तथा जिस कारण वह सदैव संतुष्ट रहते हैं और दीनता के भावों को त्याग कर, जन्म-मरण के क्रम से प्राप्त हुए कर्मों का नाश करने में समर्थ होते हैं" दीनता के भावों के त्याग का अर्थ यहां जगत के प्रति दीनता के भाव के त्याग से है।

यह ठीक है कि यह त्याग-परायण जीवन की पराकाष्ठा है, जिसे कोई भर्तृहरि जैसा परिपक्व साधक ही अपना सकता है। भर्तृहरि राजा थे, सुविधाओं तथा भोगों की कोई कमी नहीं थी। वहां से उतर कर तपस्वी एवं विरक्त जीवन बिताना, कोई साधरण बात नहीं थी। उस समय की तीर्थ यात्रा उसी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त थी।

एक भक्त- यह बातें भर्तृहरि के संबंध में कहीं पढ़ने-सुनने को नहीं मिलीं, फिर आप को यह सारी जानकारी कहां से कैसे प्राप्त हुई ?

महाराजश्री- (हंसते हुए) पढ़ने सुनने में तो मेरे भी कहीं नहीं आई। किन्तु भगवती जैसा दिखाती-समझाती जाती है, कहता चला जाता हूं। मैं केवल

एक संदेश वाहक की तरह हूं। बाकी सभी भगवती की लीला है

इस पर मुझे १९६४ की जगन्नाथ पुरी की घटना स्मरण हो आई जब महाराजश्री को स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायण तीर्थ देव विषयक दृश्य दिखाई दिए थे। उस समय भी मैं श्रोता बन कर सुनता रह गया था। उस के लगभग चालीस वर्ष पश्चात् जिसे मैं ने पुनरुदय पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध किया।

महाराजश्री ने आगे कहना आरंभ किया

हम देख रहे हैं कि भर्तृहरि माताजी की गुफा के बाहर एक पत्थर पर अपना सिर रखे, कौपीन लगाए लेटे हैं। आज उन के मन में पूर्व स्मृतियों का तूफान उठ रहा है। उन्हें अपनी तीसरी पत्नी पिंगला की याद आ रही है। उस के कुकर्मों को याद कर, वह दुख का अनुभव कर रहे हैं। वह सोच रहे हैं, "मैं ने अपने भाई विक्रमादित्य की बात नहीं मानी तथा पिंगला पर विश्वास बनाये रखा। उलटा अपने भाई को ही देश निकाला दे दिया। हे पिंगला ! मैं नित्य तेरा ही चिन्तन किया करता था किन्तु तू मुझ से विरक्त रह कर किसी पर-पुरुष की कामना करती रही। तेरा प्रियतम, वह अन्य पुरुष भी अन्य किसी स्त्री के प्रेम-पाश में जकड़ा था तथा हमारे लिए कोई अन्य स्त्री प्राण न्योछावर करने के लिए तत्पर थी। अत: अन्य पर-पुरुष के प्रेम में जकड़ी अपनी स्त्री को धिक्कार है, उस अन्य पुरुष को जिसे वह चाहती थी, धिक्कार है। उस अन्य स्त्री को जो मुझे चाहती थी धिक्कार है तथा उस कामदेव को, जिस का यह प्रपंच है, धिक्कार है।"

फिर भर्तृहरि के विचार- प्रवाह ने पलटा खाया। पिंगला के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट हो गया, "हे पिंगला। इस समय मैं जो आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहा हूं उस का कारण तू ही है अन्यथा मैं तो विषय-वासना में पूरी तरह डूब रहा था। तेरा विश्वासघात मुझ पर कृपा की वर्षा की भांति बरसा तथा मैं बंधन तोड़ सका। हे पिंगला ! तू मेरे लिए अभिशाप नहीं , वरदान बन कर, मेरे जीवन में प्रकट हुई। तुम्हारी जय हो।"

भर्तृहरि के मन में विचारों का ज्वार-भाटा उठ रहा था। वैसे तो मन में भक्ति-शक्ति की कृपा तथा क्रियाशीलता से, बहुत कुछ संस्कार हट चुके थे किन्तु जो शेष बचे थे, वह उपद्रव कर रहे थे। भर्तृहरि जन्म-जन्मान्तर के योगी थे। कई प्रकार के उतार-चढ़ाव सहन करते आ रहे थे। अब की बार प्रारब्धवशात् पिंगला के फेर में आ गए थे। अब पश्चाताप की तीव्र ज्वाला में उन के पिंगला संबधी संस्कार क्षीण होते जा रहे थे। वह इन्हीं विचारों में डूबे थे कि एक महापुरुष प्रकट हो गए।

महापुरुष- भर्तृहरि ! मनुष्य को सब से अधिक परेशान पूर्व स्मृतियां ही करती हैं, रुलाती तथा नचाती हैं। तुम भी कोई इस के अपवाद नहीं हो। किन्तु

चिन्ता मत करो। पूर्व स्मृतियों की यह तुम्हारी अन्तिम खेप है। इस से आगे तुम्हारा मार्ग समतल है सरपट भागते जाओगे। तुम कई जन्मों से साधन-पथ पर आरुढ़ हो। कई बार गिरे हो, कई बार उठे हो। पिंगला का तुम्हारा प्रथम अनुभव नहीं है। पिंगला भी कई जन्मों की योगिनी है। किन्तु अध्यात्म की कठिन चढ़ाई चढ़ते हुए कौन नहीं फिसला, तुम भी, पिंगला भी। इस लिए पिंगला के प्रति घृणा और क्रोध को त्याग दो, अ न्यथा इस के संस्कार भविष्य में तुम्हें परेशान कर सकते हैं।

भर्तृहरि- महाराज ! उस समय मैं राजा था। राज्य की सारी सत्ता मेरे हाथों में केन्द्रित थी। यदि चाहता तो पिंगला की खाल खिचवा देता, अस्तबल के जिस दारोगा को वह चाहती थी, उसे सूली पर चढ़वा देता। किन्तु व्यक्तिगत रूप में मुझे उन पर क्रोध नहीं आया। पूर्व जन्म के किसी शुभ संस्कार ने विवेक को जाग्रत कर संसार की यथार्थता मेरे समक्ष प्रकट कर दी। जब संसार का अस्तित्व ही अभिमान, स्वार्थ एवं विषय-लोलुपता पर टिका है तो उस से सुख की आशा करना मूर्खता है। फिर भी यदि आप ने मुझे सचेत किया है तो मेरे मन में अवश्य ही कहीं न कहीं पिंगला के लिए द्वेष का भाव छिपा होगा। भविष्य में मैं सावधान रहूंगा।

इतना कह-सुन कर अदृश्य महापुरुष अदृश्य हो गए किन्तु इस से भर्तृहरि का मन काफी हलका हो गया। पिंगला के लिए क्रोध के स्थान पर दया का भाव उदय हो आया। उन्हें समझ आ गई कि तप क्या है ? जो संस्कारों-वासनाओं को तपा कर भस्म कर दे, वही तप है। मां की क्रियाशीलता का स्थिर तथा द्रष्टा रह कर अवलोकन करते रहना ही तप है। मां की क्रियाशीलता ही अन्तरायों को तपाती है। वह इतना विचार कर ही रहे थे कि एक अन्य महापुरुष प्रकट हो गए। भर्तृहरि ने महापुरुष को प्रणाम किया।

महापुरुष- भर्तृहरि ! कैसे हो ? क्या साधन में मन लगा है ?

भर्तृहरि- जब आप जैसे महापुरुषों का आर्शीवाद प्राप्त है तो साधन में मन लगेगा ही। भगवान शंकर तथा भगवती अम्बा की महान कृपा है

महापुरुष- भगवती की इस टेकड़ी को साधन-शिखर समझो। जिस का आश्रय ले कर हमारे जैसे अनेकानेक साधक, इस के आस-पास साधन में तल्लीन है। हम सब अदृश्य अवस्था में रहते हैं तथा माताजी के दर्शन करने यहां आते रहते हैं। तुम ने केवल उन्हें ही देखा है जो तुम्हारे सामने प्रकट होते हैं। कई साधक अदृश्य अवस्था में ही, बिना प्रकट हुए दर्शन कर के चले जाते हैं, जिन का तुम्हें पता भी नहीं चल पाता। चामुण्डा मांता सर्वत्र व्यापक है किन्तु यहां उस की शक्ति प्रत्यक्ष अनुभव होती है तथा साधकों पर कृपा करती है। जो सकाम उपासक उस से जगत की कामना करते हैं उन्हें टुकड़ा डाल देती है किन्तु उस की कृपा का वास्तविक आनन्द

तथा लाभ वही साधक उठा पाते हैं जो अपने आप को माता के चरणों में समर्पित कर देते हैं। माता अपने भक्तों को साधन का अवसर प्रदान करने के लिए ही सृष्टि की रचना करती है। तुम सौभाग्यशाली हो जो यहां माता जी का आश्रय लिए पड़े हो।

भर्तृहरि- किन्तु इस साधन-शिखर पर कोई साधक तो दिखाई देता नहीं। जैसा भी टूटा-फूटा साधक हूं एक मैं ही यहां हूं।

महापुरुष- हम लोग आस-पास जितने भी साधक फैले हैं, वे सब इसी साधन-शिखर का आश्रय ले कर ही यहां हैं। सब का केन्द्र-बिन्दु यही टेकड़ी है। यदि टेकड़ी पर रह कर ही साधन करने की बात करो तो यहां भी अदृश्य रूप में कुछ साधक समाधिरत् हैं जो तुम्हें दिखाई नहीं देते। अब तुम यहां आ गए हो तो एक प्रकट साधक भी हो गया है।

इतनी बात कर के महापुरुष तो अदृश्य हो गये किन्तु भर्तृहरि को उन की बात से महान आश्चर्य हुआ। अब तक अपने आप को टेकड़ी पर अकेला साधक ही समझते आए थे। उन की दृष्टि इधर-उधर सब जगह साधकों को ढूंढने लगी, किन्तु भौतिक नेत्रों से उन्हें देख पाना कहां संभव था ? पर उन की उपस्थिति का आभास अवश्य होने लगा।

महापुरुष के अदृश्य हो जाने के कुछ देर पश्चात् भर्तृहरि ध्यान में बैठने का प्रयत्न करने लगे किन्तु उस समय तो उन में पूर्व स्मृतियों का प्रवाह उमड़ रहा था। उन्हें वह समय याद आने लगा जब वे पिंगला पर उन के भाई द्वारा दुश्चरित्रता के आक्षेप पर, अपने भाई विक्रमादित्य पर क्रुद्ध हो गए थे। उस बात को स्मरण कर उन्हें अपने-आप पर क्रोध आ रहा था। उन में अनित्य तथा मिथ्या जगत के प्रति वैराग्य का भाव बढ़ने लगा था। वह वृक्षों के फल खा कर ही प्रसन्न थे। यदि कभी फल न मिलें तो वे वृक्षों के पत्ते खा कर ही निर्वाह कर लेते थे। एक भूतपूर्व महाराजा अब योगीराज बनने के लिए तीव्र गति से अग्रसर हो रहा था। उन का शरीर कृश होता जा रहा था किन्तु मानसिक बल दिनोंदिन वृद्धि पर था तथा साधना का क्रम निरन्तर चल रहा था।

भर्तृहरि में पश्चाताप के भाव बार-बार उदय हो उठते थे, "हम विषय-भोग के लिए जीवन भर भागते फिरे, उन्हे प्राप्त करने के लिए हम ने क्या-क्या न किया, किन्तु फिर भी हम भोग न सके, विषयों ने ही हमें भोग कर समाप्त कर दिया। हम ने कई बार तपस्या करने का प्रयास किया किन्तु नहीं कर पाए। हम दुखों की भीषण अग्नि मे जीवन भर तपते रहे। हम समझते रहे कि काल व्यतीत हो रहा है किन्तु काल का क्रम अखण्ड गति से चलता रहा, मेरा जीवन ही व्यतीत होता गया। मैं ने तृष्णापूर्ति का अनथक प्रयास किया किन्तु फिर भी तृष्णा समाप्त नहीं

हुई, हम समाप्त हो गए। यह कैसा विचित्र खेल है कि मनुष्य साधना के लिए जगत में आता है, पर विषयों में उलझ कर रह जाता है। अमृत त्याग कर विषपान की ओर आकर्षित हो जाता है।"

"यदि कभी किसी ने हमारे साथ अन्याय या अत्याचार किया तो हम ने उसे कभी मन से क्षमा नहीं किया। किसी असमर्थता, विवशता या अन्य किसी अपरिहार्य कारण से क्षमा अवश्य कर दिया। हम ने गृहस्थ जीवन का त्याग किया किन्तु इस लिए नहीं कि हमारा मन संतुष्ट था अपितु अपनी बुद्धि की दरिद्रता के कारण। हम ने शीत तथा गरमी के कष्टों को तो सहन किया किन्तु तपस्या के कष्ट सहन करने से सदैव कतराते रहे। ध्यान तो हम ने अवश्य किया किन्तु धन का ही। कर्म तो हम ने भी सब वहीं किए जो मुनियों ने किए थे किन्तु वैसा फल प्राप्त न हो सका।"

"प्रति दिन सूर्य के उदय तथा अस्त होने के साथ ही जीव की आयु भी छीजती जाती है। सांसारिक प्रपंचों, व्यर्थ के कार्यों, अनावश्यक वाद-विवादों, अभिमान तथा मोह के प्रदर्शनों और विषयों के भोग में ही सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। जन्म, बुढ़ापे तथा मृत्यु को जगत में सर्वत्र ताण्डव करते देख कर भी मन भयभीत नहीं होता। अत: ऐसा ज्ञात होता है कि सारा संसार ही अज्ञान-प्रमादमय मदिरा का पान कर, उन्मत्त हाथी के समान मस्त हो गया है।"

महाराजश्री को बातें करते-करते काफी देर हो गई थी। भगवती के मंदिरो में भक्तों का आवागमन आरंभ हो गया था जिस से हमारे सतसंग के लिए आवश्यक एकान्त भी भंग होने लगा था। नीचे देवास नगर पर दृष्टि गई तो वहां भी बाजारों में चहल-पहल दिखाई देने लगी थी। सूर्य भगवान ने भी अपनी गरमी का विस्तार आरंभ कर दिया था। मैं ने महाराज श्री से निवेदन किया कि काफी समय हो गया है तो उन्हों ने सतसंग को वहीं विराम दे दिया तथा आश्रम की ओर चल दिए।

तीन-चार दिन महाराजश्री का स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहने से टेकड़ी पर घूमने जाना नहीं हो सका। जब स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ तो पुन: टेकड़ी पर घूमने जाना आरंभ हुआ। महाराजश्री आगे-आगे चढ़ाई चढ़ते जा रहे थे तथा मैं उन का कमण्डल लिए अनुगमन कर रहा था। चढ़ाई सीधी होने से, चढ़ते समय तो बात-चीत संभव नहीं थी किन्तु मन ही मन, मैं न जाने क्या-क्या सोचता जा रहा था, "महाराजश्री की साधना तथा आध्यात्मिक सोच कितनी सूक्ष्म है ? बोलते हैं तो मानो हृदय के अन्तर्तल से शब्द फूट कर बाहर निकल रहें हों। वह परमार्थ-महल में प्रवेश कर, अध्यात्म की सेज पर आनन्दमग्न विहार कर रहे हैं। किन्तु मैं तो महल के समीप जा कर, बाहर खड़ा रह कर, अभी उस के दर्शन कर पाने तथा एक बार अन्तर झांक लेने में भी असमर्थ हूं। किन्तु महाराजश्री को महल के झरोखे से

जगत कैसा दिखाई देता होगा ? इस बात की कल्पना करने का मेरे पास कोई साधन नहीं था। इस लिए महाराजश्री जैसा कहते हैं उस को वैसे का वैसा समझ पाना भी मेरे लिए संभव नहीं था। मैं केवल अनुभव-रहित काल्पनिक उड़ान ही भर सकता था। मेरी ऐसी स्थिति थी जैसे कोई, केवल शास्त्र-ज्ञान के आधार पर ही अपने आप को पण्डित मान लेता है। आजकल तो पण्डितजी कहलवाने के लिए शास्त्र-ज्ञान की भी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है, किसी ब्राह्मण के घर में जन्म लेना ही पर्याप्त है। किन्तु इस से मुझे क्या अन्तर पड़ता है ? मैं तो अपनी आन्तरिक तथा मानसिक स्थिति से चिन्तित हूं”

हम लोग ऊपर परिक्रमा वाली सड़क पर आ गए थे। चढ़ाई तो समाप्त हो गई थी किन्तु अभी तक कोई बात-चीत आरंभ नहीं हो पाई थी। संभवतः चढ़ाई की थकान अभी तक बाकी थी। मेरे अन्तर् में विचार-चक्र घूम रहा था, “भगवती की भी कैसी लीला है। कहते हैं कि सारा जड़-चेतन संसार उसी में समाया है, सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय शक्ति में ही घटित होते रहते हैं। संसार शक्ति की सत्ता से ही सत्तावान है। उसी की सत्ता से सब घटनाएं घटित होती हैं। शक्ति भगवती ही संसार का भरण-पोषण करती है। भक्तों की प्रार्थना सुनती है तथा दुष्टों-दैत्यों का संहार करती है। उसी की कृपा से संसार को प्रकाश तथा उष्मता प्राप्त होती है। सभी घटनाओं, कर्मों तथा परिणामों में भगवती विद्यमान रहती है।”

मेरे विचार प्रचण्ड वायु-वेग के समान भागते जा रहे थे। अब उन्हों ने भगवती के प्रति विनय का रूप धारण कर लिया था, “हे मां ! मैं ने यह सब सुना ही सुना है। मुझे तुम्हारी किसी भी लीला की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं है। संसार में मेरी स्थिति एक ठूंठ के समान है जिस में कोई भाव या सुभाव नहीं, कोई अनुभव अथवा ज्ञान नहीं। मैं तुम्हारा अंजान बालक हूं। मुझ पर ऐसी कृपा करो कि मेरे समक्ष तुम्हारा रूप-सौंदर्य प्रकट हो तथा मेरा मन उसी के प्रति अनुरक्त हो।”

देखने को तो मैं महाराजश्री के साथ चल रहा था किन्तु अन्तर् में मेरा मन फूट कर भगवती के चरणों में पुकार कर रहा था, “हे वात्सल्यमयी मां ! संसार के सभी शक्तिमान आप की शक्ति से ही शक्तिमान हैं। चाहे कीर्ति-क्रान्ति हो, लक्ष्मी-विद्या हो,या फिर रति, विरति अथवा मुक्ति ही क्यों न हो, तुम्हारी कृपा के बिना कुछ भी संभव नहीं है। सब कुछ तुम्हारी ही विभूति का विस्तार है।”

“हे अनुग्रह स्वरूपिणी ! मैं अभी तक तुम्हारी कृपा-वर्षा में भीग नहीं पाया हूं। मेरे प्रति तुम्हारी ऐसी उदासीनता क्यों ? क्या मैं तुम्हारा बालक नहीं हूं, या मैं दुखी नहीं। मेरी वेदना देख कर भी तुम ने मुहं दूसरी ओर क्यों घुमा रखा है ? मुझ पर कृपा करो मां ! कृपा करों।”

हम चामुण्डा जी के मंदिर के सामने पंहुच चुके थे। मंदिर में कोई भक्त माता का स्तुतिगान कर रहा, था। आकाश में कुछ बादल छाए हुए थे। महाराजश्री ने दोनों हाथ जोड़ कर तथा सिर झुका कर भगवती को प्रणाम किया। तथा फिर थोड़ी विश्रान्ति के लिए पत्थर पर बैठ गए। मैं पास में खड़ा रहा। दो-एक भक्त और भी आ गए थे। उन लोगों ने भी महाराजश्री के सामने ही सड़क पर अपना-अपना आसन जमा लिया।

एक भक्त- महाराजजी ! आप के कहे अनुसार आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व यह टेकड़ी एकदम सुनसान थी। भर्तृहरि भगवती चामुण्डा के आवेश में यहां विचरण करते हों गे। वह मिट्टी जिस को उन चरणों का स्पर्श हुआ, अब तक वर्षा में धुल कर बह गई हो गी।

महाराजश्री- हो सकता है कि उस समय अधिकांशतः वन प्रदेश होने के कारण यहां वर्षा भी अधिक होती हो। किन्तु एक बात निश्चित है कि नाथ सम्प्रदाय में बड़े त्यागी तपस्वी महापुरुष हुए हैं। शक्तिपात् का सब से अधिक विकास भी इसी सम्प्रदाय में हुआ तथा सब से अधिक सिद्ध-पुरुष भी इसी में हुए। भर्तृहरि वैराग्य से पूर्णतया अभिभूत थे, एकान्त सेवी थे, शक्तिपात् से संपन्न थे,साधन में निरन्तर रत् थे। टेकड़ी पर उन्हें भगवती की कृपा तथा चेतनता का सानिध्य तथा आर्शीवाद प्राप्त हो गए। बड़ी शीघ्रता पूर्वक अध्यात्म की सीढ़ियाँ चढ़ते चले गए एवं चैतन्य के आकाश में सूर्य बन कर चमके। उन की चरण धूल को वर्षा का जल धो कर बहा ले जा सकता है किन्तु उन के द्वारा प्रसारित सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगें वर्षा की पहुंच से बहुत दूर हैं। वह सूक्ष्म तरंगे आज भी इस टेकड़ी तथा इस के आस-पास के वातावरण को प्रभावित किए है। संभव है कि संसारी मनुष्य उन तरंगों के प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ हो, किन्तु जो थोड़ा भी सात्विक-वृत्ति मनुष्य है तथा जिस की अध्यात्म में कुछ लगन है, वह इन तरंगों के प्रभाव से अपने आप को अछूता नहीं रख सकता। ऐसी तरंगे हजारों वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं।

भर्तृहरि ऐसे आध्यात्मिक वीर पुरुष थे जो हर समय घोड़े पर सवार, तलवार उठाए, हर समय अंतर् असुरों के संहार के लिए तत्पर थे।वह ऐसे स्फटिक मणि के समान थे जिस की प्रसारित आध्यात्मिक रश्मियों को आज भी समेटा जा सकता है। वह ऐसे अलौकिक महापुरुष थे जिन का संसार में आगमन नीति एवं साधना की मर्यादाएं स्थापित करने के लिए होता है। उन्हों ने अपने-आप को अधिकाधिक अप्रकट रखते हुए जो कार्य किया वह संसार में अधिकाधिक प्रकट है। उन के द्वारा किया गया आचरण, तथा साधन, उन के हृदय का माताजी के प्रति समर्पण, उन

का तप एवं त्याग, उन के द्वारा रचित साहित्य आज भी अनेकों साधकों के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

एक भक्त- महाराज जी ! इस मंदिर की स्थापना की कोई कथा भी तो होगी।

महाराज श्री- भगवती के जितने भी शक्तिपीठ हैं सब की एक ही पौराणिक कथा है यद्यपि देवास की चामुण्डा माता के मंदिर की गणना शक्ति पीठों में नहीं की जाती, किन्तु फिर भी यह सिद्ध पीठ तो है ही, जिस का महत्त्व किसी भी प्रकार शक्तिपीठों से कम नहीं। जिस प्रकार नेपाल के पशुपति नाथ मंदिर तथा काश्मीर के अमरनाथ जी की गुफा ज्योतिर्लिंग नहीं है किन्तु उन का महत्त्व तथा मान्यता किसी भी प्रकार ज्योतिर्लिंग से कम नहीं। इसी प्रकार देवास का चामुण्डा मंदिर भी, भारत के उन सर्वमान्य देवी मंदिरो में से एक है जिस का महत्त्व सिद्ध शक्ति-पीठों से कम नहीं है। इसी के सहारे अनेकों अदृश्य महापुरुष मालवा प्रदेश को भारत रूपी श्री यंत्र का मध्य बिन्दु मानते हैं। नारायण कुटी में हमारे निवास करने का एक कारण चामुण्डा माता का यह मंदिर भी है।

पौराणिक कथा के अनुसार शिवजी का विवाह दक्ष प्रजापति की कन्या सती से हुआ था किन्तु किसी कारण दक्षप्रजापति शिवजी से नाराज हो गए। उन्हों ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया, जिस में सभी देवताओं को बुलाया किन्तु शिवजी को निमंत्रित नहीं किया। जब सती को यह ज्ञात हुआ कि उस के पिता के यहां यज्ञ हो रहा है तो उस ने शिवजी के सामने यज्ञ में जाने की इच्छा व्यक्त की। शिवजी ने बहुत समझाया कि जब हमें निमंत्रित नहीं किया गया तो जाना उचित नहीं, किन्तु सती अपनी हठ पर अड़ी रही तथा शिवजी की इच्छा की उपेक्षा कर के यज्ञ में चली गई। वहां जाने पर उसे उदासीनता, अपमान तथा अपशब्द ही प्राप्त हुए। परिणामत: सती ने योगाग्नि के द्वारा अपने प्राणों का त्याग कर दिया जिस पर शिवजी क्रोधित हो उठे। उन के गणों ने यज्ञ विध्वंस कर डाला, दक्षप्रजापति को मार डाला। शिवजी को सती की मृत्यु से बहुत दुख हुआ तथा वह विक्षिप्तावस्था में सती के शव को उठाये चले जा रहे थे। शिवजी को इस अवस्था से मुक्त करने के लिए भगवान विष्णु ने मृत सती के शरीर के अंगो को, अपने सुदर्शन चक्र से काट-काट कर गिरा दिया। जहां-जहां अंग गिरे, शक्ति के सिद्ध शक्ति पीठ प्रकट हो गए। उज्जैन का हरसिद्धि मंदिर उन्हीं शक्ति पीठों में से एक हैं, जहां से रक्त की एक बूंद उड़ कर देवास की टेकड़ी पर पड़ी तथा यहां भी चामुण्डा का उपसिद्ध पीठ प्रकट हो गया। रक्त प्रवाह ही शरीर के सभी अंगों को जीवन तथा कार्यशीलता प्रदान करता है, इसलिए रक्त का महत्त्व सर्वोपरि है। इस पर्वत की एक शिला पर भगवती चामुण्डा की आकृति

उभर आई।

एक भक्त- प्राचीन काल में भगवती की जो आकृति उभरी थी, वह तो कहीं दिखाई नहीं देती। अब मानव निर्मित आकृति के ही दर्शन होते हैं।

महाराज श्री- भगवती के सभी शक्ति पीठों के साथ यही स्थिति है। कालक्रम से, जहां-जहां भगवती के आकृतियां उभरी थीं वह विलीन होती गई तथा अधिकांश स्थानों पर, भगवती के भक्तों ने पिण्डी के रूप में भगवती की स्थापना कर ली। यहां की टेकड़ी पर किसी कलाकार ने शिला पर माताजी की आकृति उकेर दी। यह संसार है। यहां की प्रत्येक वस्तु में काल प्रभाव से परिवर्तन अवश्यंभावी है। यदि भगवती की आकृतियां भी विलीन हो गईं तो आश्चर्य किस बात का!

जब भर्तृहरि का, दो हज़ार वर्ष पूर्व आगमन हुआ, उस समय टेकड़ी पर रक्त का छींटा पड़ने से उभरी स्वाभाविक आकृति थी। इस में तो कोई शंका नहीं कि जो प्रभाव उन उभरी आकृतियों का था वह इन मानव-स्थापित पिण्डियों तथा मानव-निर्मित प्रतिमाओं तथा आकृतियों का नहीं। किन्तु भक्तों की निरन्तर श्रद्धा तथा उपासना ने इन स्थानों की जाग्रति को बनाए रखा है।

एक भक्त- भारत में भगवती के भक्तों का संख्या काफी है।

महाराजश्री- सब भगवती के ही भक्त हैं। जो सीधे भगवती की उपासना करते हैं वह तो हैं ही, राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान, गणेष आदि के भक्त भी अपने-अपने इष्ट के माध्यम से भगवती की ही उपासना करते हैं। अनेकता में एकता का दर्शन हिन्दु-दर्शन का आधार है। एक ही भगवती कई देवी देवताओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है। एक ही शक्ति पशु पक्षी-मानव सब का रूप धारण किए है। शक्ति एक, उस का आधार एक बाकी सारा जगत उस की स्पंदनशीलता का परिणाम। एक ही शक्ति कई कार्य करती है तो उस के रूप भी अनेक हैं। भक्त अपनी भावना के अनुरूप कोई सा भी रूप चुन लेता है, चामुण्डा, लक्ष्मी, वैष्णवी, अथवा राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान, गणेष इत्यादि। अत: सारा भारत भगवती का ही भक्त है।

एक भक्त- किन्तु सामान्य जन में इतना विवेक नहीं है कि इन बातों को समझ सके, इस लिए प्राय: लोग उलझन में पड़ कर भ्रमित हो जाते हैं।

महाराज श्री- जिस के मन में उलझन होती है वही उलझन में पड़ता है। ब्रह्मा विष्णु महेष कोई परस्पर भिन्न देव नहीं हैं अपितु एक ही परमात्मा के तीन नाम स्वरूप तथा कार्य हैं जो उन के सृष्टि, स्थिति तथा विलय के आधार पर कल्पित किए गए हैं। शक्ति के बिना कोई क्रिया संभव नहीं, इसलिए इन तीनों देवों की ही भांति उन की शक्तियों को भी महासरस्वती, महालक्ष्मी तथा महाकाली के रूप में

स्थापित कर दिया गया है। जैसे तीनों देव एक ही परमात्मा के तीन स्वरूप हैं उसी प्रकार तीनों देवों से संबंधित तीनों देवियां भी एक ही शक्ति की तीन क्रियाएं हैं। अपनी श्रद्धा तथा चित्तस्थिति के अनुसार कोई वैष्णवी कहता है तो कोई तारा, भैरवी, त्रिपुरसुन्दरी या चामुण्डा। किन्तु ध्यान रहे कि शक्ति एक ही है तथा शक्तिमान भी एक ही।

सद्गुरु में भी यही तीनों शक्तियां कार्य करती हैं। जब गुरुदेव साधक में विद्यमान ज्ञान को संभालते हुए उस में नए ज्ञान तथा अन्तरानुभूतियों को प्रकट करते हैं तो वह ब्रह्मा तथा महासरस्वती का कार्य कर रहे होते हैं। जब शिष्य के यथार्थ ज्ञान का रक्षण तथा पोषण करते हैं तो वह महाविष्णु तथा महालक्ष्मी का उत्तरदायित्व निभा रहे होते हैं। जब चित्त में विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम, अज्ञान, संशय, दुविधा, तथा मिथ्या भय-अभिमान को निवृत्त अर्थात् प्रलय कर रहे होते हैं तो वे शिवजी तथा महाकाली का कार्य सम्पन्न कर रहे होते हैं। महाकाली चित्त के अज्ञान तथा भ्रम के लिये प्रलयकारिणी है। इसी लिए शंकर को प्रलयंकारी कहा जाता है। यह प्रलय बाहर जगत में नहीं, चित्त में घटित होती है। यही शंकर तथा भगवती का गुरु-स्वरूप है। अब तुम्हें समझ आ गई होगी कि भगवती या शंकर या अन्य देवताओं के मंदिरों में लोग गुरु-पूर्णिमा पर पूजा के लिए क्यों जाते हैं।

जो व्यक्ति ब्रह्मा विष्णु महेश तथा महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली के इस उत्तरदायित्व की ओर लक्ष्य रखते हुए, अपने अन्तर् में सद्गुणों तथा सद्ज्ञान के संवर्धन, यथार्थ ज्ञान के संरक्षण तथा विकारों-वासनाओं के संहार के प्रति सचेष्ट रहता है उसे ही गुरुमुख कहा जाता है।जो इधर से उदासीन हो जाता है वही मनमुख है जो अन्तर की आवाज तो सुनता है किन्तु उधर ध्यान नहीं दे कर अवहेलना कर देता है तथा मन के पीछे लग जाता है उसे गुरु विमुख कहा जाता है।

हमारी परम्परा में भगवती को दक्षिणा मूर्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है जो शंकर भी है तथा भगवती भी। हम नित्यप्रति मंदिर में आरती करते हैं

जय दक्षिणा मूर्ति स्वामी जय दक्षिणा मूर्ति

किन्तु यह आरती भगवान शंकर की है तथा आगे सभी गुरु के लक्षणों का वर्णन है

दृष्टिपात संकल्प मात्र से जगती कुण्डलिनी
क्रियावती क्रीड़ाएं करती जाएं न जो वरणी

किन्तु सद्गुरु क्या है? भगवती का ही तो एक कार्य है। शिष्य के विकारों-संस्कारों पर क्रियारूप हो कर प्रलय मचा देना। अब कोई उसे सद्गुरु कहे या महाकाली। शंकर तथा भगवती ही अन्तर्गुरु होकर सद्गुरु रूप में प्रकट होते हैं।

एक भक्त- किन्तु उसे दक्षिणा मूर्ति क्यों कहा जाता है ?

महाराजश्री- दक्षिणा मूर्ति उपनिषद के अनुसार दक्षिणा बुद्धि की ऐसी ब्रह्म प्रकाशिका है जो परम तत्त्व के साक्षात्कार में मुख अर्थात् द्वार है। यह तो आप को ज्ञान होगा कि बुद्धि भी शक्ति की ही एक क्रिया है। दुर्गा सप्तशती में कहा ही है बुद्धि रूप संस्थिता। बुद्धि का आत्म साक्षात्कार का द्वार होने का अर्थ है, शक्ति का आत्माभिमुखी होना, तभी तो बुद्धि आत्मा का द्वार होगी। जब तक शक्ति आत्माभिमुखी कार्यशील नहीं होगी, बुद्धि भी आत्माभिमुखी नहीं होगी अन्तर्जाग्रत शक्ति ही अन्तर्गुरु है जो अंधकार का नाश करती हैं। चामुण्डा ने चण्ड एवं मुण्ड रूपी असुरों का संहार कर के यह नाम पाया था। दक्षिणा मूर्ति ही चामुण्डा है। काली भी असुरों के लिए काल तथा चामुण्डा है। एक ही शक्ति के विभिन्न स्वरूप हैं। इन स्वरूपों पर आधारित पुराणों में कथाओं की रचनाएं की गई हैं।

एक भक्त- आप के आश्रम में दक्षिणा मूर्ति की पूजा तो होती है किन्तु दक्षिणा मूर्ति का कोई मंदिर नहीं।

महाराजश्री- हमें दक्षिणा मूर्ति का मंदिर बनवाने का दो-एक बार विचार आया किन्तु हमारा समय अब समाप्त होने को है। हम ने जो कुछ करना था, कर लिया। हमारे पश्चात् आने वालों को भगवान ने ऐसी बुद्धि दी तो हो सकता हे कि हमारे आश्रमों में भी दक्षिणा मूर्ति के मंदिर बन जायं।

एक भक्त- जब चामुण्डा तथा दक्षिणा मूर्ति एक ही बात है तो चामुण्डा में ही दक्षिणा मूर्ति की भावना की जा सकती है।

महाराजश्री- वह तो हम करते ही हैं। फिर सभी देव-देवियां हमारे अन्तर में ही तो हैं। ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति तथा क्रिया शक्ति में भगवती के सभी स्वरूपों का समावेश हो जाता है।

महाराजश्री ने बात-चीत को यहीं विराम दे दिया। उठकर चले तो धीमी-धीमी वर्षा आरंभ हो गई थी। आश्रम के समीप पहुंचे तो काफी ज़ोर की वर्षा होने लगी। तब तक आश्रम से एक व्यक्ति भाग कर छाता ले आया। महाराजश्री अपनी कुटिया तक पहुंचे, तब तक वह भी भीग चुके थे।

दोपहर में थोड़ा आराम के पश्चात् महाराजश्री अपने कमरे में अकेले ही बैठे थे, मुझे आवाज़ लगाई कि लोटे का जल समाप्त हो गया है। मैं पानी का गिलास ले कर अन्दर गया।

महाराजश्री- चाहे सकाम उपासना हो, चाहे भगवती के प्रेम हेतु हो, यदि सच्चे मन से की जाय तो माता सुनती अवश्य है। देर-सवेर उस के कानों में आवाज़ पहुंच जाती है। जप, प्रार्थना, मां का गुणगान सभी उस के सामने निवेदन

के प्रकार हैं।

मैं ने कहा-कहते हैं कि जप में मंत्र की शुद्धि का बहुत महत्त्व है। व्याकरण की दृष्टि से भी मंत्र ठीक होना चाहिए, उच्चारण भी शुद्ध होना चाहिए तथा विधि-विधान के अनुसार होना चाहिए।

महाराजश्री- देखो दो प्रकार का जप होता है, एक शब्द- प्रधान दूसरा भाव-प्रधान। कालान्तर में जा कर शब्द-प्रधान जप भी भाव-प्रधान हो जाता है। डाकू वाल्मीकि कौन सा व्याकरण पढ़ा था या विधि-विधान से अवगत था किन्तु उस का जप भाव-प्रधान था। वह उलटा मंत्र जपता रहा तथा एक दिन सिद्धि को प्राप्त हो गया। मंत्र जप में भाव की प्रधानता होती है।

देखो! भागवत में एक कथा आती है जिस का उल्लेख गीता प्रेस गोरखपुर के कल्याण के शक्ति अंक में भी मिलता है। कथा देवी के सारस्वत बीज ऐं से संबंधित है।

एक संतानहीन ब्राह्मण को एक महात्मा के आर्शीवाद से पुत्र प्राप्ति हुई किन्तु बड़ा होने पर उस का पुत्र एक दम जड़-मति निकला ब्राह्मण का बेटा और शास्त्र ज्ञान से अनभिज्ञ, आलसी तथा निकम्मा ! सब लोग उस लड़के को धिक्कारते रहते थे जिस से दुखी होकर उस लड़के ने गृहत्याग कर दिया तथा वन में गंगा किनारे एक पर्ण कुटी बना कर रहने लगा। और तो उसे कुछ आता नहीं था किन्तु एक अत्यन्त कठिन तप का पालन अवश्य करता था। वह सदैव सत्य बोलता था। उसका नाम ही सत्यतपा प्रसिद्ध हो गया

एक बार एक शिकारी एक सुअर को घायल कर के उसे पकड़ने के लिए उस के पीछे भाग रहा था। सुअर भी अपनी जान बचाने के लिए जा रहा था तथा उस ओर आ गया जहां सत्यतपा की कुटिया थी। वह एक झाड़ी में छिप गया। शिकारी ने आ कर पूछा कि एक घायल सुअर भागता हुआ इधर आया है। आप ने उसे देखा हो तो बताएं, किधर गया है ? सत्यतपा असमंजस में पड़ गया। सत्य कहूं तो सूअर की जान जाती है। झूठ कहूं तो सत्य-धर्म की हानि होती है। क्या करूं ?

जब सूअर आया था तो डर के मारे कांप रहा था। सूअर को देख कर सत्यतपा को उस पर दया आ गई थी तथा उस के मुख से ऐ-ऐ निकल गया था। ऐं सरस्वती बीज है जिस से उसे सरस्वती की प्राप्ति हुई। उस ने शिकारी से कहा, "कैसे बताऊं? जो आंख देखती है वह बोल नहीं सकती। जो ज़बान बोलती है वह देख नहीं सकती। शिकारी ने सोचा, "इन को कुछ पता नहीं है। यह तो महात्माओं जैसी बातें करते हैं। शिकारी चला गया।

तत्पश्चात् सत्यतपा सत्यव्रत नाम से प्रसिद्ध कवि हुआ तथा सरस्वती

बीज के विधिपूर्वक जप में तत्पर हो गया।

यदि भाव प्रधान जप हो किन्तु अशुद्ध तथा विधि-विधान रहित हो तो भगवती को वह स्वीकार होता है। भगवती सभी मंत्रों के शुद्ध स्वरूप से अवगत है।

भर्तृहरि पाण्डित्य में परिपूर्ण थे। विधि-विधान सहित शुद्ध किन्तु भाव-प्रधान जप करते थे। फिर वह जप करने वाले थे भी कहां ? उन का जप भी भगवती की क्रियारूप ही था। कई बार क्रियाओं के आवेश में जप भूल जाते थे। वह भगवती के चरणों के सच्चे तथा अनन्य प्रेमी थे। उन्हें जप में गिनती का रखना न अभीष्ट था तथा न ही रख पाते थे। गिनती व्यापार में होती है। सच्चे साधक का तो श्वास-श्वास जप चलता है।

तिब्बत वृत्तान्त

एक दिन भर्तृहरि गुफा के बाहर बैठे थे। वातावरण में थोड़ी ठण्डक थी, धूप अच्छी लग रही थी। कि सहसा अदृश्य में से एक महापुरुष प्रकट हो गए। भर्तृहरि ने पहले कभी उन्हें नही देखा था। गौर वरण, केवल कौपीन धारण किए हुए, हाथ में कमण्डलु,मुख पर अलौकिक तेज। देखने में युवा लगते थे किन्तु सिर के बाल तथा दाढ़ी सफेद थी। भर्तृहरि ने प्रणाम किया तो आर्शीवाद दे कर एक पत्थर पर बैठ गए।

भर्तृहरि- क्या आप यहां पहली बार पधारे हैं। इस से पहले कभी आप को देखा नहीं।

महापुरुष- आया तो मैं कई बार हूं किन्तु अब की बार लम्बे अन्तराल के पश्चात् आया हूं। तुम्हें मैं यहां पहली बार देख रहा हूं।

भर्तृहरि- क्या यहीं कहीं आस-पास ही रहते हैं ?

महापुरुष- आस-पास तो नहीं रहता (फिर कुछ ठहर कर)तुम ने मुझे पहचाना नहीं। पहचान सकते भी नहीं। पूर्व जन्म की स्मृतियां कहां याद रहती हैं। पिछले जन्म में तुम ने मुझ से शक्तिपात् की दीक्षा ली थी तथा तिब्बत में मेरे आश्रम में रह कर साधन करते थे।

यह सुन कर भर्तृहरि आश्चर्य चकित रह गए। कुछ देर तो उन्हें सूझ ही नहीं पड़ी कि क्या कहें ? फिर उठ कर गुरुदेव के चरणों पर माथा रख दिया तथा कुछ देर वैसे ही पड़े रहे। फिर दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोले, "क्या आप तिब्बत में रहते हैं।"

महापुरुष- हां ! मैं वहीं से आ रहा हूं। हम लोग प्रायः समाधि में रहते हैं। जब कभी जाग्रत अवस्था में आते हैं तो भारत में माता तथा शंकर के विभिन्न स्थानों

के दर्शन करने यहां चले आते हैं। यहां का स्थान भी हमारी सूची में है। अब की बार जब मैं समाधिसे उठा तो तुम्हारी जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं ने ध्यान लगाया। तब ज्ञात हुआ कि तुम इस समय उज्जैन के समीप चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर विरक्त जीवन व्यतीत कर रहे हो। मुझे तुम्हारे विषय में सारी बातों का पता चल चुका है कि तुम कभी उज्जैन के राजा थे। फिर तुम्हें अपनी पत्नी के दुर्व्यवहार के कारण वैराग्य जाग्रत हुआ तथा तुम विरक्त हो गए। किन्तु यह जो कुछ भी हुआ पूर्व नियोजित था। इस में न तुम्हारी पत्नी का कोई दोष है तथा न ही उस के प्रेमी का। तुम्हारे अपने संस्कार ही उस में कारण थे। उन्हें क्षीण करने के लिए ही भगवती ने इस नाटक की रचना की।

तुम जन्म-जन्मान्तर के योगी हो। मन की किसी भटकन के कारण तुम्हें यहां आ कर यह सब अनुभव प्राप्त करने पड़े। तुम्हारा पूर्व जन्म का शरीर अभी तक हमारे आश्रम में सुरक्षित है तथा तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा कर रहा है।

यह सुन कर भर्तृहरि का सिर घूम गया। यद्यपि महापुरुष ने उन के अतीत का हाल कह सुनाया था किन्तु फिर भी उन का मन पूरी तरह निश्शंक नहीं हो पाया था। क्या पता इधर-उधर से सुन कर पता लगा लिया हो, किन्तु महापुरुष के अधर में से प्रकट हो जाने से यह बात निश्चित थी कि यह कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। फिर भी भर्तृहरि ने पूछ ही लिया, "आप की भाषा तथा आकृति से यह स्पष्ट है कि आप भारतीय है जब कि आप कह रहे हैं कि आप तिब्बत से आए हैं।"

महापुरुष- हां ! मैं भारतीय ही हूं, बिहार का, किन्तु दैव ने मुझे उठा कर तिब्बत में रख दिया। अब मैं तिब्बती हूं।

भर्तृहरि- क्या वहां और भी कोई भारतीय महापुरुष हैं ?

महापुरूष-और भी हैं, कुछ नेपाली हैं, कुछ भूटानी हैं। कुछ महापुरूष तो युरोपीय देशों के हैं।

भर्तृहरि- आप ने कहा कि मेरा पूर्व जन्म का शरीर अभी तक भी आप के आश्रम में सुरक्षित रखा है।

महापुरुष-पूर्व जन्म तो कहने की बात है अन्यथा तुम्हारा पिछला जीवन अभी तक भी चल रहा है। यह शरीर तो तुम ने केवल प्रारब्ध भोग को समाप्त करने के लिए धारण किया है। तुम्हारा जीवन प्रवाह अभी तक भी उसी शरीर के माध्यम से गतिशील है। हमें पता है कि तुम अभी मरे नहीं हो, इस लिए तुम्हारे शरीर को सुरक्षित रख दिया है।"

भर्तृहरि- क्या कोई ऐसा उपाय है कि मैं अपने सुरक्षित रखे शरीर को देख सकूं ?

महापुरुष- क्यों नहीं ! अवश्य उपाय है। जब तुम ध्यान में बैठोगे तो हमारा आश्रम तथा तुम्हारा शरीर दिखाई दे जायगा।

इतना कह कर महापुरुष जाने के लिए तैयार हुए तो भर्तृहरि ने कहा, "आप ने कहा कि पूर्व जन्म में आप ने मुझे शक्तिपात् की दीक्षा दी थी तो इस जन्म की दीक्षा क्या थी ?"

महापुरुष- वह इस जन्म का व्यवहार था अन्यथा तुम्हारी दीक्षा तो पूर्व जन्म में ही हो चुकी थी। तुम्हारी शक्ति जन्म से ही जाग्रत थी। इसी प्रकार तुम क्या समझते हो कि पत्नी के व्यवहार के कारण तुम्हें वैराग्य हुआ ? तुम तो जन्म-जन्म के वैरागी थे। तुम्हारी पत्नी का व्यवहार तुम्हारे प्रसुप्त वैराग्य की जाग्रति का कारण था। यदि तुम्हारे मन में वैराग्य नहीं होता तो तुम अपनी पत्नी को सूली पर चढ़ा देते। तलवार से उसका गला काट देते, उस प्रेमी को हाथी के पांव के नीचे डाल देते। फिर चाहे विरक्त हो कर घर से निकल जाते किन्तु तब केवल कारण-वैराग्य होता।

भर्तृहरि- गुरुदेव ! अब कब दर्शन हों गे ?

महापुरुष- संभवतः तुम्हारे इस जीवन में नहीं क्योंकि यहां से जाने के पश्चात् मैं दीर्घकालीन समाधि में चला जाऊंगा। इस शरीर की आयु भोग कर तुम वापिस हमारे आश्रम में आओगे तथा अपने शरीर में प्रवेश करोगे, तो वह शरीर जीवित हो उठेगा। तब तुम्हें मेरी समाधि खुलने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

भर्तृहरि- अच्छा। यह बतलाने की कृपा करें कि मैं आप के संपर्क में कैसे आया।

महापुरुष- यह सारी बातें तुम्हें ध्यान में ज्ञात हो जाएगी।

भर्तृहरि का मन था कि महापुरुष से बातें करते ही रहें किन्तु महापुरुष को संभवतः जल्दी थी, इस लिए वह अदृश्य हो गए।

भर्तृहरि विचार- सागर में डूब गए। उन के लिए यह सभी बातें आश्चर्य जनक थीं। कहां तिब्बत के आश्रम में साधन तथा कहां यहां पर माताजी की टेकड़ी।

महापुरुष तो चले गए पर भर्तृहरि के मन में पूर्व जन्म का अपना शरीर देखने का भाव बार-बार तरंगित होने लगा। वह शीघ्रता पूर्वक गुफा में जा कर ध्यान लगाने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु उस दिन ध्यान नहीं लग रहा था, संभवतः मन की कौतूहलता कारण थी। कोई एक सप्ताह तक वह दिन में कई-कई बार इस के लिए प्रयत्न करते थे, किन्तु हर बार विफल रहते थे। एक दिन गुफा के बाहर टहलते हुए एक पत्थर पर बैठ गए कि अनायास ही ध्यान की अवस्था में खो गए। उस समय वह पूर्णतया बाह्यज्ञान विहीन थे।

ध्यान की अवस्था में उन्हों ने अपने आप को किसी पहाड़ी प्रदेश के सघन वन में पाया। कुछ देर इधर-उधर भटकते रहे फिर एक अत्यन्त दुर्गम चढ़ाई चढ़ने लगे। कोई रास्ता तो बना हुआ था नहीं, वृक्षों-झाड़ियों के बीच में से हो कर निकलते जा रहे थे। आस-पास के पहाड़ काफी ऊंचे निकले हुए थे जिन पर पड़ी बरफ सूर्य के प्रकाश में चांदी की तरह चमक रही थी। कहीं-कहीं ऐसा स्थान आ जाता था जहां दोनों ओर अत्यन्त गहरी खाई थी। किन्तु उस समय उन्हें चढ़ने की ही धुन सवार थी। बरफानी हवाओं में भी पसीना-पसीना हो रहे थे। ऊपर गए तो उन्हें थोड़ी समतल भूमि दिखाई दी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि यही है उन के गुरुदेव का आश्रम, किन्तु यहां कोई आश्रम तो दिखाई दे नहीं रहा था। थोड़ा और आगे गए तो एक महापुरुष मिले, "आप का स्वागत है। आप को लगभग चालीस वर्ष यहां से गए हुए हो गए। अब पहली बार अपने शरीर को देखनें आए हैं, चलिए"

भर्तृहरि उस महापुरुष के साथ हो लिए। वे सोचते जा रहे थे कि यदि वह शरीर मेरा है तो जो शरीर मैं ने ओढ़ रखा है, वह किस का है। महापुरुष को जैसे भर्तृहरि के मन की बात ज्ञात हो गई, बोले, "वैस तो न यह शरीर आप का है, न वह शरीर आप का है। आप का सूक्ष्म शरीर, यहां रखे हुए स्थूल शरीर को छोड़ कर, दूसरे गर्भ मे प्रवेश कर गया था। जिस के जन्म के परिणाम स्वरूप आप को यह शरीर दिखाई दे रहा है। हमें पता था कि आप का पहला शरीर मरा नहीं है, एक दिन आप पुनः लौट आएंगे इस लिए गुरुदेव की आज्ञानुसार आप के शरीर को सुरक्षित कर दिया।

बातें करते-करते दोनों पहाड़ों के नीचे तक आ पहुंचे। पहाड़ों में छोटी-छोटी कई गुफाएं थी जिन में साधक निवास कर समाधि का आनन्द लेते थे। समीप पंहुंच कर महापुरुष ने कहां, "यही है गुरुदेव का आश्रम"

भर्तृहरि- आप लोगों के भोजन की क्या व्यवस्था है ?

महापुरुष- भोजन की चिन्ता योगियों को नहीं होती, संसारियों को होती है। प्रथम तो वह अपने शरीर की आवश्यकता की पूर्ति पांच भौतिक तत्त्वों से सीधे ही कर लेते हैं। यदि उन की अन्य कभी कुछ इच्छा होती है तो भगवान उसे पूरी कर देते हैं।

भर्तृहरि - यहां सभी साधक भारतीय ही हैं ?

महापुरुष- अधिकतर भारतीय ही हैं, कुछ यहां के मूल निवासी भी हैं, किन्तु गुरुदेव या आश्रम का कोई अन्य साधक भारतीय या तिब्बती में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता। सभी धरती की संतान हैं तथा मानव हैं। मनुष्य में विभाजन करने का भाव सांसारिक कल्पना है जो धर्म, जाति, देश तथा संस्कृति की

दीवारें खड़ी कर देती है।

भर्तृहरि- क्या मैं गुरुदेव के दर्शन कर सकता हूं ?

महापुरुष- नहीं ! वह दो दिन पूर्व ही दीर्घकालीन समाधि में चले गए हैं। अब किसी को उन की कुटिया के पास जाने की भी अनुमति नहीं। दूर से ही आप को गुफा के दर्शन करा सकता हूं। वह देखो जहां लाल-लाल पत्थर दिखाई दे रहे हैं, वही गुरुदेव की गुफा का द्वार है। अब आओ ! मेरे पीछे। आप को आप का शरीर दिखाता हूं।

भर्तृहरि पीछे-पीछे हो लिए। थोड़ी ही दूर गए होंगे कि महापुरुष एक गुफा में प्रवेश कर गए। भर्तृहरि भी पीछे ही थे। गुफा में अंधेरा था। किसी प्रकार दोनो टटोलते हुए चल रहे थे। गुफा अधिक लम्बी नहीं थी। अंदर एक चौकोर कमरा जैसा था जिस में एक दीपक जल रहा था। उस के प्रकाश में कमरे के बीचों-बीच एक शरीर पड़ा था, सीधा लेटे हुए, कौपीन धारण किए। भर्तृहरि उस शरीर के पास बैठ कर उसे निहारने लगे।

भर्तृहरि-(कुछ देर के पश्चात्) किन्तु मैं यह सब भूल कैसे गया ? मुझे कुछ भी याद नहीं।

महापुरुष- जब आप का जन्म हुआ था, जब आप को सब याद था, किन्तु आयु बढ़ने के साथ दृश्यमान जगत के प्रति लक्ष्य तथा आसक्ति बढ़ती गई तथा पिछला सब कुछ भूलता गया। जब जगत से वैराग्य हुआ तो वैराग्य बढ़ने के साथ पूर्व स्मृतियां जाग्रत होती गईं। फिर गुरुदेव मिल गए।

दोनों गुफा से बाहर आ कर ज़मीन पर बैठ गए थे।

भर्तृहरि- आप लोग यहां कितना आनन्द ले रहे हैं। प्रकृति की ऐसी कृपा तथा साधन की ऐसी सुविधा। अंदर-बाहर आनन्द।

महापुरुष- आप भी इस आनन्द-लोक के ही निवासी हैं फिर जहां चामुण्डा माताजी की पहाड़ी पर आप रह रहे हैं वह क्या कम है ? वहां तो भगवती के कृपा-चरण प्रकट हैं। यहां भी आनन्द ले रहे थे, वहां भी आनन्द ले रहे हैं। फिर आप ने लौट के यहीं तो आना है।

भर्तृहरि का ध्यान भंग हो गया। देखा तो एक पत्थर पर सिर नीचा किए बैठे थे। अभी तक भी ध्यान वाली घटना का नशा उतरा नहीं था। सोचने लगे, "ऐसा आनन्द-दायक वातावरण तथा साधन छोड़ कर मैं इस दुखमय संसार में क्यों आ कर फस गया। क्या आवश्यकता थी किसी गर्भ में प्रवेश करने की ? यहां आ कर स्त्री की वेवफाई ही देखने को मिली। संभवत: प्रारब्ध ऐसा ही हो गा"

महाराजा विक्रमादित्य

महाराजा विक्रमादित्य को जब पता चला कि भर्तृहरि चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर साधन रत हैं तो एक दिन उन्होंने उधर जाने का कार्यक्रम बना लिया। वे एक चक्रवती राजा थे। जब चलते थे तो छत्र, सेना, हाथी घोड़े, दास-दासियां तथा मंत्रीगण भी साथ रहते थे। जब पहाड़ी कोई तीन-चार मील रह गई तो महाराजा हाथी से नीचे उतर गए। सब को संबोधित कर कहने लगे, "भर्तृहरि हमारे ज्येष्ठ भ्राता तो हैं ही, किन्तु इस समय वह परम-तपस्वी, परम वैरागी तथा परम योगी हैं। इस लिए यहां से हम अकेले ही पैदल जाएंगे। हमारे साथ केवल महारानी हो गी। आप सब लोग यहीं विश्राम करें।"

यह कहा जा चुका है कि स्थानीय लोगों ने मिल कर पहाड़ी पर चढ़ने के लिए पगडंडी का एक रास्ता बना दिया था। कांटेदार झाड़ियों में उलझते तथा ठोकरें खाते हुए महाराजा तथा महारानी शिखर तक पहुंच गए। देखा तो भर्तृहरि गुफा के सामने ज़मीन पर सोए हुए थे। कौपीन पहने, सिर के नीचे एक पत्थर रखे, केवल एक अकेले, न कोई उत्तरदायित्व ,न किसी बात का भय। महाराजा का मन भर आया। सोचा, कल तक जो महाराजा था। गले में मोतियों के हार तथा सिर पर मुकुट शोभा पाते थें, जिस के आदेश की प्रतीक्षा में दास-दासियों की सेना हाथ बांधे उपस्थित रहती थी, वह आज खाली ज़मीन पर,धूलधूसरित अकेला नंगधड़ंग पड़ा है।"फिर विचार आया, "उन्हों ने यह सब स्वयं ही तो त्याग दिया है। इन सब में दुख ही दुख है। जिस ने इस बात को समझ लिया है वह इन सब के पीछे नहीं भागता। आज ये राजाओं के भी महाराजा हैं। संसार के सभी वैभव इन चरणों की धूल के समान हैं। धन्य हैं यह जीवन"

महाराजा भर्तृहरि के जागने की प्रतीक्षा में एक पत्थर पर बैठ गए। कुछ देर के पश्चात् जब भर्तृहरि जागे तो अपने भाई को पत्थर पर बैठे देखा। महाराजा विक्रमादित्य ने साष्टांग प्रणाम किया।

भर्तृहरि-विक्रम ! तुम्हारे परिवार तथा राज्य में सब मंगल है न।

विक्रमादित्य- आप की कृपा से सभी मंगल है किन्तु आप यहां बहुत कष्टमय समय व्यतीत कर रहे हैं।

भर्तृहरि- मुझे यहां जो सुख प्राप्त है वह तुम्हारी कल्पना के बाहर है। तुम जगत की मिथ्या सुविधाओं के अभाव को कष्ट मान रहे हो किन्तु यह बताओं कि संसार में इन सुविधाओं से किस को सुख प्राप्त हुआ है। जगत के संचय में सुख नहीं, जगत के त्याग में सुख है। सारा जगत विषयों का दीवाना है।किन्तु यदि विषय प्राप्त हो भी जायं तो दुख का ही कारण बनते हैं।

विक्रमादित्य- यदि आप की अनुमति हो तो यहां एक पक्की कुटिया बनवा दी जाय। तथा आप के भोजन की कुछ व्यवस्था कर दी जाए।

भर्तृहरि- इस की आवश्यकता नहीं। गुफा में भगवती के चरणों का सुख त्याग कर एक पक्की कुटिया का लोभ करूं, यह उचित नहीं। जहां तक भोजन व्यवस्था का प्रश्न है तो वृक्षों पर भगवान ने विभिन्न फलों के रूप में हमारी उदर पूर्ति की व्यवस्था हमारे यहां आने से पहले ही कर रखी है। कोई दूसरी व्यवस्था का अर्थ भगवान की व्यवस्था का अनादर करना होगा। भगवान का आश्रय छोड़ कर अन्य किसी का आश्रय क्यों लूं।

विक्रमादित्य- ऐसा त्याग मुझे कब प्राप्त होगा ?

भर्तृहरि- तुम्हारे त्याग का स्वरूप मेरे त्याग से भिन्न है। हम ने सब का त्याग किया है, तुम संसार में रहते हुए संसार का त्याग कर रहे हो। यदि देखा जाय तो तुम्हारा त्याग कहीं अधिक कठिन है। प्रजा की निस्वार्थ भाव से सेवा तुम्हारा तप है। सब के अपने-अपने संस्कार हैं।

विक्रमादित्य- आज तो मैं बिना आप की अनुमति लिए आ गया। भविष्य के लिए आप का क्या आदेश है ?

भर्तृहरि- वैसे तो सब का सदैव स्वागत है किन्तु इस बात का ध्यान रखा जाय तो उत्तम है कि लोगों के अधिक आने से हमारे कार्य में विघ्न पड़ता है, भाव खण्डित हो जाता है, लक्ष्य बहिर्मुखी हो जाता है।

विक्रमादित्य- मैं समझ गया। मार्ग दर्शन के लिए धन्यवाद।

महाराजा तथा महारानी प्रणाम कर के चल दिए।

तिब्बत प्रकरण की पुष्टि

अब धीरे-धीरे भर्तृहरि को अपनी अवस्था का भाव जाग्रत होता जा रहा था। वह चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर रहते हुए भी मानसिक रूप में अधिकांशतः तिब्बत के उच्च दुर्गम शिखरों पर ही निवास करते थे। उन की आखों के सामने गुरुदेव के आश्रम की गुफाएं घूमती रहती थीं। कभी आश्रम में मिले महापुरुष का स्मरण बना रहता तो कभी पृथ्वी पर पड़ा अपना मृतवत् शरीर दिखाई देने लगता था। किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि तिब्बत में भी उन्हें चामुण्डा माता की शक्ति ही सर्वत्र प्रसारित होती अनुभव होती थी। मन में माताजी को विराजमान कर के, वह मानसिक लोक में विचरण करते रहते थे।

एक दिन एक अदृश्य महापुरुष, जो पहले भी माताजी की टेकड़ी पर कई बार आ चुके थे, भर्तृहरि के सामने प्रकट हुए। जब भर्तृहरि ने उन्हें अपने गुरुदेव के विषय में बताया तो कहने लगे, "हम तो पहले से ही इस बात से अवगत थे कि तुम

एक महान योगी हो तथा अपने पार्थिव शरीर को तिब्बत के एक आश्रम में त्याग कर, भर्तृहरि के रूप में अपने कर्म-भोग भोगने तथा साधन करने में तत्पर हो। जिस प्रकार तिब्बत के अदृश्य महापुरुष कई बार भ्रमण करते हुए भारत आ जाते हैं, उसी प्रकार हम लोग भी कई बार घूमते हुए तिब्बत तथा अन्य देशों में चले जाते हैं। हम तुम्हारे गुरुदेव के आश्रम में भी दो-एक बार हो आए हैं तथा वहां रखा हुआ तुम्हारा स्थूल शरीर भी देख आए हैं।"

यह सुन कर भर्तृहरि चौंक उठे। उन्हें इस बात की समझ आ गई कि यह सभी अनुभव उन के मन की कल्पना मात्र नहीं थी वरन् तथ्य पर आधारित थे। फिर भी मन में रही थोड़ी सी शंका की निवृत्ति के लिए उन्हों ने प्रश्न किया, "गुरुदेव का आश्रम कैसा है?"

महापुरुष- आश्रम क्या है ? यहां-वहां छितरी पहाड़ी गुफाओं का समूह मात्र है। एक गुफा में तुम्हारा शरीर रखा है। साधक अपनी-अपनी गुफा में समाधि में लीन हैं। आने-जाने वाला कोई नहीं।

भर्तृहरि- यदि जाना चाहे तो कोई भी वहां जा सकता है ?

महापुरुष- नहीं। जिसे वह चाहें वही वहां जा सकता है ?अन्यथा वहां जा कर भी आश्रम दिखाई नहीं देता क्योंकि वह भौतिक नहीं है, भौतिक के आधार पर सूक्ष्म है।

भर्तृहरि- क्या वहां मेरे शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी का शरीर भी रखा है ?

महापुरुष- हां ! एक शरीर और है जो तुम्हारे शरीर से भी बहुत पहले का रखा है। तुम उस को जानते हो किन्तु इस समय भूल गए हो।

भर्तृहरि- साधक की ऐसी अवस्था कैसे आ सकती है कि वह किसी ऐसे आश्रम में प्रवेश पा सके तथा वहां रह सके।

महापुरुष- यह अवस्था निरन्तर साधन करते-करते आ सकती है किन्तु सामान्यतया साधक के साथ कठिनाई यह होती है कि वह साधन के प्रति तन-मन से समर्पित नहीं हो पाता। संसार के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि साधन क्षेत्र में प्रवेश करने के उपरान्त भी साधक के चित्त पर उनका प्रभाव कम नहीं होता। साधकों में ईर्षा, रागद्वेष, लोकेष्णा, क्रोध आदि विकार संसारी लोगों की अपेक्षा भी अधिक होते हैं। साधन-पथ जीवित रहते हुए मृत्यु को प्राप्त करने का पथ है तभी शाश्वत जीवन का मार्ग खुलता है। किन्तु वासना यह सब करने नहीं देती। ऐसे आश्रम उन लोगों के लिए होते हैं जिन के अन्तर् से संसार बहुत कुछ निकल चुका है। अनेकों महापुरुष ऐसे भी हैं जो किसी आश्रम की भी आवश्यकता नहीं समझते। वह

अकेले ही कहीं रह कर साधनरत् रहते हैं या भ्रमण करते रहते हैं।

इतना कह कर महापुरुष ने भर्तृहरि से विदा ली तथा अदृश्य हो गए। मैं ने महाराजश्री से कहा, "इस का अर्थ यह हुआ कि भर्तृहरि ने इसी जीवन में सभी आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं किया था अपितु उस के पीछे उन की जन्म-जन्मान्तर की, की हुई साधना थी"

महाराजश्री- इस में क्या शंका है ? साधन एक ऐसा क्रम है जो एक जन्म के पश्चात् अगले जन्म में भी चलता रहता है। बीच-बीच में साधक में, साधन के प्रति उदासीनता भी उदय होती रहती है जो उसे संसार के मिथ्या भोगों की ओर धकेलती है जैसा कि भर्तृहरि के साथ हुआ था। फिर किसी कारण उसे ठोकर लगती है तो पुनः संभल जाता है। भर्तृहरि भी कई बार गिरे, कई बार संभले। अनेकों जन्मों तक यह क्रम चलता रहा। अन्ततः वह अदृश्य महापुरुषों के आश्रमों तक पहूंच पाने में सफल हो गए। किन्तु वहां भी उन के संस्कारों ने उन का पीछा नहीं छोड़ा तथा पुनः वह अपने शरीर को वहीं छोड़ कर, भर्तृहरि के रूप में उज्जैन के राज परिवार में प्रकट हुए। यदि इस प्रकार देखा जाय तो जगत के सभी अध्यात्म-पथ के पथिक हैं। हम साधन-संपन्न व्यक्तियों को तो अध्यामिक मान लेते हैं किन्तु अध्यात्मक विमुख लोगों को देख कर उन्हें हेय समझते हैं किन्तु अध्यात्म से ऐसे उदासीन लोग, अध्यात्म की किस ऊंचाई से गिरे हैं तथा भविष्य में किस ऊंचाई को छुएगें, हम नहीं जानते। हो सकता है कि उन्हें हेय समझने वालों से वह आगे हों। जो आज आध्यात्मिक हैं, कौन जानता है कि आगे चल कर उन्हें, उन के संस्कार, कौन से गर्त में धकेल देंगे। जिन भर्तृहरि की संसार आज पूजा करता है कभी वह पिगंला पर अत्यधिक आसक्त थे, राग-रंग में मस्त, राजकाज से लापरवाह राजा थे। उस समय के भर्तृहरि की कौन पूजा करेगा। किन्तु किसे पता था कि यह विषयासक्त राजा जन्म जन्मान्तर का योगी है तथा इस का शरीर तिब्बत के एक आश्रम में सुरक्षित रखा है।

फिर भर्तृहरि के संस्कार बदले, स्त्री की बेवफाई के रूप में एक ठोकर लगी, जिस ने पुनः उन्हें अध्यात्म-पथ पर ला खड़ा किया। कबीर ने कहा है,'युगन युगन हम योगी।' हम एक दिन के योगी नहीं हैं। प्रत्येक जीव युगयुगान्तरों से योगी चला आ रहा है। प्रत्येक जीव का अन्तरात्मा तो सदैव योग में ही स्थित रहता है। अतः हरि-विमुखों से भी घृणा मत करो।

मैं ने कहा- किन्तु मनुष्य का अभिमान किसी से घृणा तथा किसी से द्वेष की ओर प्रेरित करता रहता है।

महाराजश्री- अभिमान ही तो सभी विकारों की जड़ है अभिमान हटाने के लिए ही साधन की आवश्यकता है। इसी के लिए तपस्वी वनों में जा कर तप तपते

हैं किन्तु अभिमान बढ़ता ही जाता है। यह एक भयंकर रोग है। कितना भी उपचार करो कम होने में नहीं आता। अभिमान को तोड़ने के लिए समर्पण पर बल दिया जाता है। अभिमान को एक ओर कर के ही कोई समर्पण कर पाता है।

भर्तृहरि के समीप उन की पत्नी अब क्रोध तथा घृणा की अधिकारिणी न रह कर, दया की पात्र थी। उन का सिर पिंगला के प्रति आभार से झुक जाता, जिस की एक ठोकर नें उन के सोए वैराग्य को जगा दिया था। पिंगला अब उन की माता के समान थी तथा माता के चरण-स्पर्श करने में कोई आपत्ति नहीं। वह मन ही मन पिंगला को प्रणाम करते। उस की बेवफाई से ही मैं पुन: अध्यात्म की ओर मुड़कर, आज यहां चामुण्डा के चरणों में पड़ा हूं तथा जहां मुझे गुरुदेव के पुन: दर्शन प्राप्त हुए और मैं अपनी पूर्व जन्म की भूली स्मृतियों को स्मरण कर सका। हे पिंगला ! तुम्हारा धन्यवाद। तुम्हारी जय हो।

भर्तृहरि गुफा में चामुण्डा के चरणों में बैठे प्रार्थना करते रहते, "हे मां, गुरुदेव के रुप में तुम समाधि लगा कर बैठ गई। अब तो गुरुदेव की गुफा के दर्शन भी दूर से ही होते हैं। पास जाने की भी अनुमति नहीं, किन्तु वह तो कई स्वरूपों में से तेरा एक स्वरूप है। बाकी के स्वरूपों में तुम अपने भक्तों की प्रार्थना सुनती हो। उन पर कृपा करती हो। हे मां। मैं भी तेरा चरणरज सेवक हूं। गुरुदेव से मेरा मिलना सुलभ करो मां। तुम्हारे लिए कुछ भी कर पाना कठिन नहीं।"

भर्तृहरि को ऐसे लगा जैसे मां कह रही हो, "वत्स ! मैं तुम्हारी पीड़ा समझती हूं। तुम्हारे गुरुदेव दीर्घकालीन समाधि में हैं, इस लिए शारीरिक रूप में उन का सानिध्य जीवन-काल में असंभव है किन्तु हां ! ध्यान की अवस्था में उन का दर्शन अवश्य हो सकता है" इस से भर्तृहरि के मन को काफी संतोष हुआ।

अब भर्तृहरि उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे थे जब उन को ध्यान में गुरुदेव के दर्शन होगे। प्रतीक्षा में कई दिन निकल गए। प्रति दिन वे इसी आशा से ध्यान में बैठते थे किन्तु निराश मन लेकर ध्यान से उठते थे। एक दिन बैठे तो ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था में चले गए। उन के गुरुदेव उन के सामने थे। भर्तृहरि ने कहा, "गुरुदेव ! मैं ने आप से पूछा था कि आप के सानिध्य में कैसा आया ? कृपा कर के इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल कर, मेरी जिज्ञासा शांत कीजिए।"

गुरुदेव- भर्तृहरि ! स्त्री की बेवफाई का तुम्हें पहली बार ही सामना नहीं करना पड़ा। तुम्हारा संस्कार काफी प्रबल है जिस से कई जन्मों से तुम को ऐसी परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। हर बार तुम वैराग्याभिभूत हो कर वैरागी बन जाते हो। पिछली बार जब तुम से ऐसी घटना घटी तो तुम घर-बार छोड़ कर भटक

रहे थे। हमारा और तुम्हारा मिलन जोशी मठ के पावन तीर्थ पर हुआ जहां तुम अलकनन्दा के किनारे गुमसुम बैठे थे। मैं आकाश मार्ग से जा रहा था तो तुम पर दृष्टि पड़ी। तुम्हारी मानसिक स्थिति तथा साधन की पृष्ठ भूमि समझते मुझे देर न लगी। मैं तुम्हें अपने साथ आश्रम में ले आया तथा तुम्हें साधन में प्रवृत्त कर दिया।

भर्तृहरि- गुरुदेव ! मैं साधन में प्रवृत्त हो गया तो फिर स्थूल शरीर वहीं छोड़ कर गर्भ में प्रवेश करने की क्या आवश्यकता थी ?

गुरुदेव- हम ने कहा न, कि तुम्हारा संस्कार बहुत प्रबल था। कई बार ठोकर खाने के उपरान्त भी उस का ज़ोर नहीं टूटा था। जब वह संस्कार पुनः तुम्हारे चित्त में उदय हो आया तो हम ने तुम्हें शरीर यहीं छोड़ कर किसी गर्भ में प्रवेश कर जाने कि लिए कहा। इस बार के मानसिक क्लेश तथा इस प्रकार के अनुभव की यह अन्तिम बार है। अब की बार तुम आश्रम पर लौट कर आओगे तो तुम्हें पुनः ठोकर खाने के लिए शरीर त्याग नहीं करना पड़ेगा। अब तुम उधर से अपने मन को हटा कर साधन में लीन हो जाओ। तुम्हारे जीवन का कठिन समय निकल चुका है। यहां भी तुम्हें आश्रम के समान साधन की सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं। चामुण्डा माताजी का आर्शीवाद तुम्हें प्राप्त है। एकान्त,वन,जल, फल, सभी कुछ तुम्हारे पास है, केवल अपने आप को निरन्तर साधन में लगाए रखने की बात है। माताजी की इस पहाड़ी को साधन-शिखर ही समझो" भर्तृहरि का ध्यान भंग हो गया

मैं ने कहा, "महाराजजी ! संस्कारों की लीला बड़ी प्रबल है। कैसे उठा-उठा कर पटकती है ? संस्कारों के फेर से निकल पाना कितना कठिन है। भर्तृहरि जैसे उत्कृष्ट साधक को भी कितना कुछ कई बार सहन करना पड़ा।

महाराजश्री- इस में क्या शंका है। साधक आत्म-संघर्ष का सामना कर रहा होता है। जब वह गिरता है तो जगत ताली बजाता है जब कि उस समय उसे सहारे की आवश्यकता होती है। जगत सहारा तो प्रदान कर नहीं सकता, बातें बनाता है। संसार के सभी जीव संस्कारों में उलझे है। आज एक गिरता है तो कल किसी दूसरे के गिरने की बारी आ जाती है। साधन आत्म-संघर्ष का मार्ग है, अपने मन से संघर्ष, वासना से संघर्ष,विकारों तथा क्लेषों से संघर्ष। कभी ऊपर तो कभी नीचे। इसी प्रकार साधन का क्रम धीरे-धीरे खिसकता है।

अब भर्तृहरि प्रायः सारा समय साधन में ही बिताने लगे थे। जब भूख लगती तो पहाड़ी से उतर कर वृक्षों से फल एकत्रित कर के खा लेते थे। बंदर तथा सांप उन के साथी थे ही, वह भी साथ-साथ घूमते। गुफा के बाहर हों अथवा अंदर, भर्तृहरि प्रायः ध्यान में ही रहते थे।

मैं ने महाराजश्री से पूछा, "निरन्तर साधन करना तथा ध्यान जमाय रखना

तो बड़ा कठिन है। मन को किसी ध्येय पर, अथवा क्रिया पर स्थिर करने का प्रयास करो, तो मन पता नहीं, कहां-कहां भटकता फिरता है। फिर भर्तृहरि ध्यान की अवस्था कैसे रख पाते थे।

महाराजश्री- जिन का मन अस्थिर है उन के लिए ध्यान की निरन्तरता असंभव है, किन्तु भर्तृहरि का मन चंचलता त्याग चुका था। वह एक समर्पित सेवक की भांति उन के हर संकेत के अनुसार कार्य करता था। वे मन को जहां लगाते, लग जाता। जहां से हटाते, हट जाता। इस लिए ध्यान की अवस्था बनाय रखने में कठिनाई नहीं थी।

एक दिन ध्यान में गुरुदेव फिर प्रकट हुए। भर्तृहरि ने कहा, "आप का आश्रम फिर एक बार देखने की इच्छा है।"

गुरुदेव- अब आश्रम पर तुम्हारा जाना तभी हो पायगा जब इस शरीर को त्याग कर, अपने पूर्व जन्म के शरीर में प्रवेश करने वहां आओगे। किन्तु अभी यदा-कदा ध्यान में उस स्थान के दर्शन होते रहेंगे।

भर्तृहरि- इस शरीर से कब मुक्ति प्राप्त होगी ?

गुरुदेव- यह योगियों का दृष्टिकोण नहीं। योगी न मौत से डरता है, न मौत को बुलाता है। यहां भी तुम्हें क्या कष्ट है ? साधन करना है सो तुम कर ही रहे हो। हां, वहां आ कर तुम्हारा छूटा हुआ क्रम अवश्य चलने लगेगा। चिन्ता मत करो यथा समय भगवान सब ठीक करेंगे।

दोपहर का समय था। भोजन के उपरान्त मैं कुछ तन्द्राभिभूत हो गया था। स्वप्न में क्या देखता हूं कि मैं एक हरी-भरी पहाड़ी पर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा हूं कि जंगल में से शेर के दहाड़ने की आवाज़ सुनाई देती है। मैं गिरता-पड़ता, हांफता पहाड़ी पर तीव्रगति से चढ़ने का प्रयत्न करता हूं कि जंगल में से शेर दहाड़ने की पुनः आवाज़े आती है। मैं घबरा कर पहाड़ी पर चढ़ने में शीघ्रता करता हूं। ऊपर पहुचनें पर एक गुफा दिखाई देती है जिस में कोई लेटा हुआ है। मुझे घबराया देख कर वह व्यक्ति कहता है कि डरने की कोई बात नहीं। यह शेर किसी को हानि नहीं पहुंचाता। मैं पूछता हूं, "आप कौन है" तो वह कहता है, मैं यहीं रहता हूं। मेरा नाम भर्तृहरि है"

जागने पर देखा तो महाराजश्री बराण्डे में बैठे थे। मैं ने अपना स्वप्न कह सुनाया तो कहने लगे, "आजकल भर्तृहरि की बातें चलती रहती हैं तो तुम्हें यह स्वप्न आ गया। वैसे उन से क्या बात हुई ?"

मैं ने कहा "बात कुछ नहीं हुई। उन्हों ने अपना नाम बताया तो मेरी आंख

खुल गई।"

महाराजश्री- भर्तृहरि महान योगी थे, तपस्या, त्याग और वैराग्य का मूर्तिमान स्वरूप। उन का दर्शन हो जाना ही बहुत बड़ी बात है। ऐसे सात्विक स्वप्नों का जीवन में विशेष महत्त्व होता है।

मैं ने कहा- किन्तु आप को भर्तृहरि जाग्रत में दिखाई भी देते हैं तथा आप उन की बात भी सुनते हैं।

महाराजश्री- अपनी-अपनी चित्त की अवस्था है।

भर्तृहरि कीध्यान की अवस्था निरन्तर बढ़ती जा रही थी। पहले तो घण्टों समाधि में बैठते थे,। किन्तु अब कई-कई दिन इसी अवस्था में व्यतीत होने लगे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन का आश्रम का क्रम यहीं चलने लग गया था। कभी-कभार कोई दर्शनार्थी चला आता तो इन को समाधि में बैठे देख कर ही लौट जाता था। भर्तृहरि का शरीर तो दुबला हो रहा था किन्तु शक्ति तथा फुरती में कोई कमी नहीं आई थी। इन दिनों वे प्रायः पीपल फल अथवा पत्ते उबाल कर लिया करते थे। वह भी तब जब समाधि से उठते थे

इस प्रकार भर्तृहरि के दिन व्यतीत होते गए।

मैं ने महाराजश्री से कहा "बड़े-बड़े योगियों की बात और है। वह तो समधि लगा कर बैठ जाते हैं। न कमाने की कोई चिन्ता, न कोई उत्तरदायित्व। न लड़के-लड़की शादी करना न कोई सामाजिक कर्तव्य। किन्तु जिन्हें समाज में रहना है, जिन्हे सौ चिन्ताएं तथा उत्तरदायित्व हैं, उन से कई प्रकार की भूलें हो जाना भी स्वाभाविक हैं। वह समाधि लगा कर बैठ जायं तो कैसे काम चले।

महाराजश्री-(हंसते हुए) देखो ! समाधि लगा कर बैठ जाना सब के बस की बात नहीं, न ही सब के भाग्य में है। इस के लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना चाहिए तब कहीं जा कर यह स्थिति आती है। ऐसा नहीं है कि जो चाहे समाधि लगा कर बैठ जाए। जिन को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह कितनी समस्याओं, चिन्ताओं तथा उत्तरदायित्वों में से होकर निकले हैं। उन्हें जगत तथ मन दोनों से संघर्ष करना पड़ा है। उन्हों ने कितना सहन तथा तप कर के अपने प्रारब्ध का क्षय किया होगा ? कितने संकट झेले होंगे तब कहीं जा कर समाधि के योग्य मन की स्थिति निर्मित हो पाई। जिन के सामने प्रारब्ध खड़ा है,उन्हें पहले प्रारब्ध से निपटना है, यही उन का तप है।

जो लोग इन योगियों को देख कर यह सोचते हैं कि इतना श्रम वह तो कर नहीं सकते, ऐसे लोग कुछ करना ही नहीं चाहते। चाहिए तो यह कि जो साधन उन

के अनुकूल हो, जिसे वह कर सकते हों, उसे आरंभ कर दें। धीरे-धीरे चित्त-स्थिति बदलते जाने के साथ, उन के साधन का स्वरूप भी बदलता जाएगा। अन्ततः वह समाधि की योग्यता प्राप्त कर लेंगे। इस में उन्हें कठिनाइयां तो आएंगी किन्तु यदि लगे रहे तो अन्ततः सफल होंगे। पर यात्रा लम्बी तथा कठिन है।

इस में प्रारब्ध प्रथम व्यवधान है। जीव का स्वनिर्मित जाल है। अपने ही द्वारा अपने चारों ओर बनाई गई दीवार है। जीव जैसा वृक्ष लगाता है वैसा ही फल खाता है किन्तु जीवन भर भी इस तथ्य का ज्ञान नहीं कर पाता। यदि यह बात उस के समक्ष उजागर हो जाय तथा उस के अनुरूप अपने आप को ढाल ले, तो उस का महान योगी होने का मार्ग प्रशस्त होने लगता है। प्रारब्ध के गर्त में गिरा जीव, योगी बन्नने का स्वप्न भी नहीं ले सकता। प्रारब्ध-चक्र में ही कोल्हू के बैल की तरह घूमता रहता है। कर्म-चक्र से मुक्ति में ही योग की सिद्धि का रहस्य छिपा है।

एक दिन भर्तृहरि ने ध्यान में देखा कि उस के गुरुदेव एक पहाड़ी के ऊपर चढ़े जा रहे हैं। हाथ में कमण्डलु, लम्बे, गौर वरण, चमकीला शरीर। पहाड़ी के ऊपर जा कर गुरुदेव की आकृति चामुण्डा माताजी की आकृति में परिवर्तित हो गई। भर्तृहरि चकित होकर देख रहे थे सहसा चामुण्डा माताजी की आकृति ने पहाड़ी से नीचे उतरना आरंभ कर दिया। आकृति भर्तृहरि की ओर बढ़ती आ रही थी। जब पास आई तो फिर गुरुदेव का रूप धारण कर प्रकट हो गई।

भर्तृहरि ने प्रणाम किया तथा निवेदन किया, "गुरुदेव। यह क्या कौतुक है ? कभी आप का रूप तो कभी चामुण्डा माताजी का रूप ! आप का वास्तविक स्वरूप क्या है।

गुरुदेव- भर्तृहरि। चामुण्डा ही गुरु का यथार्थ स्वरूप है। सभी शरीर, चाहे गुरु का हो या शिष्य का, चामुण्डा की कार्य स्थलियां हैं। वही गुरु रूप में कृपा करती है तथा वही शिष्य रूप में कृत्कृत्य होती है। सारा संसार उस की नृत्यशाला है। वही प्रत्येक् जीव के प्राण है।

भर्तृहरि- जब चामुण्डा ही समान रूप से सब में विद्यमान तथा कार्यशील है तो फिर क्यों कोई गुरु है तो कोई शिष्य, तो कोई गुरु-शिष्य संबध से उदासीन। कोई अत्याचार करता है तो कोई सहता है। कोई जन्मता दिखाई देता है तो कोई मरता। सारा संसार चामुण्डा के रूप में क्यों अनुभव नहीं होता। कहीं जड़ दिखाई देता है तो कहीं चेतन। सारे जगत में चामुण्डा ही तो व्याप्त है, फिर यह भिन्नता क्यों ?

महाराजश्री- इसी को कोई चामुण्डा की लीला कहता है तो कोई उस की माया। लीला कहने वाले लीला केवल कहते ही हैं, उन्हें लीला कहीं दिखाई नहीं

देती। यदि संसार को भगवती की लीला मानते-समझते हैं तो इस के घटना-क्रम से उन का चित्त प्रभावित क्यों हो जाता है। यही हाल संसार को माया कहने वालों का भी है। प्रवचन सुन कर अथवा पुस्तकें पढ़ कर वह लोग लीला तथा माया की बातें करने लगते है। संसार उन्हें न भगवती की लीला दिखाई देता है न माया। वह कल्पनाओं तथा भावनाओं में ही विचरते रहते हैं।

तुम यह जानते ही हो कि चामुण्डा की शक्ति कभी प्रसवक्रम में (जगदाभिमुखी)गतिशील होती है तो कभी प्रतिप्रसव क्रम में (आत्माभिमुखी)प्रसव क्रम में नानात्व का प्रदर्शन भगवती की लीला का क्रम है। प्रतिप्रसवक्रम में वह नानात्व को विलीन करती जाती है। नानात्व की अभिव्यक्ति में सब इस लीला से मोहित हो जाते हैं। उन में अभिमान तथा अन्य विकार विकसित हो उठते हैं। कोई शोषक बन जाता है तो कोई शोषित। कोई विषय प्राप्त हो जाने पर प्रसन्नता से झूम उठता है तो कोई विषयों के लिए लालयित भागा फिरता है। अज्ञानियों के लिए यह जगत दुखों का कारण है तो ज्ञानियों के लिए भगवती की लीला है। वासनाओं संस्कारों के कारण भगवती ही जीव को बंधन में डालती है, तथा भगवती ही गुरु के माध्यम से शिष्य पर कृपा कर, जगत-बंधन से उस की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। शोषक क्या भगवती के सहयोग के बिना शोषण कर सकता है ? क्या भगवती के सहयोग के बिना शोषित शोषण सहन कर सकता है ? तुम हमें जो योगी के रूप में देख रहे हो, सब चामुण्डा की लीला है।

चामुण्डा को लोग सर्वसुख-प्रदाता के रूप में देखते हैं तथा उस से जगत की कामनाओं की पूर्ति की आशा करते हैं, जब कि जगत में आत्म-सुख से बड़ा कोई सुख नहीं। भगवती किसी को सुख देती है तो किसी को दुख दे कर उस के सुख का द्वार खोल देती है। वह कल्याण कारिणी है, सब का कल्याण चाहती है किन्तु जगत के प्रायः जीव विषयसुख भोगते हुए आत्म सुख प्राप्त कर लेना चाहते हैं। यदि आत्मतत्त्व का सुख प्राप्त करना है तो विषयों में सुख की भावना का त्याग करना होगा। पहले संसार से आसक्ति हटेगी, फिर संसार हटेगा।

मैं ने कहा- सुना है कि तिब्बत में कुछ इस प्रकार की विद्या है कि कुछ जड़ी बूटियों की विशेष सहायता से शल्य चिकित्सा के द्वारा तीसरा नेत्र खोल देते हैं।

इस पर महाराजश्री ज़ोर सें हंसे तथा बोले, "तीसरा नेत्र भौतिक है कोई क्या ?शल्य क्रिया का संबध भौतिक शरीर से है। तीसर नेत्र आन्तरिक ज्ञानात्मक है। जब यह नेत्र खुल जाता है तो जगत की प्रलय हो जाती है। यह अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष से आगे बढ़ कर, विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष के मध्य में स्थित है जो कि जड़-चेतन की ग्रन्थि खुल जाने के उपरान्त खुलता

है। वहां भौतिक शल्य-क्रिया की भला पहुंच कहां ? तब या तो जगत विलीन हो जाता है अथवा उस का नामरूपात्मक महत्त्व समाप्त हो जाता है। माया के आवेश में यह नेत्र बंद हो जाता है। इस के खुलते ही माया विलीन हो जाती है। यह अवस्था प्राप्त करना बहुत दूर की बात है। बड़े-बड़े योगियों को भी इस बारे में जिज्ञासा करने का अधिकार नहीं। सामान्य साधक की अवस्था तो अभी अन्नमय कोष तक ही सीमित है किन्तु बात तीसरी आंख खुलने की करते हैं।

मैं ने महाराजश्री से निवेदन किया, "किन्तु महाराजजी। तीसरा नेत्र खुल जाने की बात का शोर बहुत है। प्रायः लोग इस की चर्चा किया ही करते हैं।

महाराजश्री- यह सब अनधिकार चेष्टा है। जिन को अभी शक्ति की अन्तर्मुखी क्रियाशीलता की अवस्था भी प्राप्त नहीं हुई वह भी तीसरा नेत्र खुलने की बात करते हैं। वह तो समाधि के पश्चात् की अवस्था की चर्चा भी करते हैं। वह यह भी जान लेना चाहते हैं कि ब्रह्म कैसा हैं। जब कि अभी तक वह सभी वासनाओं की चक्की में ही पिस रहे हैं। इस को अनधिकार चेष्टा नहीं तो क्या कहा जायगा ?

मेरा दूसरा प्रश्न- आप ने चामुण्डा माताजी की इस पहाड़ी को साधन-शिखर कहा, किन्तु वर्तमान में वहां माताजी के मंदिरों के अतिरिक्त कोई साधक तो है नहीं।

महाराजश्री- टेकड़ी का साधन-शिखर स्वरूप जैसा पहले था आज भी वैसा ही है। साधक अभी भी हैं किन्तु अदृश्य-अवस्था में। यह मेरा अनुमान नहीं, अनुभव भी है। इस के अतिरिक्त अदृश्य महापुरुषों का आना-जाना भी बना रहता है। जो लोग माताजी के दर्शन करने जाते हैं, उन की आन्तरिक स्थिति के बारे तुम कुछ नहीं कह सकते कि किस की कैसी मानसिक स्थिति हैं। हां ! पहले की तरह प्रकट साधकों को जमावड़ा नहीं है। साधक यहां आ कर क्या करते है तथा क्या प्राप्त करते हैं, ? यह भी तुम नहीं जान सकते। यह सही है कि आज प्रायः सकाम भक्त ही अधिक आते हैं तथा कुछ की मनोकामना भगवती पूर्ण भी कर देती है, किन्तु फिर भी इस पहाड़ी का साधन-शिखर स्वरूप भी अभी तक अक्षुण्ण बना है।

मैं ने कहा- फिर नारायण कुटी भी तो इस टेकड़ी पर ही स्थित है जहां आप जैसे महापुरुष निवास करते हैं।

महाराजश्री- हम कहां के महापुरुष हो गए ? वैसे अब तो आबादी बढ़ते-बढ़ते इस पहाड़ी के ऊपर तक आ गई है। पता ही नहीं चलता कि पहाड़ी कहां से आरंभ होती है, अन्यथा आश्रम भी है टेकड़ी के ऊपर ही स्थित।

अब आस-पास के गांव में भर्तृहरि की प्रसिद्ध फैल चली थी जिस से

दर्शनार्थियों का आना-जाना बढ़ गया था। जंगल के भय के कारण लोग समूह में आते थे। ऊपर जाने का जैसा-कैसा पगडंडी का मार्ग बन ही गया था। महाराजा विक्रमादित्य तो भर्तृहरि के एकान्त का ध्यान रखतें हुए प्रायः टेकड़ी के नीचे से ही प्रणाम कर के चले जाया करते थे किन्तु सामान्य जन इस बात का ध्यान नहीं रख पाते थे। जब भी मन में आया, इक्ट्ठे हुए और चल दिए। इस से भर्तृहरि के ध्यान में विघ्न उपस्थित होने लगा। कुछ दिनों तक तो उन्हों ने सहन किया। फिर एक दिन भक्त लोग आए तो उन्हों ने कहा, "कभी कोई आ जाता है तो कभी कोई। इस प्रकार हमारे ध्यान की हानि होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि आप लोग सप्ताह में कोई सा भी एक दिन निश्चित कर लें। सब लोग उसी दिन आएं। बाकी दिनों में हमारा ध्यान निर्विघ्न चलता रहे।" सब ने इस बात को स्वीकार कर लिया तथा गुरुवार का दिन निश्चित कर लिया गया।

मैं ने पूछा- क्या भर्तृहरि ने किसी को शिष्य भी बनाया ?

महाराजश्री- भर्तृहरि साधक थे। साधक के पास इतना समय ही कहां होता है कि शिष्यों का बोझ ढोता फिरे। उसे अपनी यात्रा पूरी करने की चिन्ता होती है। वैसे भी इस तरह के कई महापुरुष हो गए हैं जिन्हों ने कोई शिष्य नहीं बनाया। कबीर, तुलसी, सूरदास, मीरा बाई आदि इसी श्रृंखला में आते हैं। भर्तृहरि भी उन्हीं में एक थे। उन में स्वयं में शिष्यत्व का भाव इतना प्रबल था कि वह किसी को शिष्य रूप में ग्रहण नहीं कर पाए। ठीक भी है जो आनंद शिष्य बन कर रहने में है वह गुरु बन कर जीने में कहां है ?

मैं ने कहा- इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा कैसे चलेगी ? यदि सभी लोग साधक तथा शिष्य वृत्ति अपना लें तो जगत कल्याण कैसे होगा ? जब कि शास्त्रों ने गुरु की कितनी महिमा गाई है।

महाराजश्री-शास्त्रों तथा संतो ने जहां गुरु की इतनी महिमा गाई है वहीं यह भी बताया है कि गुरु कैसा होना चाहिए। जो अपनी यात्रापूरी कर चुके हैं या पूरी कर चुकने के समीप हैं, अथवा जिसे जगत में इसी उद्देश्य से भेजा गया है, गुरु कार्य करना उन का उत्तरदायित्व है। आज तो शास्त्रों तथा संत वचनों की आड़ में कैसे-कैसे अनधिकारी भी गुरु बने बैठे हैं।

मैं ने कहा- किन्तु भर्तृहरि तो जन्म-जन्मान्तर के महान योगी थे, उन को गुरुकार्य करना चाहिए था।

महाराजश्री- यह तुम्हारा विचार है। भर्तृहरि को ऐसी कोई लालसा नहीं थी। वह अपने गुरुदेव के ध्यान में ही लीन रहना चाहते थे। इसी में अपना कल्याण देखते थे। गुरु-कार्य को वह दलदल में धंस जाने के समान मानते थे। गुरु वह है जो

गुरु-कार्य तो करे किन्तु स्वयं दलदल में न धंसे।

भर्तृहरि काफी समय तक माताजी की गुफा में ध्यान करने के उपरान्त प्रणाम कर के बाहर निकले तो सामने पिंगला खड़ी थी। उस ने साष्टांग प्रणाम करने के पश्चात कहा, "आप ने तो संसार का त्याग कर के तथा अपने आप को साधन भजन में लगा कर अपना उद्धार कर लिया किन्तु मेरा क्या होगा ? मैं हर समय पश्चाताप् का अग्नि में जलती रहती हूं। राज महल के रेशमी बिछौने मुझे कांटो की तरह चुभते रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे सारा जीवन दुखों की असह्य पीड़ा सहन करते बीत रहा है।"

भर्तृहरि- माता ! सब प्रारब्ध का खेल है। जीव को अपना प्रारब्ध भोग सहन करना ही पड़ता है। यदि उसे तपस्या का रूप दे दिया जाय तथा शान्त चित्त से भोगा जाय तो एक दिन प्रारब्ध समाप्त हो जाता है। साधन-भजन एवं ईश-आराधना अपने आप को प्रभु-कृपा के उन्मुख बनाय रखना है। हम यदि साधन-भजन में लग गए हैं तो तुम्हें उसके लिए किस ने मना किया है। तुम भी अपने आप को इधर प्रवृत्त कर के अपने उद्धार का द्वार खोल सकती हो। इस में तुम पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो। शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का मार्ग भी यही है।

पिंगला- महाराज ! आप का कहना सब सत्य है, मैं इस दिशा में प्रयास भी करती हूं किन्तु मन की चंचलता शान्ति से बैठने नहीं देती। मन कभी विषयों की ओर उछल जाता है तो तभी अतीत में झांकने लगता है। आप तपस्वी हैं। आप ने तो अपने मन को समझा लिया है किन्तु मेरा मन मेरे वश में नहीं।

भर्तृहरि- मन प्रयत्न किए से वश में नहीं आता, ईश्वर की कृपा से काबू में आता है तथा ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए जप, प्रार्थना, पूजापाठ आदि प्रयत्न किए जाते हैं। तुम ईश्वर के आश्रित हो कर भजन-ध्यान करती रहो एक दिन भगवान अवश्य ही तुम पर कृपा करेंगे।

मैं ने कहा- अपनी पत्नी को माता कहना बड़ा कठिन है।

महाराजश्री- कठिन अवश्य है। इस के लिए मानसिक तैयारी की पूर्ण आवश्यकता है। देखो दो प्रकार के वैरागी होते हैं। एक त्यागी-वैरागी जो संसार-व्यवहार का त्याग कर पूर्ण कालिक साधन में लीन हो जाते हैं। यही निवृत्ति मार्ग है। जिस में न कोई मित्र-शत्रु रहता है और न ही पत्नी-भगिनी। भर्तृहरि त्याग-वैराग्य एवं तपस्या की प्रतिमूर्ति थे। वह पूर्णरूपेण निवृत्ति परायण महात्मा थे। उन के समक्ष जगत का महत्त्व गौण हो चुका था। उन के लिए पत्नी को माता कह कर संबोधित करना सामान्य बात थी। संसारी लोगों को चाहे यह बात अटपटी लगे किन्तु जो जीते जी संसार रूपी नदी को पार कर गए हैं उन के लिए यह बड़ी बात नहीं।

वैरागी का दूसरा स्वरूप व्यवहारिक वैराग्य का है जिस में साधक जगत व्यवहार करता हुआ जगत से अछूता रहता है। पारिवारिक तथा सामाजिक नियमों और मर्यादाओं का पालन करता हुआ, सब की सेवा तथा कर्तव्य-पालन में रत् रहता है। अपनी पत्नी से अनासक्त रहते हुए,पति के धर्म का पालन करते हुए, शास्त्रानुसार दाम्पत्य का निर्वाह करता है। महाराजा विक्रमादित्य इस के सशक्त उदाहरण हैं। किन्तु कहने में तो यह दोनों मार्ग बड़े सरल हैं किन्तु करने में अत्यन्त कठिन हैं। यह दोनों मार्ग परमार्थ-यात्रा के लिए आवश्यक चित्त की आन्तरिक अवस्थाएं हैं।

मैं ने कहा- सामान्यत: संसारी अपने आप को प्रवृत्ति-मार्गीय मानते हैं।

महाराजश्री- यह उन की नासमझी है। मानने को तो तथाकथित साधु भी अपने आप को निवृत्ति मार्गीय कहते हैं जब कि अभिमान तथा रागद्वेष में आकण्ठ डूबे हैं। न यह प्रवृत्ति है न ही निवृत्ति।

मैं ने कहा- तो प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है ?

महाराजश्री- अरे भई ! जगत में रहते हुए, व्यवहार करते हुए, जगत में नहीं रहना प्रवृत्ति है। कर्म करते हुए भी अकर्ता बने रहना प्रवृत्ति है कर्म में प्रवृत्ति तथा मन में निवृत्ति प्रवृत्ति है जब कि जगत में नहीं रहते हुए, अर्थात् सभी व्यवहार का त्याग कर के जगत में रहना निवृत्ति है

मैं ने कहा,- यह दोनों मार्ग कठिन कैसे हैं।

महाराजश्री- निवृत्ति इस लिए कठिन है क्योंकि मन चंचल है तथा चित्त वासनायुक्त है। जब तक मन निर्मल नहीं हो जाता, कठिनाई बनी रहती है। मन की चंचलता निवृत्ति को खण्डित करने का प्रयत्न करती रहती है तथा चित्त में वासनाएं उभरती रहती हैं। प्रवृत्ति में भी कठिनाई मन की चंचलता तथा वासना ही है। जगत का संपर्क वासनाओं को उभारने में सहायक होता है। संसार तथा तन का संयोग प्रवृत्ति में विषयों का विष घोलता रहता है। कर्तव्यकर्म आसक्ति युक्त कर्म में परिवर्तित होता रहता है। बस यही समझो. कि प्रवृत्ति से निवृत्ति कठिन है तथा निवृत्ति से प्रवृत्ति।

भर्तृहरि तथा महाराजा विक्रमादित्य निवृत्ति मार्गियों तथा प्रवृत्ति-मार्गियों के आदर्श हैं। भर्तृहरि ने त्याग एवं तपस्या का मार्ग अपनाया तो महाराजा विक्रमादित्य ने कर्तव्य-पालन,जन-सेवा तथा मर्यादाओं को जीवन में धारण करने का आदर्श साधकों के सन्मुख रखा। भर्तृहरि ऐसे वैरागी थे कि उन का स्मरण करते ही मन में उपरामता उदय होने लगती है। उन्हों ने राज वैभव तथा संसारी सुखों का त्याग कर अध्यात्म, तपस्या तथा पवित्रता का मार्ग अपनाया। उन के कथनानुसार भोग में

रोग निहित है। यदि किसी के पास धन है, तो राजा का भय है। यदि कोई मौन धारण कर ले तो दीनता सिर पर मंडराने लगती है। बलशाली को शत्रु दिखाई देता है। पाण्डित्य में वाद-विवाद में हार जाने का भय सताता है। गुणवान को मूर्ख परेशान करते है। शरीर में आसक्ति हो तो मृत्यु पास आते दिखाई देती है, किन्तु वैराग्य में किसी प्रकार का भय नहीं। जब सभी भय-जनित पदार्थो से वैराग्य हो जाता है तो भय के सभी कारण समाप्त हो जाते हैं।

गांव वालों से बात चीत

अब दर्शनार्थियों ने प्रत्येक् गुरुवार को आना आरंभ कर दिया था। उन लोगों से भर्तृहरि हलकी-फुलकी बातें करते थे। प्राय: उन के प्रश्न इतने गंभीर नहीं होते थे किन्तु फिर भी भर्तृहरि प्रत्येक् प्रश्न का उत्तर गंभीरता पूर्वक देते थे।

प्रश्न- क्या भजन करने के लिए एकान्तवास अनिवार्य है ? हम तो गृहस्थ हैं। आप की तरह एकान्त में रहना हमारे लिए संभव नहीं।

उत्तर- आप लोगों की न वैसी स्थिति है न एकान्त में आप अभी रह सकते हैं, तथा न ही आप को आवश्यकता है। विरक्तों के एकान्त तथा गृहस्थों के एकान्त में अन्तर होता है। जहां हमें निरन्तर एकान्त की आवश्यकता है वहीं आप को भजन के समय का एकान्त पर्याप्त है। बाकी समय में आप व्यवहार के साथ अपने मन को अप्रभावित रखने का प्रयत्न करें।

प्रश्न- क्या तीर्थ-यात्रा भी भजन में सहायक है ?

उत्तर- तीर्थ-यात्रा यदि शास्त्रीय पद्धति के अनुसार की जाय तो सहायक है। प्रसन्नतापूर्वक, बिना क्रोध किए, अप्रतिकारपूर्वक, मान-अपमान को सहन करते हुए, अधिक से अधिक जप करते हुए, मार्ग में आने वाले महात्माओं के साथ सतसंग का लाभ लेते हुए, आदि बातों का ध्यान रखा जाय, तभी यात्रा का कुछ आध्यात्मिक लाभ है, अन्यथा दिल बहलावा है।

प्रश्न- हमारे गांव में मन-मुटाव बहुत है। नित्य प्रति कहीं न कहीं कहा-सुनी होती रहती है। आप इस का कोई उपाय बतलाएं, जिससे शान्ति रहे।

उत्तर- मनमुटाव का मुख्य कारण अहंकार ही मानव का प्रबलतम शत्रु है। यदि आप लोग मन से अहंकार को त्याग दें तो बाकी समस्याएं सुलझते देर नहीं लगेगी। अहंकार का नाश भजन के बिना नहीं होता।

प्रश्न- हमें यह समझ नहीं आती कि भजन क्या करें ?

उत्तर- आप की भगवान के बारे में कुछ तो कल्पना-भावना होगी। उसी की सेवा, उसी का स्मरण तथा उसी का जप, यहां से आप आरंभ करें। भजन ही आप को रास्ता दिखाए गा।

प्रश्न-हम तो कुछ नहीं जानते। केवल तुलसी जी पर नित्य प्रति एक लोटा जल चढ़ा देते हैं।

उत्तर- तुलसी जी के विषय में आप की क्या धारणा है ?

प्रश्न- हमारी धारणा यह है कि तुलसी जी एक देवी है जो हम से कहीं अधिक शक्तिशाली है तथा हमारे कष्टों को हरण कर, हमें सुखी कर सकती है।

उत्तर- बस ! बस ! हो गया। ईश्वर की ओर बढ़ने का मार्ग मिल गया। तुम्हारे मन की यह धारणा ही तुम्हारे मन का विकास करती जायेगी, पहले पगडंडी पर चलोगे, फिर उत्तरोत्तर चौड़ा मार्ग मिलता जायगा।

आस-पास के गावों के लोगों के कुछ इस प्रकार के सीधे-सादे प्रश्न ही भर्तृहरि के समक्ष उपस्थित होते थे तथा वह भी उन का प्रेमपूर्वक समाधान करने का प्रयत्न करते थे।

भर्तृहरि का अन्यत्र गमन

भर्तृहरि का साधन-मय समय व्यतीत हो रहा था किन्तु उन के मन में एक शंका समाती जा रही थी। अभी तक उन के मन में इस स्थान के प्रति आसक्ति ने अपना घर नहीं बनाया था किन्तु उन्हें अपने अन्तर में इस स्थान के लिए मोह बीज के अंकुरित होने का आभास अवश्य होने लग गया था। आसक्ति किसी भी रूप में क्यों न हो, तथा किसी भी गुण से प्रभावित हो, वह कालान्तर में बंधन का कारण होती है। संभवतः इसी लिए विरक्तों में अपना स्थान बदलते रहने की परिपाटी रही है ताकि किसी स्थान से, किसी विशेष प्रकार की सुविधाओं तथा परिस्थितियों मे, एवं वहां पर रहने वाले लोगों से,अन्तर् में मोह न पनप सके। अब भर्तृहरि मन ही मन बेचैन रहने लगे थे। संकट अपने सामने स्पष्ट दिखाई देने लगा था। उन का मन होता कि इसी क्षण वहां से भाग खड़े हों किन्तु फिर चामुण्डा माताजी के चरणों के सानिध्य का ध्यान आ जाने पर वह सोच में पड़ जाते थे।

एक दिन ध्यान में उन के सामने गुरुदेव प्रकट हो गए तो भर्तृहरि ने कहा, "गुरुदेव ! मैं दुविधा में पड़ा हूं। मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि मेरे अन्तर् में इस स्थान के प्रति मोह का अंकुर फूट रहा है। मैं क्या करूं ?

गुरुदेव- तुम्हारी दुविधा उचित है। जब तक मन में मोह का तनिक सा अंश भी विद्यमान हो तब तक विरक्त को अपना स्थान बदलते रहना ही उचित है। मोह, माया का परिणाम है। माया अत्यन्त सशक्त है। मोह में डूबा जीव माया के गर्त में समा जाता हैं। इस लिए तुम्हारे लिए यह स्थान छोड़ देना ही उचित है।

भर्तृहरि- किन्तु यहां पर भगवती के चरण तथा नित्य आर्शीवाद सुलभ है। फिर उस से वंचित हो जाऊंगा।

गुरुदेव-यह अपने स्थानान्तरण को अनुचित ठहराने के लिए तुम्हारे मन की बहाने बाज़ी है। भगवती सर्वव्यापक है। यहां उस का अनुग्रह अवश्य प्रकट है किन्तु तुम्हारे जैसे उन्नत साधकों के लिए सर्वत्र उपलब्ध है।

अब भर्तृहरि के सामने अपना कर्तव्य स्पष्ट था। उन्हें निर्णय करने में देर न लगी। उन का सारा सामान केवल दो कौपीनों तक सीमित था, न उन्हें किसी से जाने की अनुमति लेनी थी, न किसी से मिलना था। वह गुफा में गए, तथा चामुण्डा माताजी को प्रणाम कर के कहने लगे, "हे मां, इतने दिनों तक तुम्हारे आश्रय में रहा हूं। तुम्हारे चरण सारे संसार में व्याप्त हैं। तुम्हारी कृपा सर्वत्र बरसती है। तुम से यही प्रार्थना है कि तुम्हारी शरण मुझे सदैव प्राप्त रहे"

इतना कह कर तथा पुनः प्रणाम कर भर्तृहरि तीव्र गति से गुफा से बाहर निकले। एक कौपीन शरीर पर थी, दूसरी कंधे पर रखी तथा शीघ्रतापूर्वक पहाड़ी से नीचे उतर गए। फिर किसी ने कभी उन्हें टेकड़ी पर नहीं देखा। चारों ओर वृक्ष-समूहों से घिरी पहाड़ी अभी तक भी वैसे ही सिर ऊंचा उठाए सुशोभित थी। जंगली पशुओं की विहार-लीला भी पूर्ववत् थी, किन्तु एक यात्री कुछ देर यहां बसेरा कर के जा चुका था। उस के जाने के पश्चात् सब कुछ पूर्ववत होते हुए भी एक अलौकिक उदासी सी वातावरण मे उभर आई थी। माता की आखों से भी दो बूंदे टपक कर ज़मीन को गीला कर गई थीं। भर्तृहरि के साथी बंदर तथा सांप भी उदास-मन गुफा के बाहर बैठे थे।

यह बात फैलते देर नहीं लगी कि भर्तृहरि माताजी की पहाड़ी को छोड़ कर कहीं चले गए हैं . महाराजा विक्रमादित्य को जब पता चला तो उन के मुंह से निकल गया, "हम अभी तक भी उन्हें अपने भाई के रूप में ही देखते आ रहे हैं किन्तु महापुरुषों के सभी नाते केवल ईश्वर से ही जुड़े होते हैं। संसार का कोई भी नाता अथवा आकर्षण उन्हें बांध कर नहीं रख सकता। वे जहां भी रहें, सदैव प्रभु की शरण में ही रहें।"

गांव के लोगों के प्रति भर्तृहरि के मन में मोह का कोई भाव नहीं था। किन्तु लोग तो संसारी थे। भर्तृहरि के रूप में उन्हें एक सहारा मिल गया था। उन के प्रति लोगों का मोहित हो जाना स्वाभाविक था। वह प्रत्येक् गुरुवार को पहले की तरह ही पहाड़ी पर आते तथा गुफा के सामने बैठ कर भर्तृहरि के वियोग में रोते रहते। इसी वियोग की पीड़ा ने धीरे-धीरे, उन के साधन का रूप ग्रहण कर लिया।

महाराजा विक्रमादित्य ने अब माताजी की टेकड़ी पर आना-जाना अधिक कर दिया था। उन्हीं ने ऊपर जाने का मार्ग चौड़ा करवा दिया। गुफा के आगे की

ज़मीन थोड़ी समतल करा कर एक छोटा सा आंगन जैसा बनवा दिया। गुफा के सामने एक दीप स्तंभ का निर्माण करा दिया। साथ के लोगों ने और भी कई सुविधाएं करवाने के सुझाव दिए, किन्तु महाराजा ने कहा, "यह एक तीर्थ-स्थान है तथा किसी तीर्थ-स्थान पर अधिक सुविधाओं की आवश्यकता नहीं। यहां आते समय लोगों को कुछ कठिनाई का अनुभव होना चाहिए, तभी तो उन की कुछ तपस्या होगी।

मैं ने कहा- महाराजा विक्रमादित्य भी तो एक साधक थे। साधना के मर्म से अवगत थे। राजा होने पर भी उन के अन्तर् में एक साधक का मन था। वह प्रवृत्ति में भी निवृत्ति का आनन्द लेने वाले साधक थे।

महाराजश्री- यह तो ठीक ही है। वह भी जन्मजन्मान्तर के योगी थे। कई जन्मों तक गिरि- कन्दराओं में एकान्त सेवन कर चुके थे। जीवन के उतार-चढ़ाव का उन्हें अच्छा अनुभव था। वे केवल नाम के ही महाराजा नहीं थे अपितु योगी राज भी थे। भगवान कृष्ण की भी तो सोलह हज़ार रानियां कही जाती हैं, फिर भी उन्हें योगेश्वर कहा जाता है। विक्रमादित्य भी ऐसे ही योगेश्वर थे। ऐसा लगता है कि जन साधारण के समक्ष प्रवृत्ति का महत्त्व तथा वास्तविक स्वरूप उपस्थित करने के लिए ही उन का अवतरण हुआ था। योग की दृष्टि से वह भर्तृहरि से किसी तरह कम न थे।

गिरि कन्दराओं की बात सुन कर मेरा माथा ठनका। क्या महाराजश्री के सामने विक्रमादित्य का अतीत भी खुल गया है, तभी तो गिरि कन्दराओं में एकान्त सेवन की बात कर रहे हैं। "वे सिद्धयोगियों के एक अदृश्य आश्रम के साधक थे। उन की अवस्था ऐसी थी कि न उन्हें निवृत्ति से कोई लगाव था तथा न प्रवृत्ति से कोई परहेज़। पहले किसी समय महाराजा हरीशचन्द्र प्रवृत्ति मार्ग की अलख जगाने के लिए संसार में आए। भगवान राम तथा राजा जनक अवतीर्ण हुए। फिर भगवान कृष्ण आए। अब काफी लम्बा अन्तराल व्यतीत हो गया था जन-साधारण प्रवृत्ति का स्वरूप भूल चुके थे। अतः फिर से प्रवृत्ति का उदाहरण स्थापित करने की आवश्यकता थी। विक्रमादित्य उस स्थान के परिपक्व साधक थे। अतः संसार में भेजने के लिए उन को चुना गया"

मैं ने पूछा- तो फिर गिरि कन्दराओं में एकान्त-सेवन कब हुआ ?

महाराजश्री- इतनी ऊंची अवस्था पर पहुंचने के लिए साधक को कई ऊंचाईओं-गहराइओं में से हो कर निकलना पड़ता है। विक्रमादित्य ने प्रवृत्ति की परीक्षाएं भी पास कीं तथा एकान्त-सेवन की परीक्षाओं में भी उत्तीर्ण हुए। तभी तो उन के समक्ष प्रवृत्ति तथा निवृत्ति एक समान थी।

मैं ने कहा- यदि जन-समाज भ्रमित हो जाय तथा प्रवृत्ति के आवेश में निवृत्ति की उपेक्षा कर जाए तो !

महाराजश्री- संभवत: भगवान कृष्ण ने इसी लिए प्रवत्ति तथा निवृत्ति दोनों के महत्त्व स्थापन के उद्देश्य से एक ही युग में जहां अर्जुन को प्रवृत्ति का उपदेश दिया वहीं उद्धव जी को निवृत्ति की ओर प्रेरित किया। यहां भी भर्तृहरि तथा विक्रमादित्य, दोनों भाइयों ने इस विषय की आपूर्ति की। एक भाई यदि निवृत्ति के प्रतिनिधि नायक थे तो दूसरे भाई प्रवृत्ति के महानायक। ईश्वर का संकेत यही हैं कि न प्रवृत्ति की कामना करो, तथा न निवृत्तिसे द्वेष करो। अध्यात्म स्थति को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम अपनी चित्त-स्थिति के अनुसार मार्ग का चुनाव कर लो। जीव को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों घाटियों को पार कर के अध्यात्म शिखर पर पहुंचना है। विक्रमादित्य यदि प्रवृत्ति के आकाश में सूर्य बन कर चमके, तो भर्तृहरि निवृत्ति मार्ग के प्रकाश-पुंज बने। धन्य हैं उन के माता-पिता जिन्हों ने ऐसे पुत्र रत्नों को जन्म दिया।

मैं ने कहा, "गुरु महाराज ! एक प्रश्न है। कई पुस्तकों में मैं ने पढ़ा है कि नाथ महापुरुषों का जीवन काल प्राय: एक हज़ार वर्ष पूर्व के आस-पास है जब कि आप के कहे अनुसार यह दो हज़ार वर्ष पूर्व है।

महाराजश्री- यह सब साहित्यक विद्वानों की बौद्धिक उछल-कूद है। साधक के लिए यह बात गौण होती है कि किस की जीवन लीला कब घटित हुई ? वह यह देखता है कि किस महापुरुष ने कैसे साधन किया। अपने विघ्नों तथा कठिनाइयों का कैसे सामना किया अथवा उन्हें सहन किया। किस प्रकार वह साधन शिखर पर पहुंचा। किस की क्या साधन प्रणाली थी, आदि, आदि। इस में साधक को कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई एक हज़ार वर्ष पूर्व हुआ या दो हज़ार वर्ष पूर्व।

इस काल का निर्णय एक हज़ार वर्ष पूर्व निश्चित करने वालों के पास अपने तर्क होंगे, किन्तु मेरा दृष्टिकोण अपना है। महाराजा विक्रमादित्य के नाम पर विक्रमी संवत आरंभ हुआ जिस की इस समय इक्कीसवी शताब्दी चल रही है। भर्तृहरि विक्रमादित्य के भाई थे, इस लिए उन के समकालीन थे। अत: उन्हें हुए दो हज़ार वर्ष हो गए हैं।

एक बात और है। इन महापुरुषों की आयु बहुत लम्बी होती है। कोई तो हज़ारों वर्षों तक वर्तमान बने रहते हैं अत: उन्हें किसी सीमित अवधि में बांध सकना संभव नहीं। गोरख नाथ के विषय में ऐसी धारणा है कि अब भी जगत में विद्यमान हैं।

मैं ने कहा दूसरा एक प्रश्न और है। भर्तृहरि का एक शरीर तिब्बत में रखा हुआ था, दूसरा भर्तृहरि के रूप में पहले उज्जैन का राजा था, जो अनन्तर वैराग्याभिभूत

हो कर साधु वेष में विचरण करने लगा। क्या यह संभव है कि एक ही जीवात्मा के दो शरीर हैं।

महाराजश्री- सामान्यत: यह संभव नहीं किन्तु योग मार्ग की बात सामान्य संसार से भिन्न है। दो ही क्या ? योग में एक ही जीवात्मा के असंख्य शरीर भी संभव हैं। योग की शक्तियां आलौकिक हैं। भौतिक स्तर पर जो बातें असंभव दिखाई देती हैं वह योग में संभव हो जाती हैं। फिर यह बात भी है कि भर्तृहरि का तिब्बत वाला शरीर अस्थाई रूप से निर्जीववत् था। योग में तो एक ही जीवात्मा के असंख्य जीवितवत् शरीर भी संभव हैं। उन सभी शरीरों का संचालन एक ही सूक्ष्म शरीर से होता है। तुम्हारा यह प्रश्न शुद्ध संसारी दृष्टिकोण से प्रभावित है।

मैं ने कहा- किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार की बातें कोरी कल्पनाऐं है। उन्हें पच्चास-पच्चास वर्ष हो गए साधन करते, अभी तक किसी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई।

महाराजश्री- यदि किसी को जीवन में सोने के दर्शन प्राप्त नहीं हुए तो इस का यह अर्थ कदापि नहीं जगत में सोना नाम का पदार्थ है ही नहीं।

मैं ने कहा- तीसरा एक प्रश्न और है। भर्तृहरि के इस जन्म के गुरु योगी गोरख नाथ थे किन्तु सारे प्रकरण में उन का कहीं उल्लेख नहीं हुआ, जब कि तिब्बत वाले महापुरुष का विशद वर्णन हुआ है।

महाराजश्री- यह प्रकरण भर्तृहरि का संपूर्ण जीवन चरित्र नहीं है वरन् एक सीमित समय का व्यौरा है। उस समय तिब्बत वाले महापुरुष की ही प्रधानता रही अन्यथा भर्तृहरि के जीवन में गोरख नाथ का विशेष स्थान है। मनुष्य का अन्तर्मन कई प्रकार के रहस्यों को अन्तर् में समेटे है तथा कई आत्माओं के साथ उस का संबंध होता है। तथा सभी आत्माओं का अपना-अपना महत्त्व होता है। न गोरख नाथ ही भर्तृहरि को भूले थे तथा न ही भर्तृहरि गोरख नाथ के प्रति उदासीन थे।

एक बार भर्तृहरि माताजी की गुफा के बाहर चहल-कदमी कर रहे थे। आकाश एक दम साफ था। उन्हें बहुत दूर से कोई बहुत बड़ा पक्षी उड़ता हुआ आता दिखाई दिया। भर्तृहरि बड़े ध्यान से देख रहे थे। जब थोड़ा पास आया तो वह एक मानव आकृति थी। भर्तृहरि सोचने लगे कि पता नहीं कौन उड़ता आ रहा है। जब वह आकृति समीप आई तो भर्तृहरि को अपने गुरुदेव गोरख नाथ को पहचानते देर न लगी। जब वह आकृति पास आ कर उतरी तो भर्तृहरि ने साष्टांग प्रणाम किया। गोरख नाथ आर्शीवाद कहते हुए, प्रणाम करने के लिए माता की गुफा में चले गए।

बाहर आने पर गोरख नाथजी ने कहा, "मैं यहां दर्शन करने कई बार आ चुका हूं। जब तुम्हारे यहां होने का समाचार मिला तो तुम्हें देखने के लिए इधर चला आया" इतना कह कर वह एक पत्थर पर विराजमान हो गए। तथा पूछा, "तुम्हारा

ध्यान-साधन ठीक चल रहा है न ?" इस पर भर्तृहरि उत्तर दिया," आप के आर्शीवाद से सब ठीक चल रहा है।"

गोरख नाथजी थोड़ी देर वहां रुके तथा फिर आकाश-मार्ग से उड़ते हुए चले गए।

यह एक घटना मैं ने इस लिए सुनाई कि भर्तृहरि तथा गोरख नाथ जी का संपर्क बना हुआ था। गोरख नाथजी तिब्बत वाले महापुरुष से भी अवगत थे तथा उन का आपस में संपर्क भी था। उन्हें भर्तृहरि के पूर्व जन्म के शरीर के तिब्बत में होने का भी ज्ञान था तथा एक बार जा कर उसे देख भी आए थे।

शाम का समय समीप आ रहा था। आश्रम में दर्शनार्थी आने आरंभ भी हो गए थे। महाराजश्री को वैसे भी बात करते बहुत समय निकल गया था, इस लिए उन्हों ने चर्चा को यही विराम देना उचित समझा। मैं भी अपने कमरे में जा कर इसी विषय पर चिन्तन करने लगा। "यदि देखा जाय तो मैं भी अभी तक न निवृत्ति में हूं, न प्रवृत्ति में। निवृत्ति में होता हूं तो प्रवृत्ति के बारे में विचार करता रहता हूं, तथा प्रवृत्ति में मेरे विचारों में निवृत्ति तरंगित होती रहती है। महाराजा विक्रमादित्य के चित्त की अवस्था कैसी होगी ? जिस में न उन्हें प्रवृत्ति से मोह था तथा न ही निवृत्ति से परहेज़। आसक्ति रहित अवस्था के बिना इस स्थिति का आना असंभव है, किन्तु यहां तो अभी तक आसक्ति चित्त में पांव पसारे पड़ी है। वासना का बोल-बाला है, तथा चित्त-स्थिति क्षण-क्षण परिवर्तित होती रहती है। ऐसे में प्रवृत्ति-निवृत्ति की चर्चा बौद्धिक विलास-मात्र है" बड़ी देर तक इसी प्रकार के विचारों में खोया रहा। फिर कब मुझे निद्रा ने आ दबोचा। स्वप्न में क्या देखता हुं कि मैं किसी पहाड़ी पर खड़ा हू जहां से मुझे एक दूसरे के समीप दो तालाब दिखाई दे रहे हैं। कोई कान में कहता है कि प्रवृत्ति एक तालाब है तो दूसरा निवृत्ति का। जिस भी तालाब का जल चाहे ग्रहण कर सकते हो। मैं ने फिर एक बार दोनों तालाबों को देखा। मुझे निवृत्ति का तालाब सुंदर दिखाई दिया, अत: मैं उस की ओर चल दिया। थोड़ी ही दूर गया था कि जैसे अन्तर में कोई कह रहा हो, "कहां जा रहे हो ? निवृत्ति में कोई रस नहीं, दिल-बहलावा नहीं , सुख-सुविधा नहीं। तुम प्रवृत्ति रूपी तालाब का जल ग्रहण करो" तथा मैं ने रास्ता बदल दिया। प्रवृत्ति रूपी तालाब की ओर चल दिया।

अभी थोड़ी दूर ही जाता हूं कि इतने में एक दूसरी आवाज़ सुनाई दी, "क्या पागलपन कर रहे हो ? पता है प्रवृत्ति में कितना श्रम है? भाग-भाग कर मर जाओगे। यह संसार का सौंदर्य देखने भर का है। जगत से निवृत्ति में ही सुख है। तुम

तो निवृत्ति रूपी तालाब का जल ग्रहण करो" और मैं ने फिर मुंह फेर लिया तथा निवृत्ति रूपी तालाब की और चल दिया। मैं इसी प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के बीच भागता रहता हूं तथा किसी भी तालाब का जल ग्रहण नहीं कर सका। अन्ततः थक कर गिर जाता हूं।

प्रातः तीन बजे महाराजश्री काफी का एक कप लिया करते थे। उस समय मैं ने रात का स्वप्न निवेदन किया तथा अपनी व्यथा- कथा कह सुनाई। जब काफी समाप्त हुई तो महाराजश्री ने कहना आरंभ किया

महाराजश्री- देखो ! इस प्रकार निराश होने से काम नहीं चलता। भर्तृहरि तथा महाराजा विक्रमादित्य को यह अवस्था एक दिन में प्राप्त नहीं हो गई थी। उन की पृष्ठ-भूमि में जन्म-जन्मान्र की साधना थी। संभवतः वह भी कभी तुम्हारी तरह प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूपी तालाबों के बीच भागते रहे होंगे। अब एक समय यह था कि चाहे प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, उन्हें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस के लिए उन्हों ने क्या कुछ नहीं किया होगा ? कितना सहन करना पड़ा होगा ? अपने-आप को कितना तपाया होगा। तब कहीं जा कर उन्हें प्रवृत्ति-निवृत्ति से अतीत अवस्था प्राप्त हुई।

मैं ने निवेदन किया, "गुरु महाराज ! साधन में् तत्पर हुआ जा सकता है, किन्तु संसार उधर लगने नहीं देता। टांग खीचा ही करता है। सीधी बात करों तो उलटी समझता है। मित्र बन कर पीठ में छुरा भौंकता है। साधक बेचारा तिलमिला कर रह जाता है।

महाराजश्री- संसार को क्यों बदनाम करते हो ? यह कहो कि प्रारब्ध कुछ करने नहीं देता। वासना रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती है। अन्तर् में जो जड़-चेतन की गांठ पड़ी है, उस के कारण विकार जीव को नचाया करते हैं। जगत तुम्हारे साथ वही करेगा जो तुम्हारे प्रारब्ध में हो गा। संसार भोग-स्थली है और कर्म स्थली भी। कर्म से अपना प्रारब्ध बनाया जाता है, कर्म से ही मिटाया भी जा सकता है। कर्तव्य-कर्म प्रवृत्ति-निवृत्ति से अतीत अवस्था प्राप्त कराता है।

मैं क्या कह सकता था, चुप रह गया। महाराजश्री के कमरे के साथ एक छोटा कमरा और था जिसे साधन-कक्ष के रूप में प्रयोग किया जाता था। महाराज श्री उठ कर साधन-कक्ष में जा बैठे। तथा मैं विचारों के सागर में गहरा उतरता गया।

कहने को तो महाराजश्री ने कह दिया किन्तु जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर साधन, सहनशीलता, सेवा-भाव तथा प्रभु-प्रेम को बना कर रख पाना क्या इतना सरल है ?

महायोगी नागनाथजी

दूसरे दिन महाराजश्री प्रात: भ्रमण के लिए रेल्वे-स्टेशन की ओर पधारे। मन में सोचता हुआ मैं पीछे-पीछे चल रहा था कि महाराजश्री माता जी की टेकड़ी के विषय में कुछ कहेंगे। कुछ देर के उपरान्त महाराजश्री ने कहना आरंभ किया।

महाराजश्री-भर्तृहरिजी के चामुण्डा माताजी की टेकड़ी से चले जाने के उपरान्त महाराजा विक्रमादित्य का टेकड़ी पर आना-जाना काफी बढ़ गया था। भर्तृहरि जिस का, नाथ-सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के पश्चात् विचारनाथ नाम हो गया था, टेकड़ी से जाने के उपरान्त ऐसा अनुभव कर रहे थे, जैसे कोई बालक अपनी माता से बिछुड़ गया हो।

मैं ने कहा, "किन्तु भर्तृहरि तो शंकर भक्त थे, फिर वह भगवती की ओर कैसे आकर्षित हो गए ?"

महाराजश्री- कुछ लोग शंकर की उपासना करते हैं तो कुछ भगवती की, किन्तु नाथ सम्प्रदाय के मतानुसार भगवती शंकर का अभिन्न अंग है। शंकर की उपासना में भगवती की उपासना भी हो जाती है तथा भगवती की उपासना में शंकर भी साथ रहते हैं। इसलिए नाथों में शंकर तथा भगवती में कोई अन्तर नहीं।

महाराजा विक्रमादित्य पर भी नाथ सम्प्रदाय के इस सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट था। यद्यपि उज्जैन में महाकालेश्वर के रूप में ज्योति-स्वरूप शंकर विराजमान थे तथा भगवती हरसिद्धी का शक्ति-पीठ भी विद्यमान था किन्तु महाराजा इस पहाड़ी पर भी चामुण्डा के दर्शनों के लिए प्राय: आया करते थे। उन का कोई विशेष कार्य हो, या कोई समस्या हो तो चामुण्डा के दर्शनों से उस का समाधान हो जाता था। जीवन के हर पग पर, तथा साधना के हर स्तर पर चामुण्डाजी उन की मार्ग दर्शिका थी। महाराजा का जीवन भगवती की क्रियारूप ही था।

भर्तृहरि के पहाड़ी पर निवास के समय से ही, न केवल आस-पास के गांव ही, अपितु दूर-दूर तक चामुण्डा माताजी के टेकड़ी की गुफा में विराजमान होने की बात प्रसिद्ध होने लगी थी तथा लोग, समूह के समूह दर्शनार्थ आने लगे थे। भर्तृहरि के जाने के पश्चात् और भी तीव्र वेग से इस स्थान का यश फैलने लगा था। लोग इस बात के लिए उत्सुक थे कि वह स्थान कैसा होगा जहां भर्तृहरि जैसे उत्कृष्ट साधक ने तपस्या की। एक तो माता जी का स्थान, दूसरे भर्तृहरि की तप: स्थली।

नाथ सम्प्रदाय के महात्माओं में भी इस स्थान के लिए आकर्षण बढ़ने लगा था, जिन में योगी नागनाथ जी प्रमुख थे। उन्हों ने अपनी शिष्य मण्डली के साथ आ कर स्थान को देखा तो मंत्रमुग्ध बने देखते ही रह गए। उन्हें वन प्रदेश की रमणीयता के साथ, वहां माताजी की सूक्ष्म अलौकिक तरंगों के अतिरिक्त भर्तृहरि की

आध्यात्मिक तरंगे भी अनुभव हो रही थीं।

मैं ने पूछा, "महाराजश्री ! क्या आप को भी भर्तृहरि की सूक्ष्म तरंगे अनुभव होती हैं ?"

महाराजश्री- जब भर्तृहरि के पहाड़ी पर बीते समय के दृश्य प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं तो उन की सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगे भी अनुभव होती ही हैं। उन की तरंगे तो नारायण कुटी तक भी पकड़ी जा सकती हैं। नारायण कुटी भी टेकड़ी पर ही स्थित है।

मैं ने कहा- मुझे तो कुछ अनुभव नहीं होता। न साधन के समय, न इतर समय में।

महाराजश्री- चित्त की अपनी-अपनी अवस्था है। सूक्ष्म तरंगों के अनुभव के लिए चित्त की सूक्ष्म अवस्था की आवश्यकता है। सब को ऐसी अनुभूति नहीं हो पाती।

योगी नागनाथ अत्यन्त उच्च कोटि के साधक थे। कई सिद्धियों के स्वामी, किन्तु उन सिद्धियों का अभिमान एक दम नहीं। ऐसा कहा जाता है कि नागनाथ जी रात को दो बजे नित्य प्रति गंगा-स्नान के लिए जाया करते थे, अत: उन्हें किसी ने कभी स्नान करते नहीं देखा। उन की गिनती नौ नाथों में की जाती है।

योगी नागनाथ का पूर्व नाम नागार्जुन कहा जाता है जिन का जन्म एक नाग कन्या से एक वटवृक्ष के पास हुआ था। इन का पालन-पोषण एक दरिद्र किन्तु अत्यन्त सदाचारी ब्राह्मण द्वारा किया गया। किसी समय इन की तप: स्थली ज्वालामुखी (हिमाचल प्रदेश) रही थी जिस से ज्ञात होता है कि ये माताजी के अनन्य भक्त थे। इस कारण भी जब ये माता चामुण्डा जी की टेकड़ी पर आए तो यह स्थान एकदम इन के मन को भा गया।

मैं ने कहा-ऐसी बातें सुन कर सामान्य साधक का मन सिद्धियों के लिए लपकने लगता है।

महाराजश्री- किन्तु सिद्धियां उसे ही प्राप्त होती हैं जिन का मन उन की प्राप्ति के लिए नहीं लपकता। जो सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधन करते हैं उन्हे केवल अस्थाई सिद्धियां ही उदय होती हैं। नागनाथजी ने कभी भी किसी सिद्धि हेतु साधन नहीं किया। उन का साधन सदैव भगवान की कृपा प्राप्ति के लिए होता था। सभी सिद्धियां उन्हें स्वभावत: अनायास प्राप्त हुईं इसी लिए उन्हें सिद्धियों का अभिमान भी नहीं था।

मैं ने कहा- सिद्धियों की प्राप्ति में स्वभावत: का क्या अर्थ है ?

महाराजश्री- देखो ! प्रत्येक जीव में स्वभावत: ही असंख्य सिद्धियां विद्यमान

हैं। सिद्धि-संपन्न साधकों तथा सामान्य संसारी जीवों की आन्तरिक स्थिति एक समान है। सिद्धियां कहीं बाहर से आ कर साधक में प्रकट नहीं होतीं, अपितु साधक की आन्तरिक स्वाभाविक स्थिति का प्रकटीकरण है। जब आन्तरिक स्थिति के प्रकटीकरण के लिए प्रयत्न किया जाता है तो वह अस्वाभाविक प्रयत्न होता है। जब साधन आत्म-स्थिति प्राप्ति निमित्त किया जाता है, किन्तु अनायास ही सिद्धियां प्रकट होने लगती हैं, तो उसे स्वाभाविक प्रकटीकरण कहा जाता है। योगी नागनाथ ऐसे साधक थे जिन्हों ने न तो कभी सिद्धियों के लिए साधन किया, तथा न ही कभी उन का अनावश्यक प्रदर्शन किया।

योगी नागनाथ ने जब माता जीं की टेकड़ी के दर्शन किए, उसी समय उन्होंने अपना मन बना लिया कि कुछ समय यहां रह कर साधनरत् रहा जाए। माताजी की गुफा के सामने वाला स्थान, जहां भर्तृहरि प्राय: बैठा करते थे, अपनी कुटियां के लिए पसंद कर लिया। कुटिया क्या थी ? पत्तों से ढकी हुई एक मढ़ैयां। उन के साथ आए शिष्यों ने भी अपने-अपने लिए स्थान चुन लिया। किसी ने किसी गुफा में आसन जमा लिया, किसी ने किसी बड़े पत्थर की ओट का सहारा ले लिया, तो किसी ने छोटी सी मढैया छा ली। इस तरह यह साधन-शिखर एक आश्रम का रूप ग्रहण कर गया।

योगी नाग नाथ ने सब से पहला यह कार्य किया कि जा कर भर्तृहरि के दर्शन किए। भर्तृहरि उस समय बंगलादेश के पहाड़ीक्षेत्र में रह रहे थे। संतो के परस्पर मिलन का दृश्य बड़ा अलौकिक होता है। दोनों महापुरुष मिल कर अतीव प्रसन्न हुए।

योगी नागनाथ- उज्जैन के समीप चामुण्डा माता जी की जिस पहाड़ी पर रह कर आप साधन में तल्लीन रहे हैं, वहां अब मैं ने आसन जमा लिया है। सर्वप्रथम आप के आशीर्वाद हेतु उपस्थित हुआ हूं।

भर्तृहरि- आप स्वयं आशीर्वाद-स्वरूप हैं, आप को आशीर्वाद की क्या आवश्यकता है ? फिर भी यदि आप का भाव ऐसा ही है तो भगवती चामुण्डा की आप पर कृपा-वृष्टि हो। आप सदैव अध्यात्म के उच्च शिखर छूते रहें। मेरा आशीर्वाद है।

मैं ने कहा- बंगला देश (बंगाल) तो यहां से बहुत दूर है। उस समय यात्रा प्राय: पैदल ही होती थी। जाने-आने में बहुत दिन लगे होंगे।

महाराजश्री- तुम यह भूल रहे हो कि नागनाथ जी एक सिद्ध-योगी थे। उन का सूक्ष्म-शरीर आन्तरिक दैवी विभूतियों से संपन्न था। स्थूल शरीर पर भी उन शक्तियों का उपयोग कर पाने में वे समर्थ थे। दो स्थानों की दूरी चाहे कितनी

भी हो, उन के समक्ष उस का कोई महत्त्व नहीं था। किसी भी राकेट से अधिक तीव्र गति से वह यात्रा कर सकते थे। क्षण-मात्र में कहीं से कहीं पहुंच सकते थे। योगी नागनाथ जी कब गए और कब आए ? किसी को पता भी नहीं चला। सब यही समझते रहे कि वे अपनी कुटिया में ध्यान में बैठे हैं। योगियों की बात को कोई योगी ही समझ पाता है।

मैं ने कहा- जब योगी नागनाथजी के शिष्य अपने गुरुदेव में इस प्रकार की सिद्धियां देखते होंगे, तो उन्हें प्राप्त करने का उन का भी मन होता होगा ?

महाराजश्री- पहली बात तो यह है कि नागनाथ जी के शिष्य ही क्यों न हों, वे प्राय: किसी के सामने सिद्धियों का प्रदर्शन करते ही नहीं थे। प्रदर्शन में आत्म-श्लाघा का भाव रहता है जो अध्यात्म के लिए घातक है। एक सच्चा साधक कभी भी अपनी अवनति की कामना नहीं करता। फिर भी निरन्तर साथ रहने वालों को कुछ तो भनक पड़ ही जाती है। उन के शिष्यों में अवश्य ही ऐसा भाव उदय होता होगा कि उन्हें भी गुरुदेव के समान शक्तियां, पता नहीं कब प्राप्त होंगी। एक दिन उन्हों ने योगीजी से पूछ ही लिया कि क्या उन्हें भी कभी यह सिद्धियां प्राप्त हो पाएंगी ?

योगी नागनाथ- तुम्हारा यह प्रश्न ही अध्यात्म सिद्धान्त के विपरीत है। अध्यात्म-प्रेमी साधक के मन में इस प्रकार का भाव पैदा ही नहीं होता। ऐसा भाव साधकों के लक्ष्य को ईश्वर से दूर हटा देता है। फिर अन्य किसी सिद्धि के प्राप्त होने की अभिलाषा मन में जगा देता है। दृष्टि ईश्वर से परे हटती जाती है। साधन का आधार बदल जाता है। यदि उसे सिद्धि प्राप्त हो भी जाय तो भी वह अध्यात्म की नहीं, जगत की ही सिद्धि होती है, जो जगत से भी अधिक बंधनकारक होती है क्योंकि जगत से वह कहीं अधिक सूक्ष्म है।

साधक के सामने सिद्धियों का भाव ही नहीं होता किन्तु समय आने पर वह हाथ बांधे स्वयं उपस्थित हो जाती हैं कि उन्हें स्वीकार करो, किन्तु साधक उन की तरफ से मुंह फेर लेता है। वह उन्हें साधन की उन्नति के मार्ग में प्रतिबंधकरूप देखता है। सिद्धियां आदेश की प्रतीक्षा में द्वार के बाहर खड़ी रहती हैं। धीरे-धीरे अभिमान तथा आत्मश्लाघा के पूर्णतया निवृत्त हो जाने पर साधक जान जाता है कि यह प्रतिबंधक नहीं अपितु अध्यात्म में सहायक हैं। यह आत्मा की विभूतियां हैं जो आत्म-प्राप्ति के मार्ग में प्रकट होती हैं। साधक सिद्धियों को अपना तो लेता है किन्तु उन्हें द्वार के बाहर ही खड़ा रखता हैं, तथा अपने अभिमान-प्रदर्शन के लिए कभी भी उन का प्रयोग नहीं करता।

यह सुन कर योगीजी के शिष्य मौन रह गए। फिर एक शिष्य ने विषय परिवर्तन के लिए दूसरा प्रश्न किया।

शिष्य- जब शक्ति-शिव आदि अन्तर् में ही है तो फिर बाहर के गुरुओं की शरण लेने को क्यों कहा जाता है तथा जगत में प्रतीक और प्रतिमाएं बनाने की भी क्या आवश्यकता है ?

योगी नागनाथ- पहले इस बात को समझो कि हमें बाहर जो कुछ दिखाई देता है, वास्तव में वह अन्तर् में दीखता है। यदि तुम मुझे बाहर दिखाई दे रहे हो तो वास्तव में तुम्हारा ज्ञान मेरे अन्तर् में प्रतिबिम्बित हो रहा है तथा अन्तर् में तुम्हारे स्वरूप का ज्ञान करा रहा है। इसी प्रकार बाह्य प्रतीकों तथा प्रतिमाओं का ज्ञान भी अन्तर् में होता है। यह भी अन्तर् में गहरे उतरने का ही एक मार्ग है। बाहर के दृश्य का ज्ञान, बाहर नहीं, अन्तर में होता है। उस का प्रभाव भी अन्तर् में बढ़ता है।

फिर यह बात भी है कि शक्ति रूपी गुरु शिष्य के अन्तर में भी है तथा सद्गुरु के अन्तर् में भी। अन्तर् में गुरु, शक्ति तथा भगवान के किसी स्वरूप को समझने-जानने तथा उस से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए बाह्य गुरु तथा प्रतीक अवलंबन मात्र हैं। साधन की उच्च-अवस्था में अन्तर्गुरु तथा अन्तर्शक्ति का जितना महत्त्व है उतना ही प्रारंभावस्था में बाह्य गुरु तथा प्रतीकों का है। सिद्धावस्था में गुरु-शिष्य संबंध तथा सभी प्रतीक केवल विकल्प रह जाते हैं। फिर कौन गुरु, और कौन चेला। तब साधक का चित्त अहम् से ऊपर उठ कर चैतन्य में स्थापित हो जाता है। उस का जीवन तथा व्यक्तित्व एकदम बदल जाता है। वह शिव तुल्य अलौकिक हो उठता है। किन्तु यह अवस्था कब आएगी, इस का कोई पता नहीं। इस लिए साधक के मन की जैसी स्थिति है, उस के बारे में ही उसे विचार करना चाहिए। धैर्य धारण करने तथा निरन्तर समर्पण युक्त साधन करने में ही उस का हित है।

योगी नागनाथ प्राय: ध्यान की अवस्था में रहते थे। उसी अवस्था में स्थित रहते हुए ही, अपने मन को, शिष्यों के मन में प्रवेश करा कर, उन का शिक्षण करते, एवं शंकाओं का समाधान करते थे। जब कभी साधन से उठ कर, अपनी कुटिया के बाहर आ कर बैठते थे, तब प्रत्यक्ष सतसंग किया करते थे, किन्तु फिर भी प्राय: मौन ही बैठे रहते थे। उस अवस्था में उन के शिष्यों के मन की शंकाएं उभरती रहती तथा उन का समाधान भी अन्तर् से ही प्रस्फुटित होता रहता था।

एक बार एक शिष्य के मन में शंका उदय हुई कि यदि महासरस्वती सृष्टि का निर्माण करती रहे, किन्तु महाकाली उस का पालन एवं संरक्षण होने से पूर्व ही उस का संहार करती रहे, अथवा महासरस्वती यह कहे कि मै निर्माण ही नहीं करुंगी तो पालन एवं संहार किस का करोगे ? अथवा महालक्ष्मी यह कहे कि तुम भले ही निर्माण करती रहो किन्तु मैं पालन नहीं करुंगी तो बड़ी विकट समस्या खड़ी

हो जायेगी। यदि महाकाली ने संहार बंद कर दिया तो एक दिन संसार में तिल रखने की भी जगह नहीं रहेगी, अथवा महासरस्वती ने निर्माण बंद कर दिया तो एक दिन जगत में एक भी जीव दिखाई नहीं देगा।

वह सोच ही रहा था कि अन्तर से आवाज़ आई, "अरे भई, इन शक्तियों में प्रतिस्पर्धा, मनमुटाव, कहा-सुनी इत्यादि तो तब हो, जब यह परस्पर एक दूसरे भिन्न हों। किन्तु ऐसा नहीं है। ईश्वरीय शक्ति एक है किन्तु भिन्न-भिन्न कार्य करने से, उस के भिन्न-भिन्न नाम रख दिए गए हैं। यह नाम शक्ति के नहीं, उस की क्रिया के हैं। शक्ति में भिन्नता नहीं है, उस की क्रिया में है। यह सभी क्रियाएं परस्पर पूरक हैं। विरोधी नहीं। जब निर्माण की क्रिया सम्पादित करती है तो उस का नाम महासरस्वती होता है। जब प्रलय का समय होता है तो संहार करने वाली शक्ति क्रियाशील हो जाती है जिसे महाकाली कहा गया है। इस में परस्पर विरोध या खींचतान वाली कोई बात ही नहीं। सृष्टि-काल में निर्माण, पालन तथा संहार का चक्र नित्य घूमता रहता है। इसी काल-चक्र का आरंभ महारस्वती, उस की निरन्तर गतिशीलता महालक्ष्मी, तथा गतिशीलता का ठहराव महाकाली का उत्तरदायित्व है। तीनों शक्तियां एक होते हुए भी, क्रिया के अन्तर के कारण, उन्हें तीन नामों तथा तीन स्वरूपों में कल्पित किया गया है।

फिर एक नई शंका उभरी, "क्या यह संभव है कि कोई भगवान को छोड़ कर केवल भगवती की ; अथवा भगवती को छोड़कर केवल भगवान की उपासना करे ?

योगी नागनाथ- करने को कोई कुछ भी समझ कर ; कुछ भी कर सकता है किन्तु सिद्धान्त रूप में केवल भगवान अथवा केवल भगवती की उपासना संभव नहीं। शक्ति की भावना करते ही, उस का आधार शक्तिमान साथ चला आता है। शिव पार्वती के बिना, अथवा नारायण लक्ष्मी के बिना रह ही नही सकता। वैसे नर रूप में अथवा स्त्री रूप में, भगवान की किसी भी तरह उपासना करो, वह शक्ति की ही उपासना है। भगवान तथा भगवती ऐसे मिले हुए हैं कि उन्हें पृथक किया ही नहीं जा सकता। यह एक में दो हैं, तथा दो में एक हैं। दार्शिनिक एक में दो की कल्पना करते हैं तो भक्त अथवा योगी दो में एक की भावना। परस्पर भिन्नत्व तथा नानात्व का भाव सांसारिकता है तो एकत्व का भाव आध्यात्मिकता। शिव तथा शक्ति दो हैं ही नहीं, एक ही हैं। फिर एक को छोड़ कर दूसरे की उपासना कैसे संभव है ?

शक्तिपात् की साधन-प्रणाली में कहा तो यह जाता है कि यह शक्ति की क्रियाएं हैं क्योंकि शिव का शक्ति-अंश ही क्रियाशील होता है अन्यथा यह शिव के आधार पर शक्ति की क्रियाशीलता होती है। क्रिया तथा निष्क्रियता दोनों शिव में

समाहित हैं। क्रिया को शक्ति तथा निष्क्रियता को शिव कहा जाता है। शक्ति की क्रियाशीलता के माध्यम से ही शिवावस्था को प्राप्त किया जा सकता है। शिव-शक्ति भौतिक तत्त्वों के स्तर तक नीचे उतरते आते हैं। क्या तुम अग्नि से उस की दाहकता को, जल से उस के गीलेपन को, तथा आकाश से नाद को पृथक कर सकते हो।

जो साधक, साधन करते हुए, शक्ति की ओर से उदासीन रहते हैं, वह अनजाने ही ऐसा कर रहे होते हैं। शक्ति के बिना न साधक का कोई अस्तित्व है, न साध्य की ही कोई सत्ता। यदि जगत में से शक्ति को निकाल दिया जाय तो जगत का प्रकटीकरण ही विलीन हो जाय। यदि शिव से शक्ति को पृथक् कर दिया जाय तो शिव शव हो कर रह जाय। कोई लोग शक्ति को माया कह कर पुकारते हैं किन्तु माया भी शक्ति की एक क्रिया है।

इस प्रकार योगी नागनाथ प्रत्यक्ष सतसंग के अतिरिक्त मानसिक स्तर पर भी, शिष्यों की शंकाओं का समाधान करते थे। कभी किसी को अन्तर् में वाणी सुनाई देती थी तो किसी को दृश्य-दर्शन के माध्यम से उपदेश किया जाता था। किसी को अन्तर्विचारों के रूप में अन्तर् से ही अपने प्रश्न का उत्तर सूझ पड़ता था।

एक बार एक शिष्य अपने स्थूल शरीर का त्याग कर, सूक्ष्म शरीर में स्थित हो कर, अपने मृतवत् पड़े शरीर को देख रहा था। तो उसे अपने समान अनेकों साधक आकाश में दिखाई दिए। कई मानव-आकृति धारण किए थे तो कुछ के कंधों पर विभिन्न पशुओं के सिर थे। कुछ आकाश में उछल-कूद कर विहार कर रहे थे तो कुछ मंथर गति से घूम रहे थे, कइयों के पास शस्त्र थे तो कुछ बिना शस्त्र घूम रहे थे। कुछ जोर-जोर से चिल्ला रहे थे तो कुछ मौन थे। उस शिष्य को उन्हें देख कर अत्यन्त विस्मय हुआ। उस का सूक्ष्म शरीर भी बड़ी तीव्र गति से अन्तरिक्ष में तैरने लगा। सहसा उस ने देखा कि योगी नागनाथ भी उस के आगे उड़े जा रहें हैं। शिष्य ने अपने गुरुदेव को पकड़ने का प्रयत्न किया किन्तु उन तक पहुंच नहीं सका। योगी नागनाथ की गति उस से कहीं अधिक तीव्र थी। न जाने कहां विलुप्त हो गए।

उस ने एक व्यक्ति से पूछा कि इतने सारे लोग आप कौन हैं ? क्या आप लोग भी स्थूल शरीर का त्याग किए हुए हैं।

दूसरे सूक्ष्म शरीर ने उत्तर दिया, कि स्थूल शरीरों का त्याग कर के तो वह भी आए है किन्तु तुम्हारी तरह नहीं। तुम तो कुछ देर के लिए ही स्थूल देह का त्याग कर के आए हो तथा शीघ्र वापिस उसी शरीर में प्रवेश कर जाओगे, जब कि हम सदैव के लिए त्याग कर के यहां आ गए हैं। हम जगत की दृष्टि से मरे हूये हैं। हमारे शरीर तो जल कर भस्म हो चुके हैं या ज़मीन के अंदर उसे कीड़े खा गए हैं।

शिष्य- किन्तु यहां तुम लोगों के साथ हमारे गुरुदेव भी उड़े जा रहे हैं।

उत्तर- वह भी तुम्हारी तरह स्थूल देह अस्थाई रूप में त्याग कर यहां आए हैं।

इतनी बात कर के वह आगे उड़ने लगा। एक स्थान पर एक मृत देह पड़ा था। मृतक का सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के पास खड़े हो कर लोगों को रोते देख रहा था। शिष्य भी मृतक के सूक्ष्म-शरीर के पास जा कर खड़ा हो गया तथा पूछा, "क्या तुम मर गए हो ?

मृतक- लोग तो यही कहते हैं किन्तु मैं तो यहां खड़ा हूं। मैं इतना ही जानता हूं कि इस शरीर में कुछ दिन निवास किया था। वह जो बुढ़िया रो रही है वह अपने-आप को इस शरीर की माता मानती है। यह लोग नहीं रो रहे है, उन का मोह उन्हें रुला रहा है। जब यह लोग भी शरीर का त्याग करेंगे तो दूसरे इन के लिए भी इसी प्रकार रोएंगे किन्तु तब इन्हें सारी स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

शिष्य- और फिर जब किसी शरीर में प्रवेश करेंगे तो पुनः मोह में उलझ जाएंगे संसार का तो यही हाल है।

जब उस शरीर को श्मशान घाट ले जा कर अग्नि के अर्पित किया गया तो उस का शरीर बड़े ज़ोर हंसा, "आज हमारा घर जल रहा है। एक दिन सभी के घर इसी तरह जल कर राख हो जायेंगे"

शिष्य जब अपने स्थूल-शरीर में लौटा तो उठ कर सब से पहले गुरुदेव की कुटिया की ओर भागा। जा कर देखा तो योगी नागनाथ जी उस समय अपने आसन पर ध्यानमग्न बैठे थे। योगी जी निरन्तर कई दिनों तक उसी अवस्था में बने रहे। महाराजा विक्रमादित्य भी एक दिन दर्शनों के लिए आए तो देखा कि योगी नागनाथ जी तथा अन्य सभी शिष्य ध्यानस्थ हैं। वह बिना किसी प्रकार की कोई आवाज़ किए लौट गए।

कुछ दिनों के पश्चात् जब योगी नागनाथजी ध्यान-मुक्त हो चुके थे तो अपनी कुटिया के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। शिष्य मण्डली उन के आस-पास जमी थी।

एक शिष्य- एक दिन आप ने कहा था कि माया भी शक्ति की एक क्रिया है किन्तु जैसा मुझे ज्ञात है कि माया का अर्थ है भ्रम, जैसे कुछ नहीं होने पर भी कुछ होने का भ्रम, अथवा किसी वस्तु को देख कर किसी अन्य वस्तु के होने का भ्रम हो जाना। इसी प्रकार जगत के नहीं होने पर भी जगत के होने का भ्रम। इस में भला शक्ति की किसी क्रिया की क्या भूमिका है ?

योगी नागनाथ- भ्रम हो जाना भी मन के आधार पर शक्ति की एक सूक्ष्म

क्रिया है। यह तो तुम जानते ही हो कि भौतिक क्रिया हो, शारीरिक क्रिया हो, अथवा मानसिक क्रिया, शक्ति के संयोग के बिना संभव नहीं। वेदान्त में जगत को असत्य नहीं , मिथ्या कहा गया है तथा मिथ्या का अर्थ नित्य परिवर्तनशील है। हम स्वयं भी जगत की परिवर्तनशीलता को अनुभव करते हैं। अपने शरीर की ओर ध्यान जाता है तो उस में परिवर्तन होते रहते हैं। क्या शक्ति के क्रियात्मक सहयोग के बिना कोई परिणाम संभव है ? क्या किसी मृतक का हाथ अपने-आप ऊपर उठ सकता है ? जब तक शक्ति न हो। क्या कोई भाव या विचार उदय हो सकता है ? क्या कोई मर या जी सकता है ? वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इस प्रतिपादन की आवश्यकता क्यों पड़ी ? क्योंकि जीव द्वैत के भ्रम में पड़ा है। भ्रम में ही उस का आना-जाना होता है, भ्रम में ही सोता, खाता या जागता है। यही माया या शक्ति की क्रिया है। एक क्रिया जड़-चेतन की ग्रन्थि के भ्रम का कारण है तो एक ग्रन्थि के भ्रम को हटाने का। जगत का निर्माण भी शक्ति की क्रिया है तो दृश्य जगत की प्रलय भी एक क्रिया। इस प्रकार यदि देखा जाय तो यह जगत शक्ति की क्रियारूप ही है। इसी को भगवती की लीला कहा जाता है।

एक अन्य शिष्य ने एक प्रश्न किया, "शक्ति सर्व व्यापक है, फिर कहीं दिखाई देती है कहीं नहीं। जल प्रवाह में, अग्नि की दाहकता में, इन्द्रियों के कर्मों में, श्वास-प्रश्वास में शक्ति कार्य करती दिखाई देती है किन्तु पहाड़ो तथा पत्थरों में कोई क्रिया दिखाई नहीं देती ?"

योगी नागनाथ- हमारा दिखाई देने अथवा अनुभव होने का अर्थ ही शक्ति की क्रिया का स्थूल स्तर पर प्रकट होना है। लक्ष्य बहिर्मुखी होने से बाहर की, भौतिक आधार पर क्रिया दृष्टिगोचर हो जाती है। जितनी स्थूलता का आधार अधिक होता है उतनी ही क्रिया स्पष्ट होती है। किन्तु स्थूलता के कारण ही जड़ता भी दिखाई देती है। सामान्य मनुष्यों की गति इन्द्रियों की पहुंच तक सीमित है। जड़ता का एक कारण शक्ति के स्पंदन की अत्यधिक तीव्रता भी है जिस के कारण पहाड़ तथा पत्थर जड़ दिखाई देते हैं तथा शक्ति की क्रियाशीलता पकड़ में नहीं आती। जल में, वायु में, अग्नि इत्यादि में स्थूलता तथा जड़ता बहुत कम होती है इस लिए वहां भौतिकता के आधार पर क्रिया देखी जा सकती है। जगत में कार्यशील शक्ति तो फिर भी जड़ शक्ति है किन्तु शारीरिक क्रियाओं की कर्ता शक्ति चेतन है जो कि जड़ शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म एवं शक्तिशाली है अत: उस की क्रिया भौतिक शरीर पर भी अनुभव की जा सकती है। किन्तु जीव की जितनी सूक्ष्मता तक गति होती है, उतनी ही सूक्ष्मता तक वह क्रिया को अनुभव कर सकता है। सामान्य मनुष्य की गति इन्द्रियों की पहुंच तक सीमित है इस लिए वह इन्द्रियों की

स्थूल सीमा तक ही किसी क्रिया, परिणाम, दृश्य, पदार्थ अथवा व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है या अनुभव करता है। उत्कृष्ट साधक मन की आन्तरिक सूक्ष्म चेष्टाओं से भी अवगत होते हैं। इस लिए शक्ति सर्व व्यापक होते हुए भी कहीं उस की क्रिया प्रकट है तो कहीं अप्रकट। अप्रकट क्रियाओं को जन-साधारण तो पकड़ नहीं पाते, जब कि अप्रकट क्रियाओं तक केवल उच्च साधकों की ही गति होती है, वह भी उसी सीमा तक, जहां तक उन की पहुंच हो।

मैं ने कहा-योगी नागनाथ जी तो इस प्रकार बात कर रहे हैं जैसे कोई वैज्ञानिक बोल रहा हो। उस समय तक विज्ञान का इतना विकास कहां था ?

महाराजश्री- यह तुम्हें किस ने कह दिया कि योगी नागनाथ जी वैज्ञानिक नहीं थे। हां ! उस समय इतने बड़े-बड़े यंत्र एवं प्रयोगशालाएं नहीं थी तथा न ही उन की कोई आवश्यकता थी। वे अपने साधन के द्वारा ही स्थूल तथा सूक्ष्म स्तरों का ज्ञान प्राप्त करते थे। साधन अणु से ले कर ब्रह्म तक का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त कराने में सक्षम है। उन के द्वारा भौतिकता का ज्ञान, आज के भौतिक विज्ञान के साथ मेल खाता है वह ऐसे सूक्ष्म स्तरों का भी वर्णन करता है जो अभी तक आधुनिक विज्ञान की परिधि से बाहर हैं। प्राचीन योगियों ने शक्ति के अत्यन्त सूक्ष्म एवं गुह्य स्तरों के अनुभव, साधन के द्वारा प्राप्त किए।

जब शक्ति शिव में प्रकट एवं कार्यशील अवस्था में रहती है तब उस का स्पन्दन, आन्दोलन अथवा क्रिया निरन्तर चला ही करती है। जब शक्ति शिव में विलीन हो जाती है तभी उस का स्पंदन विराम पाता है। जगत का प्रत्येक परिणाम क्रिया या घटना शक्ति के स्पदंन के ही आश्रित है। एक शिष्य ने शंका उपस्थित की, "जब जगत की प्रत्येक् क्रिया ; चाहे वह प्राकृतिक घटना हो अथवा किसी जीव द्वारा किया गया कर्म, सब शक्ति की ही क्रिया है, तो फिर मनुष्य के कर्म का क्या महत्त्व रह जाता है ?"

योगी नागनाथ- शक्ति की जिस भी क्रिया में मनुष्य अपना अहम् मिला देता है, वही क्रिया कर्म का रूप ग्रहण कर लेती है। तथा वह कर्म मनुष्य के प्रारब्ध के खाते में लिखा जाता है। मनुष्य कर्म का कर्ता नहीं होने पर भी कर्ता बन जाता है। द्रष्टाभाव से गिर जाता है। यदि विचार किया जाय तो सभी मनुष्य अभिमान तथा दंभ के गहन वन में भटक रहे हैं, जो शक्तिहीन हो कर भी परम-शक्तिशाली होने का स्वांग रचते हैं। तब मनुष्य के अहम् भाव का स्तर अभिमान तथा कर्ताभाव तक नीचे उतर आता है। वह कर्मों एवं जगत में आसक्त होकर कालचक्र में घूमता रहता है। दूसरा अत्युच्च महापुरुषों का शुद्ध अहम्भाव, जिस में अहम्भाव निर्मल चैतन्य में स्थापित होता है। उस अवस्था में जीव व्यष्टि स्तर से ऊपर उठ कर

समष्टि चैतन्य में प्रवेश कर जाता है। अभिमान तथा कर्ताभाव दोनों गलित हो जाते हैं। अहम्भाव की इस अवस्था को प्राप्त करना ही अध्यात्म का लक्ष्य है तथा इसी अहम्भाव से भगवती का अनुग्रह प्राप्त करना भगवती की यथार्थ कृपा है।

प्रश्न- किन्तु सामान्यतया तो लोग अपनी जागतिक कामनाओं की पूर्ति को ही भगवती की कृपा समझते हैं।

योगी नागनाथ- इस में उन का कोई दोष नहीं क्योंकि उन के चित्त का स्तर ही ऐसा है। वह कामनाओं की पूर्ति को ही सर्व-सुखों का दाता समझते हैं। वह भगवती का प्रेम प्राप्त करने के लिए नहीं, जगत की कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवती के दरबार में जाते हैं। भगवती भी एक टुकड़ा डाल देती है। चित्त-स्थिति के अनुरूप ही कोई कल्पना कर सकता है, किन्तु जगत की कोई भी कामना-पूर्ति शाश्वत सुख प्रदान नहीं कर सकती।

महाराजश्री उठ कर चलने के लिए तैयार हो गए थे। आश्रम से और भक्त-शिष्य भी आ कर मण्डली में सम्मिलित हो गए। सामने छिटका-पसरा देवास नगर अंगड़ाई ले कर नींद से जाग रहा था। सड़कों पर थोड़ी चहल-पहल भी दिखाई देने लगी थी। सूर्य नारायण भी आकाश में अपनी सुनहरी छटा बिखेरते हुए शोभायमान हो रहे थे। हम ने टेकड़ी से नीचे उतरना आरंभ कर दिया था। उतराई काफी सीधी होने से चलते समय अपने आप को संभाल पाना कठिन हो रहा था, ऐसे में चलते-चलते बात करना असंभव था। टेकड़ी के मध्य में ही नारायण कुटी आश्रम था। वहीं जा कर हमारे पांव रुके।

एक बार नागनाथजी ध्यान के उपरान्त अपनी कुटिया से बाहर निकले ही थे कि सामने भगवान दत्तात्रेय जी को खड़े पाया। देख कर वह हड़बड़ा से गए तथा एकदम साष्टांग प्रणाम किया। बोले, "प्रभु ! आप ने बड़ी कृपा की जो इस दास की कुटिया पर पधारे। मेरा धन्य भाग्य है।"

दत्तात्रेय- नागनाथ जी ! आप में तथा मुझ में कोई अन्तर नहीं। हम ने भी जीवन में त्याग तथा तपस्या को अपनाया तथा आप भी उसी मार्ग पर अग्रसर हैं। धन्य वही है जिस ने साधनामय जीवन अपना लक्ष्य बना लिया है। हमें लोग अवधूत कहते हैं क्योंकि हम ने विकारों तथा आसक्ति का त्याग कर दिया है। आप को लोग अवधूत के रूप में नहीं पहचानते किन्तु मेरी दृष्टि में तुम भी अवधूत से कम नहीं हो। तुम आशा रूपी पाश से मुक्त हो, आद्योपान्त निर्मल हो, परमात्म तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता हो, विषयों-वासनाओं के त्यक्ता हो। तुम्हारे शरीर पर चाहे धूल जमी हो किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल है। यह सब तुम पर भगवान की कृपा का ही परिणाम है। तुम्हारे जैसे साधन-संपन्न लोगों को देख कर प्रसन्नता

होती है"

दत्तात्रेयजी ने भगवती चामुण्डा को साष्टांग प्रणाम किया तथा अदृश्य हो गए।

नटकासुर प्रकरण

नागनाथजी के टेकड़ी पर आ कर रहने के पश्चात् दर्शनार्थियों का आना जाना काफी बढ़ गया था। ऊपर जाने के मार्ग भी काफी सुधरता जा रहा था। नागनाथ जी तथा अन्य साधक प्राय: अपने ध्यान में ही रहते थे। यदि कोई साधक मिल जाता तो लोग उस से थोड़ी बात कर लेते थे अन्यथा कुटिया के बाहर से ही प्रणाम कर लेते थे। लोगों के लिए माताजी का आकर्षण तो था ही।

नटकासुर नामक व्यक्ति उस समय डाका डालने तथा लूटपाट मचाने में काफी ख्याति प्राप्त था। उस ने जब देखा कि टेकड़ी के आस-पास के वनों में लोगों का आवागमन बहुत बढ़ गया है तो उस ने इसी क्षेत्र को अपनी गतिविधियों के लिए उपयुक्त समझा। उस के पास शस्त्रों से सुसज्जित लोगों का एक जत्था था अत: वन में जाते दर्शनार्थियों को मारना-लूटना आरंभ कर दिया। लूटपाट, कत्ल, तथा बलात्कार की घटनाओं से आस-पास के सभी गावों में आतंक व्याप्त हो गया।

जैसा कि लिखा जा चुका है कि नागनाथजी प्राय: अपनी कुटिया में ध्यानस्थ ही रहते थे। जब वह ध्यान से उठे तो उन्हें बताया गया कि नटकासुर नाम डाकू ने जंगल में आतंक फैला रखा है। कई ऐसी घटनाएं घट चुकी हैं जिन में उस ने यात्रियों को लूट लिया है। कुछ लोगों की उस ने हत्या भी कर दी है। बलात्कार भी हुए हैं। यात्री यहां आने से डरने लगे हैं

एक शिष्य- महाराज जी ! क्या आप अपने तपोबल से इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते ?

योगी नागनाथ- अवश्य कर सकते हैं किन्तु क्रोध करना हमारे साधन के नियमों के विरुद्ध है अन्यथा उसे योगबल से भस्म कर सकते हैं। हम उसे समझाने का प्रयत्न करेंगे किन्तु कठिनाई यह है कि ऐसे लोग किसी उपदेश को ग्रहण नहीं करते। पर हम उसे एक बार समझाने का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

इतना कह कर योगी नागनाथ जंगल में गुम हो गए। कुछ शिष्यों ने साथ चलने के लिए निवेदन किया तो उन्होंने मना कर दिया, मेरा अकेला जाना ही उचित है" "किन्तु आप उसे इतने विशाल जंगल में ढूंढें गे कैसे ?" योगी जी ने कहा "यह योगी के लिए कठिन कार्य नहीं। तुम चिन्ता मत करो।"

योगी नागनाथजी सीधे वहीं जा पहुंचे जहां नटकासुर अपने डाकू-समूह के

साथ बैठा था।

योगी नागनाथजी- मैं नागनाथ हूं जो इस टेकड़ी के ऊपर रहता हूँ।

नटकासुर- तो तुम हो वह महात्मा जिस के दर्शन करने इतने लोग आते हैं। सुना है कि तुम बहुत चमत्कारी हो। हम भी तो तुम्हारा कोई चमत्कार देखें। यदि ऐसे ही सिद्ध हो तो अपने भक्तों की रक्षा क्यों नहीं करते ?

योगी नागनाथ- सिद्धियां साधन-मार्ग का एक पड़ाव है. कोई प्रदर्शन की वस्तु नहीं। फिर मुझे सिद्ध होने का प्रमाण-पत्र तुम से लेने की आवश्यकता नहीं। मैं तो तुम्हें केवल यह समझाने आया हूं कि निर्दोष प्राणियों की हत्या करने से तुम्हें कुछ लाभ नहीं। यदि तुम्हें धन-माल का लोभ है वह तो प्रारब्ध से प्राप्त होता है। यदि तुम यह कुकर्म नहीं करोगे तो तुम्हारा भाग्य किसी अन्य उपाय से तुम्हारे प्रारब्ध में लिखा धन तुम्हें दिलवा देगा। ऐसे धर्म-विरुद्ध कार्य कर के तुम पाप के भागी बन कर अपना परमार्थ क्यों बिगाड़ते हो ?

नटकासुर- यह उपदेश की बातें अपने शिष्यों-भक्तों को सुनाना। मुझ पर उस का कोई प्रभाव होने वाला नहीं।

नटकासुर कह तो गया किन्तु योगी नागनाथ की निर्भीकता से उस का अन्तर् दहल गया था। उस का मन हो रहा था कि यह साधु शीघ्रतातिशीघ्र यहां से चला जाय। उस के हाथ पांव जैसे सुन्न होते जा रहे थे। वह अच्छी तरह बोल भी नहीं पा रहा था। फिर किसी तरह उस ने कहा, "यदि अपनी कुशलता चाहते हो तो तत्काल यहां से चले जाओ। अन्यथा तुम्हारे शिष्य तुम्हारी लाश ढूंढते फिरेंगे"

योगी नागनाथ- सत्य ही कहा है कि जिस की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है उसे विवेक की बातें अच्छी नहीं लगतीं। काल उस के सिर पर मंडराने लगता है। अब तुम अपनी कुशलता की चिन्ता करो।"

इतना कह कर नागनाथ वापिस हो लिए।

एक डाकू- इस साधु की जबान कैसे चल रही थी। आप ने उसे वापिस क्यों जाने दिया।

नटकासुर- यमलोक भेजने के लिए एक हाथ काफी था किन्तु यह भी सोचो कि इस का जीवित रहना तथा इस टेकड़ी पर वास करना हमारे हित में है तभी तो इतने लोग यहां आते हैं। यदि यह मारा जाय तो समझो कि सोने के अण्डे देने वाली मुरगी हाथ से गई।

इस पर सब डाकू हंसने लगे

जब योगी नागनाथ टेकड़ी पर लौटे तो कुछ गंभीर थे। शिष्यों के पूछने पर उन्हों ने बताया, "जैसी आशा थी, वैसा ही हुआ। वह कोई बात सुनने-समझने के

लिए तैयार नहीं।" इतना कह कर अपनी कुटिया में जा कर ध्यानस्थ हो गए। ध्यान में भगवती ने प्रक़ट हो कर कहा, "नागनाथ ! चिन्ता मत कर। नटकासुर का पाप का घड़ा अब भरने ही वाला है। एक बूंद की ही कमी रह गई है।"

अगले दिन कुछ दर्शनार्थी जंगल में से आ रहे थे कि नटकासुर ने अपने दलबल के साथ उन को घेर लिया। कुछ दर्शनार्थियों ने उन का सामना करने का प्रयत्न किया तो उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। उन के कटे हुए सिर लोगों ने योगी नागनाथ के सामने ला कर रख दिए। वह हाहाकार कर रहे थे तथा योगी जी से सुरक्षा प्रदान करने की याचना कर रहे थे। अजीब दिल दहला देने वाला दृश्य उपस्थित था। योगी नागनाथ का हृदय नर-मुंडों को देख कर दुखी हो गया। वह लपक कर उठे तथा माताजी की गुफा में जा कर भगवती चामुण्डा से प्रार्थना करने लगे, "माता। आप ने कहा था कि इस दुष्ट के पाप के घड़े में एक ही बूंद की कमी है किन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ़ का पानी घड़े में प्रवेश करता जा रहा है। तुम ने कृपा कर के मुझ में ऐसी शक्ति भर दी है कि मैं भी उसे दण्ड दे सकता हूं किन्तु हे मां। यह यश तुम्हें ही प्राप्त होना चाहिए।"

माता चामुण्डा-तुम चिन्ता क्यों करते हो ? अब नटकासुर के दण्ड देने का समय आ गया है। अब कुछ ही क्षणों की बात है।

योगी नागनाथ ने देखा कि भगवती की प्रतिमा से ज्योति निकल कर आकाश में विलीन हो गई। पेड़ों के झुरमुट में जहां नटकासुर, अपने साथियों के साथ, आज की घटना के विषय में विचार कर रहा था, कहीं से आवाज़ आई, "हे अभिमानी मूर्ख। अपने पापों का दण्ड भुगतने के लिए तैयार हो जा। अब तेरे पापों का घड़ा भर गया है"

नटकासुर ने इधर उधर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया। उस ने कहा, "हे मायावी नारी ! छिप-छिप कर क्या बकवास कर रही है ? हिम्मत हो तो सामने आ"

फिर आवाज़ आई, "मैं तुम्हें दर्शन देने नहीं आई, दण्ड देने आई हूं। पाप करते समय तुम ने तनिक भी संकोच नहीं किया किन्तु कर्मों के परिणाम से कोई भी बच नहीं सकता।

नटकासुर इधर-उधर देखने लगा। भय से उस का शरीर थर-थर कांप रहा था। यह ध्वनि उसे अपनी मौत का संकेत दे रही थी। फिर भी उस ने मिथ्या उत्साह दर्शाते हुए तलवार हाथ में ले ली। किन्तु अब उस का जीवन-काल समाप्त हो चुका था। भय चित्त पर एक ऐसा आक्रमण है जिस में विकार तथा मन के दोष

रूपी सभी दैत्य मिल कर आक्रमण करते हैं, चित्त पर आघात करते हैं। सारा जगत ही किसी न किसी कारण भयभीत बना रहता है। यदि कहा जाय कि जगत भय का ही दूसरा नाम है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

नटकासुर को अपना अतीत आंखों के सामने दिखाई देने लगा। किसी का वध कर रहा है। किसी को लूट रहा है,तो किसी से बलात्कार कर रहा है। उस में पश्चाताप् की अग्नि धधक उठी किन्तु अब तक काफी देर हो चुकी थी। मौत सामने खड़ी उसे ललकार रही थी। इतने में एक हाथ में त्रिशुल लिए, लाल-लाल आंखे, शरीर क्रोध से कांपता हुआ, उसे एक स्त्री दिखाई दी। भगवती ने कहां, "पाप का फल कभी भी मीठा नहीं होता, न ही अपने कर्मो के फल से कोई बच सकता है।" यह कर उस ने त्रिशुल नटकासुर की ओर फैंका जो उस की छाती चीरता हुआ दूसरी ओर निकल गया।

वास्तव में भगवती दैत्यों के रूप में दोष-युक्त भावों का संहार करती है। दैत्य अपने पापों तथा कुकर्मो के कारण सदैव तनावग्रस्त तथा भययुक्त बने रहते हैं। दोषमुक्त हो जाने पर दैत्य भी भयमुक्त हो जाते हैं क्योंकि तब वह दैत्य रहते ही नहीं। उन का भी कल्याण हो जाता है। भगवती के समीप दैत्य,देव, मानव सभी एक समान हैं। वह जगन्माता होने से सभी को एक समान स्नेह करती है। दैत्यों को भगवती नहीं, अपने पाप मारते हैं।

जब नटकासुर की छाती के त्रिशुल आर-पार हो गया तो उस का शरीर धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा। वह तड़पने लगा। भगवती ने जब त्रिशूल उस के शरीर से निकाला तो उस पर खून नहीं था जब कि नटकासुर लहुलुहान था।

यह सुन कर मैं आश्चर्य चकित रह गया। मैं ने महाराज श्री से पूछा कि इस में क्या रहस्य है ? त्रिशूल आर-पार हो गया, नटकासुर लहुलुहान हो गया पर त्रिशूल पर खून का निशान नहीं।

महाराजश्री- यही तो भगवती की लीला है। वह सभी कार्य करती हुई भी उस के प्रभाव से निर्लिप्त रहती है। साधन में तुम्हें जो क्रियाएं होती हैं, उन को करने वाली शक्ति पर उन का कोई प्रभाव नहीं होता। भगवती का त्रिशूल भगवती की शक्ति का प्रतीक है। त्रिशूल ने क्रिया की किन्तु उस क्रिया का कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया। उस पर रुधिर का निशान तक नहीं लगा।

नटकासुर घायल अवस्था में पड़ा तड़प रहा था। उस का सारा अतीत उस की आंखों के सामने से निकलता जा रहा था। सभी किए हुए कुकर्म स्मरण हो रहे थे। अब उन सब के लिए उस के मन में पश्चाताप् था। एक ओर मन में पश्चाताप् तो दूसरी ओर भगवती के दर्शन। उस ने मन ही मन भगवती को प्रणाम किया तथा

कहा, "हे मां ! मैं धन्य हो गया जो तुम्हारे हाथों से मुक्ति को प्राप्त हो रहा हूं। मैं ने जीवन भर पाप कमाए हैं। बलिष्ठ होने के घमण्ड में सदैव मेरा माथा ऊंचा रहा है। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की हिंसा कर के मुझे सुख मिलता रहा है। मनुष्यों को मक्खी की तरह मसल डालना मेरे लिए खेल के समान था। महिलाओं तथा बच्चों तक को भी मैं ने क्षमा नहीं किया। किन्तु अब उस सब का पटाक्षेप हो रहा है। हे मां ! तुम जगजननी हो। सारा संसार तुम्हारी संतान है। तुम दया तथा वात्सल्य का मूर्तिमान स्वरूप हो। हे मां ! ऐसी कृपा करो कि मैं सदैव तुम्हारे चरणों में ही पड़ा रहूं।

भगवती- नटकासुर ! तुम ने आजीवन पाप कमाए हैं किन्तु अन्त समय की सद्बुद्धि ने तुम्हारे कल्याण का मार्ग खोल दिया है। मैं वरदान देती हूं कि तुम इसी प्रकार परमार्थ के पथ पर आरुढ़ बने रहो तथा तुम्हारे हृदय में मेरा वास बना रहे।" भगवती की प्रतिमा में, चरणों के पास जो एक धराशायी दैत्य पड़ा है, वह नटकासुर का ही प्रतीक है।

नटकासुर मारा गया, यह समाचार आंधी की तरह तीव्र गति से सभी गांवों में फैल गया। नटकासुर के साथ ही उस के सभी साथी भी मारे गए किन्तु यह किसी को पता नहीं चला कि वह कैसे मरा तथा किस ने मारा ? जब लोगों ने योगी नागनाथ से पूछा तो उन्हों ने कहा, "कैसे भी मरा हो तथा किसी ने भी मारा हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि भगवती की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। वही सारे जगत को चला रही है, वही प्रत्येक् घटना का कारण है। माध्यम चाहे किसी को भी बना ले, किन्तु सब कुछ करने वाली वास्तविक सत्ता वही है। एक नटकासुर तो क्या ? यदि उस की भृकुटि तन जाए तो आंख झपकने में सारा संसार समाप्त हो सकता है।"

उस दिन के पश्चात् गावों के लोग भगवती चामुण्डा तथा योगी नागनाथ के दर्शनों के लिए बेखटके आने लगे।

योगी नागनाथ की समाधि अवस्था

मैं जब भी महाराजश्री साथ माताजी की टेकड़ी पर जाता, तो देखा कि टेकड़ी की परिक्रमा करते समय, महाराजश्री एक निश्चित स्थान पर, थोड़ी देर ठहर कर, किसी को प्रणाम किया करते थे। पहले तो मैं ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु जब प्रतिदिन यही क्रम देखने को मिला, तो मेरे अन्तर् यह प्रश्न उभरा कि महाराजश्री किस को प्रणाम करते हैं ? कोई मंदिर भी पास नहीं है, सड़क पर कोई आता-जाता भी दिखाई नहीं दे रहा, फिर यह प्रणाम कैसा ? दो-चार दिन

मैं और इसी बात को देखता रहा, अन्ततः महाराजश्री से पूछ ही लिया, "महाराजश्री ! आप प्रति दिन किसे प्रणाम करते है ? न कोई मंदिर, न कोई व्यक्ति"

महाराजश्री- जिसे मैं प्रणाम करता हूं उसे तुम नहीं देखते।

मैं ने कहा- मैं बात समझा नहीं।

महाराजश्री- यहां एक अदृश्य सिद्ध पुरुष समाधिस्थ हैं, उन्हें प्रणाम करता हूं।

मैं ने कहा- वह महापुरुष कौन है ?

महाराजश्री- योगी नागनाथजी।

यह सुन कर मैं गहरी सोच में डूब गया। फिर पूछ ही लिया, "वह कहां बैठे हैं ?"

महाराजश्री- उन की समाधि अधर में लगी है।

मैं ने कहा - क्या समाधि से पूर्व उन के साथ आप की कोई बात हुई थी ?

महाराजश्री- नहीं मैं जब से यहां आया हूं उन्हें समाधि में ही देखा है, इस लिए कोई बात करने का प्रश्न ही नहीं।

मैं ने कहा- क्या और भी कोई अदृश्य सिद्ध पुरुष यहां टेकड़ी पर समाधिस्थ हैं ?

महाराजश्री- मैं तुम्हें बता ही चुका हूं कि एक महापुरुष नारायण कुटी की साधन गुफा में समाधिस्थ है। एक यहां नागनाथ जी हैं। अन्य कोई हो तो मेरी जानकारी में नहीं। हां ! यदा-कदा कतिपय महापुरुष भगवती के दर्शनों के लिए आते रहते हैं। भगवती के स्थान पर आते हैं तो नारायण कुटी में भी चले आते हैं।

मैं ने कहा- आप ने इस टेकड़ी को साधन-शिखर बताया है, किन्तु किसी समय यह साधन शिखर रही होगी, अब तो यहां कोई साधक दिखाई नहीं देता। भगवती के दर्शनों के लिए जनता तो बहुत उमड़ती है, किन्तु जहां तक मेरा विचार है कि अधिकांश दर्शनार्थी कोई न कोई सांसारिक कामना ले कर ही आते हैं। संभव है कभी कोई अध्यात्म-प्रेमी भी आ जाता हो।

महाराजश्री- तुम्हारा कहना ठीक है। वास्तविक साधन-शिखर जीव के अन्तर् में है। भगवती भी वास्तव में अन्तर में है, किन्तु दृश्य-जगत में जिस पहाड़ी या स्थान पर साधक प्रायः तपस्या करते हैं उसे भी साधन-शिखर या साधन-स्थान कह दिया जाता है। उसी दृष्टि से इस टेकड़ी को मैं ने साधन-शिखर नाम दिया है। किसी समय यहां दृश्य तथा अदृश्य दोनों प्रकार के साधक साधन करते थे। अदृश्य तपस्या अभी भी यहां होती है। इस लिए साधन-शिखर तो यह अभी भी है, जहां नागनाथ जैसे महापुरुष समाधि लगाए बैठे हैं।

मैं ने कहा- ऐसा प्रतीत होता है कि इस टेकड़ी पर नाथ सिद्ध-पुरुषों का वर्चस्व रहा है।

महाराजश्री- सिद्ध-पुरुषों में नाथ-अनाथ कोई सम्प्रदाय नहीं होता, वह केवल सिद्ध पुरुष होते हैं। यह सभी दीवारे सांसारिक दृष्टि-कोण से हैं। अध्यात्म में नानात्व एवं भिन्नत्व समाप्त हो जाता है। पर तुम अभी तक संसार की खिड़की में खड़े होकर देख रहे हो, इस लिए तुम्हें कई सम्प्रदाय, मार्ग तथा सिद्धान्त दिखाई दे रहे हैं। यदि दृश्य बदला हुआ देखना चाहते हो तो अपने आप को चैतन्य में स्थापित करो। चित्त में तो चंचलता भरी है। जब तक चित्त का साथ करते रहोगे, जगत में नानात्व दिखाई देता रहेगां। चैतन्य में स्थापित होते ही एकत्व दिखाई देने लगेगा।

मैं ने प्रश्न किया- चैतन्य में स्थापित होने का उपाय ?

महाराजश्री- शक्तिपात में दीक्षित हो कर भी तुम इस प्रकार प्रश्न करते हो ? जाग्रत शक्ति अपनी क्रियाशीलता से साधक को इसी दिशा में ही ले जाती है। सर्वप्रथम संस्कारों एवं वासनाओं को क्रियाओं में क्षीण कर, चित्त शुद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है। प्रारब्ध-भोग हेतु चित्त-स्थिति का निर्माण करती है। तमोगुण तथा रजोगुण का ह्रास तथा सत्त्वगुण की वृद्धि की ओर साधक को ले जाती है। जगत में सभी कुछ एक शक्ति का ही समग्र विस्तार है। नानात्व, भिन्नत्व उसी में आभासित होता है जितना किसी में अच्छा-बुरा, गुणी-अवगुणी, मित्र-शत्रु अथवा रागद्वेष का भाव बढ़ता है उतना ही चैतन्य में विभाजन का भाव विकसित होता है। उतना ही जीव भक्त से अभक्त या विभक्त की श्रेणी में प्रविष्ट होता जाता है। यदि शक्ति के एकत्व के अनुभव की दिशा में आगे बढ़ना है तो रागद्वेष तथा तेरे-मेरे के भाव से ऊपर उठ कर, साधन में तत्पर हो जाओ। शक्ति अपनी क्रियाशीलता से सब कुछ सुगम करती जायगी।

महाराजश्री उठ कर साधन-कक्ष में चले गए। मैं भी अपने कमरे में जा कर साधन में मन लगाने का प्रयत्न करने लगा।

योगी नागनाथ वक्ता के रूप में

योगी नागनाथ अत्युत्तम साधक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट वक्ता भी थे। उन की वर्णन-शैली सारगर्भित किन्तु सुबोध थी। झरने के जल की भांति उन की वाणी अन्तर् से प्रस्फुटित हो कर धारा प्रवाह मुखरित होती थी। वह अपनी विवेकजन्य वाणी के द्वारा अपने शिष्यों के अन्तस्थल तक भेदन करते थे तथा उन की शंकाओं एवं संशयों का निराकरण होता था। एक दिन वह अपने शिष्यों को संबोधन करते हुए कह रहे थे-

योगी नागनाथ- अध्यात्म-लाभ के लिए अहंकार का नाश तथा सद्गुरु की प्राप्ति यही दो उपाय हैं। योग साधन की उपेक्षा करोगे तो मार्ग से भटक जाओगे। जब उन्मनी डोरी को खेंचा जाता है तभी अन्तर् में परिव्याप्त सहज आत्म-ज्योति के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होता है।

एक शिष्य- अहंकार का नाश तो सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् साधन करते-करते सम्पादित होता है, किन्तु आप ने अहंकार-नाश को पहले कहा ?

योगी नागनाथ- मैं ने केवल इन दोनों बातों का उल्लेख किया है, आगे-पीछे वाली बात नहीं कही। सद्गुरु की प्राप्ति का अर्थ केवल गुरु वरण करना ही नहीं है। अपने चित्त को गुरु की चित्त-शक्ति के साथ जोड़ देना है, गुरु को समर्पित हो जाना है, गुरु की आज्ञा का पालन तथा उस की सेवा करना है। अधिकाधिक साधन से गुरु की कृपा-शक्ति का विकास करना है। शक्ति की क्रियाओं की अपने से भिन्नत्व की अनुभूति अहंकार पर कुठाराघात करती है। वह जड़-चेतन की ग्रन्थि, जो कि अहंकार का कारण है, को खोलने के लिए प्रयत्न शील होती है। इस के लिए पहले चित्त के मल को शुद्ध करती है। चित्त से विघ्नों, बाधाओं को हटाती है। मार्ग को निर्मल एवं स्वच्छ करती हुई ऊपर चढ़ती जाती है। उस की प्रत्येक् क्रिया के साथ अहंकार शिथिल होता है। अहंकार का पूर्ण नाश तथा आत्म ज्योति का साक्षात्कार एक साथ होते हैं।

एक शिष्य- आप ने कहा कि योग-साधना की उपेक्षा करोगे तो मार्ग भटक़ जाओगे जब कि साधना के अन्य अनेकों प्रकार भी उपलब्ध हैं जैसे ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, जप इत्यादि।

योगी नागनाथ- यह सभी साधनाएं योग के ही अंतर्गत् हैं शक्ति की जाग्रति से पूर्व यदि इन का अभ्यास किया जाता है तो इन की पृष्ठभूमि में योग का होना आवश्यक है। शक्ति की जाग्रति के पश्चात् सभी साधनाओं का विलय एक ही साधन में हो जाता है। हम ने शक्ति की जाग्रति के पश्चात् के साधन को योग कहा, आप उसे जो चाहें कह सकते हैं। नाम से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य बात साधन करना है। साधन की उपेक्षा करोगे तो भटक जाना अवश्यंभावी है। साधन करते रहोगे तभी गुरु की प्राप्ति का कुछ अर्थ है। गुरु शरीर से दूर रह कर भी गुरु-प्राप्ति बनी रह सकती है तथा निकट सानिध्य में रह कर भी। यदि साधन नहीं करोगे तो गुरु का सानिध्य भी निष्फल है। अन्तर्जाग्रंत शक्ति ही गुरु है। उसी को समर्पित होना है। उसी की शरण कल्याणकर है।

एक शिष्य- उन्मनी की डोरी खेचने का क्या अर्थ है ?

योगी नागनाथ- जब मन का लक्ष्य आत्मा की ओर हो जाता है तो वह मन

की उन्मनी अवस्था संस्कार, वासना, तथा प्रारब्ध के क्षय के उपरान्त ही प्राप्त होती है। उन्मनी को खैंचने का अर्थ है, लक्ष्य या अन्तर्मुखी वृत्ति को आत्मा की ओर खैंचना। यह खैंचने की क्रिया भी यत्न साध्य नहीं। अपितु अन्तर्जाग्रत शक्ति की एक स्वाभाविक क्रिया है। साधक शक्ति के प्रति समर्पण के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। अन्तर्जाग्रति के उपरान्त समर्पण का जो क्रम आरंभ होता है वह आत्म-स्थिति की प्राप्ति पर्यन्त चलता है। शक्ति के ऊपर चढ़ने के साथ समर्पण का स्तर भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

एक शिष्य- आत्म-ज्योति को सहज क्यों कहा ?

योगी नागनाथ- क्योंकि आत्मा की स्वाभाविक अवस्था में ही इस का अनुभव संभव है। जब आत्मा पर कृत्रिम वृत्तियों का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो आत्म-ज्योति वृत्तियों के समूह में छिप जाती है। तथा आत्मा वृत्तियों के रूप के अनुरूप भासित होता है। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को सहज साधन से ही अनुभव किया जा सकता है।

साधक को चाहिए कि शरीर में व्याप्त प्राण-वायु से शिक्षा प्राप्त करे जो कि केवल आहार की ही इच्छा करती है तथा प्राप्त हो जाने पर उस की इच्छा शान्त हो जाती है। अत: साधक के लिए कर्तव्य है कि जीवन निर्वाह के लिए ही भोजन ग्रहण करे। अधिक खाने की लालसा न पाले। अधिक खाने वाले को विषयों की भूख सताने लगती है। विषयों में लिप्त मन का पतन हो जाता है। वाणी का सदुपयोग करे। व्यर्थ के चिन्तन तथा विचार में अपने मन को न लगाए अन्यथा मन की चंचलता बढ़ती जाएगी। जगत में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, चाहे स्थावर हो या जंगम, चल हो अथवा अचल, उन की उत्पत्ति तथा कारण एक दूसरे से भिन्न दिखाई देने पर भी, एक शक्ति की क्रिया की विभिन्न धाराएं हैं। सब में एक शक्ति ही निहित है। उसी की स्पंदन शीलता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। स्थूल अथवा सूक्ष्म जितने भी देहधारी हैं, परमात्मा सब में एक समान व्याप्त है। साधक स्थूल से सूक्ष्मता, फिर अति सूक्ष्मता, फिर परम सूक्ष्मता की यात्रा करते हुए सूक्ष्मातीत परमात्मा तक जा पहुचता है तथा स्थूल जगत शक्ति की माया या लीला रूप रह जाता है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भगवती, गणेषादि जितने देवी-देव हैं सब का अनुभव मनुष्य शरीर के अंदर किया जा सकता है तथा जीवों के अनेकानेक शरीर एक आद्या शक्ति में ही विद्यमान है किन्तु परस्पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं तथा परमात्मा से भी उन की भिन्नता अभासित होती है। किन्तु स्मरण रहे कि परमात्मा से भिन्न जो कुछ भी लक्षित होता है सब कल्पना मात्र है। यह सारा जगत भगवती जगदम्बा की

स्पंदन लहरियां हैं। किन्तु इस को अनुभव करना शक्ति की अन्तर्मुखी जाग्रति एवं तत्पश्चात् समर्पण-भाव-युक्त साधन की अपेक्षा रखता है। आयु काल के साथ, कंधे से कंधा मिला कर सरपट भागी जा रही है। जब आयु के पांव लड़खड़ा जाते हैं तो काल आगे निकल जाता है तथा जीव वहीं ढेर हो जाता है।

आप तथा संसार के अन्य प्राणी देखते रह जाऐंगे तथा पता भी नहीं चलेगा कि पंछी कब उड़ गया। जन्म-मृत्यु के दीर्घकालीन चक्र में घूमते-भागते थक कर जीव ने मानव का शरीर धारण किया है। जैसे-जैसे जीव अभिमान, तृष्णा, कामना तथा लोकेषणा की दलदल में धंसता चला जाता है, उस का पतन होता जाता है। किन्तु भक्तों, प्रेमियों तथा योग-साधकों की डगर इस से न्यारी है। उन्हें संसार के ऐश्वर्य तथा सुख-सुविधाओं का तनिक भी लोभ नहीं होता। सन्मान प्राप्त हो अथवा अपमान सहन करना पड़े, उन के लिए एक समान है। उन की हर समय परमात्मा में ही लौ लगी रहती है। राग-द्वेष, अभिमान, लोभ, तथा काम से वह कोसों दूर होते हैं। धन्य हैं ऐसे साधक जो परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर है।

मृत राजा का प्रकरण

योगी नागनाथ की योग दीक्षा महायोगी मत्स्येन्द्र नाथ जी द्वारा संपन्न हुई थी। योगी नागनाथ पहिले बद्रिकाश्रम में साधनरत् रहे एवं तत्पश्चात् हिमाचल प्रदेश में ज्वालामुखी में मंदिर के समीप घने वन में आसन जमाया। इस से भगवती शक्ति के प्रति उन की अगाध श्रद्धा प्रकट होती है। यही श्रद्धा उन्हें भगवती चामुण्डा की टेकड़ी पर अपनां आसन लगाने में कारण बनी।

एक दिन योगी जी अपनी कुटिया में विचार मग्न बैठे थे कि सहसा गुरुदेव मत्स्येन्द्र नाथ जी के स्मरण से मन तरंगित हो उठा। गुरु-दर्शन की उत्कट अभिलाषा बलवती हो उठी। वह पुकारने लगे, "हे गुरुदेव! वैसे तो आप सर्वव्यापक है तथा प्रतिक्षण हृदय पटल पर छाए रहते हैं। कितना लम्बा समय हो गया है किन्तु आप का दर्शन-लाभ नहीं मिला। आप के आशीर्वाद से मुझे साधन का भरपूर आनन्द प्राप्त है किन्तु गुरु-दर्शन का आनन्द किसी भी अन्य आनन्द से बढ़ कर है। हे प्रभु! मुझ पर कृपा करो, मुझे दर्शन दो"फिर योगी नागनाथ ने ध्यान लगा कर देखा कि गुरुदेव इस समय कहां हैं? तो ज्ञात हुआ कि सम्प्रति लंका में विराजमान हैं। योगी नागनाथ ने कहा, "आप सर्वसमर्थ हैं। दूर या समीप आप के लिए एक समान है। आप कण-कण वासी हैं। कभी भी, कहीं भी प्रकट हो सकते है।"

योगी मत्स्येन्द्र नाथ जी ने योगी नागनाथ की पुकार सुन ली एवं तत्काल प्रकट हो गए। उस समय का योगी नागनाथ का हर्ष अकथनीय है। उन्हों ने अपना

मस्तक श्री गुरु चरणों में रख दिया तथा निवेदन किया, "आप की महान अनुकम्पा है जो इस दास को दर्शन दिए। मैं कृत्कृत्य हो गया।

योगी मत्स्येन्द्र नाथ- मैं तुम्हारे बारे में ही विचार कर रहा था कि इतने में तुम्हारी पुकार सुनाई दी। मत्स्य प्रदेश में एक राजा की मृत्यु हो गई है। वह राजा बड़ा धर्म परायण, आचारवान् एवं प्रजापालक था। उस के उत्तराधिकारियों में कोई इस योग्य नहीं कि उस का स्थान ग्रहण कर सके। जब तक अन्य कोई व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक उस राजा का जीवित रहना अत्यन्त आवश्यक है। हमें यह प्रेरणा इस लिए प्राप्त हुई क्योंकि वह राजा हमारा शिष्य था तथा हमारे ऊपर उस की अतीव श्रद्धा थी। इस लिए तुम सूक्ष्म शरीर से उस के मृत स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाओ तथा तब तक वहां रहो जब तक हम तुम्हें नहीं कहें। यहां तुम्हारे शिष्य तुम्हारे शरीर की रक्षा करते रहेंगे। बीच-बीच में जब राजा सोया हो तो तुम उस का स्थूल शरीर अस्थाई रूप में त्याग कर, कुछ समय के लिए चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर आ सकते हो।

योगी नागनाथ- मेरा सौभाग्य है जो आप ने मुझे इस सेवा के योग्य समझा। मेरे शिष्यों को इस बात का पता भी नहीं चलेगा कि स्थूल देह का त्याग कर, अन्यत्र किसी मृतक शरीर में प्रवेश कर गया हूं। वह यही समझते रहेंगे कि मैं समाधि अवस्था में हूं। आप के आदेश का पालन कर के पुनः अपने स्थूल शरीर में लौट आऊंगा।

इस के पश्चात् गुरुदेव अदृश्य हो गए तथा योगी नागनाथ ने शिष्यों को बुला कर कहा, "हम लम्बे समय तक ध्यान की अवस्था में जा रहें हैं। आप लोग चिन्ता नहीं करना तथा हमारे शरीर का ध्यान रखना। कुछ पता नहीं कब तक हम ध्यान में रहेंगे। यह अवधि कई वर्षों की भी हो सकती है।"योगीजी ने कुटिया का द्वार बंद कर लिया तथा ध्यान में चले गए। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को पृथक कर लिया एवं राजा की मृतक देह में प्रविष्ट हो गए।

इस पर मेरे मन में शंका उत्पन्न हुई तथा मैं ने महाराजश्री से निवेदन किया, "योगी मत्स्येन्द्र नाथ लंका में तथा योगी नागनाथ मालवा प्रदेश में ! इतनी दूरी ! प्रार्थना भी सुन ली तथा तत्काल प्रकट भी हो गए ! यह चमत्कार है।

महाराजश्री - सिद्धयोगियों के लिए यह कोई विशेष बात नहीं। योगी मत्स्येन्द्र नाथजी की स्थिति चैतन्य में स्थापित थी तथा चैतन्य सर्वव्यापक है। यह कहो कि योगी मत्स्येन्द्र नाथ चैतन्य स्वरूप ही थे। जब जहां चाहे प्रकट हो जाना तथा कोई भी क्रिया प्रदर्शित कर देना उन के लिए कठिन नहीं था

मैं ने कहा- मन तो अपना भी करता है कि ऐसी सिद्धियां प्राप्त हों।

महाराजश्री-सिद्धियों की प्राप्ति के लिए मन में उत्कण्ठा होना, सिद्धियों के प्रकाशित होने में विघ्न है। जो इन की इच्छा नहीं करते, केवल भगवान के प्रेम और कृपा के लिए साधन में तत्पर बने रहते हैं, उन्हें एक के पश्चात् सिद्धियां अनायास ही प्राप्त होती रहती हैं। अभी तक तो तुम्हारा साधन में श्री गणेष भी नहीं हुआ। कई पगडंडियों तथा वीथियों में से निकलते हुए साधन के राजमार्ग पर आओगे। तुम तो अभी से सिद्धियों के स्वप्न देखने लगे। अभी तुम्हें प्रारब्ध, वासना तथा दृश्यमान जगत से भी मुक्ति नहीं हुई। अभी सिद्धियों की ओर नहीं, साधन की ओर लक्ष्य रखो।

योगी नागनाथ मृतक राजा के स्थूल-देह में प्रविष्ट हुए तो वह जीवित की भांति उठ खड़ा हुआ। सांस चलने लगी तथा रक्त-प्रवाह आरंभ हो गया। राजा के सगे-संबंधी एवं प्रजाजन प्रसन्न हो गए। राजा अपने नित्य प्रति के उत्तरदायित्वों के निर्वाह में जुट गया। बीच-बीच में जब राजा सोया होता तो योगी नागनाथ, उस के भौतिक देह का त्याग कर,चामुण्डा माता की टेकड़ी पर रखे अपने स्थूल-शरीर को क्रियाशील कर देते थे। वह अपने शिष्यों को जगा-बुला कर एकत्रित कर लेते तथा उन के साथ सतसंग करते, उन की शंकाओं का निवारण करते तथा उन्हें मार्ग-दर्शन प्रदान कर राजा की देह में लौट जाते थे।

ऐसी ही एक रात जब योगी नागनाथ चामुण्डा की टेकड़ी पर उपस्थित थे, शिष्य वर्ग से अध्यात्म चर्चा चल रही थी, तभी एक शिष्य ने शंका प्रस्तुत की, "हम आप के शिष्य साधन के लिए प्रयत्नशील हैं किन्तु कभी-कभी आपस में मन-मुटाव हो जाता है तो चित्त गिर जाता है तथा साधन में विघ्न उपस्थित हो जाता है।

उस समय टेकड़ी रात के गहन अंधकार में डूबी थी। चारों ओर स्तब्धता तथा नीरवता व्याप्त थी। कभी-कभी शेरों की भयानक दहाड़ इस स्तब्धता को चीरती हुई वातावरण में गुंजरित हो जाती थी। यह दहाड़ शान्त मन में वासना के आक्रमण के समान थी स्तब्धता पुन: अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट जाती थी।

योगी नागनाथ ने कहना आरंभ किया, "मनमुटाव का प्राय: कारण भ्रान्ति, सहनशीलता तथा समर्पण का अभाव और अभिमान की अधिकता होता है। मन-मुटाव रागद्वेष की वृद्धि कर, जगत में आसक्ति बढ़ाने का कारण है। शान्त सरोवर में पत्थर गिरने के समान, शान्त चित्त में आघात् कर अशान्ति की तरंगे पैदा कर देता है। यह एक ऐसा अवगुण है जिस में रागद्वेष, क्रोध, अभिमान आदि अन्य अनेकों अवगुण छिपे हैं। यह चोर की भांति चित्त रूपी घर में अंधकार का लाभ उठा कर प्रवेश कर जाता है तथा घर के स्वामी को तब पता चलता है जब घर का सारा सामान लुट चुका होता है। जो व्यक्ति आप के सज्जन बन कर मन-मुटाव को बढ़ाने

में आप की सहायता करता है, उस के समान कोई शत्रु नहीं। उसे अपना हितैषी मत समझो।

मन-मुटाव नानात्व-भाव की वृद्धि में सहायक है, जगत में मन के अधिक विस्तार का कारण है। क्रोध, द्वेष एवं वैमनस्य को बढ़ाता है, अपनों से लड़वाता है तथा चित्त को विक्षिप्त करता है। मन-मुटाव चित्त रूपी बाड़े में एक मदमस्त हाथी के प्रवेश से समान है। मन-मुटाव की बेल यदि एक बार पनप जाय तो बढ़ती ही जाती है। मित्रता में मन-मुटाव पनपता है तथा शत्रुता के रूप में उस की परिणिती होती है। साधक को अपना हृदय इतना उदार बना कर रखना होता है कि मन-मुटाव उस में प्रवेश ही नहीं कर सके।

भगवान के प्रेमी-भक्त का प्रभु के प्रति अनन्य भाव होता है। दूसरी भावनाओं, विचारों, अवस्थाओं, वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के लिए उस के हृदय में स्थान ही नहीं होता। उस से अधर्ममूलक अनुचित कर्म होते ही नहीं। यदि कभी हो भी जाएं तो भगवान अपने प्रेम के तीव्र-प्रवाह में सब बहा ले जाते हैं। आप लोगों में यदि मन-मुटाव हो जाता है तो इस का अर्थ यह है कि आप में भगवान के प्रति प्रेम की कमी है। मानसिक प्रवाह जगत की ओर है। अन्य विषयों का आप के समीप अभी महत्त्व है। यदि परस्पर मन-मुटाव समाप्त करना चाहते हो, तो सब ओर से अपना मन खेंच कर, भगवान के चरणों में समर्पित करो।

योगी नागनाथ इस प्रकार रात के समय अपने शिष्यों के समक्ष प्रकट होते तथा उन की समस्याओं एवं शंकाओं का समाधान करते थे। योगी नागनाथ भी भर्तृहरि की भांति दो देहों में विचरण कर रहे थे। अन्तर् इतना ही है कि उन का एक शरीर अपना था तथा दूसरा मृतक शरीर, जिसे वे जीवितवत् बनाए रखे हुए थे। जब रात को चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर रखे अपने शरीर में लौटते थे तो राजा का शरीर मृतक हो जाता था तथा लोग समझते थे कि राजा सोया है। जब नागनाथ जी राजा के शरीर में प्रवेश किए होते थे तो उन के शिष्य समझते थे कि वे समाधि मे हैं।

भर्तृहरि की स्थिति इस अर्थ में भिन्न थी कि एक स्थूल शरीर के होते हुए, उन के सूक्ष्म शरीर ने एक गर्भ में प्रवेश किया था, जन्म ग्रहण किया था, एक लम्बा जीवन जिया था तथा उन का वास्तविक प्रथम शरीर मृतवत् पड़ा था। इस प्रकार दोनों शरीर उन के अपने थे, किन्तु एक शरीर संसार में क्रियाशील था तो दूसरा अचेत पड़ा था।

मैं ने महाराजश्री से निवेदन किया कि जब सामान्यतया साधक महापुरुषों के विषय में इस प्रकार की बातें पढ़ते-सुनते हैं तो क्या वह हतोत्साहित नहीं हो

जाते, "हम इतना ऊंचा कब तथा कैसे उठ पाएंगे ? अभी तो हम जगत में ही धंसे है। आध्यात्मिक यात्रा कितनी लम्बी तथा कठिन है ? ये महापुरुष जो इतना ऊपर उठ गए हैं, वह भी अभी मार्ग में ही हैं। गंतव्य इस से भी बहुत आगे हैं।" ऐसा सोच-सोच कर क्या वे अध्यात्म मार्ग से विरत नहीं होने लगते ?

महाराजश्री- तुम्हारा प्रश्न सही है किन्तु जो मन के दुर्बल साधक होते हैं उन्हीं के हतोत्साहित होने की संभावना होती है। जैसे कोई पहाड़ के नीचे खड़ा हो कर, आकाश में उभरे पहाड़ के उच्च शिखर को देख कर अशक्त व्यक्ति ऊपर चढ़ने का अपना संकल्प त्याग देता है, किन्तु जो शरीर से स्वस्थ एवं मन से सबल व्यक्ति होते हैं वह अपने निश्चय पर अडिग रहते हुए चढ़ते चले जाते हैं। कभी गिर भी पड़ें तो फिर संभल जाते हैं। साधक इस बात को जानता है कि चढ़ाई कठिन तथा लम्बी है किन्तु फिर भी चढ़ना है।

सर्वोत्तम उपाय जो मन के निर्बलों तथा सबलों के लिए समान रूप से लाभप्रद है यह है कि अपने मन को अन्तिम लक्ष्य की ओर से हटा कर साधन पर ही केन्द्रित किया जाय ताकि गंतव्य प्राप्ति की कठिनता की ओर ध्यान जाय ही नहीं। समर्पण इस हेतु एकमात्र उपाय है। साधक का कर्तव्य केवल साधन करना है। मां शक्ति, जब जैसा चाहेगी, अनुभव कराती हुई साधक को उन्नति की ओर आगे बढ़ाती जाएगी।

इस प्रकार दोनों शरीरों का बोझ ढोते हुए योगी नागनाथ को वर्षों व्यतीत हो गए। वह एक शरीर से प्रवृत्ति, तथा दूसरे शरीर से निवृत्ति, दोनों का कुशलतापूर्व निर्वाह कर रहे थे। यही तो योगियों की कार्य-कुशलता है। वह न निवृत्ति से घबराते है, न प्रवृत्ति से भागते हैं क्योंकि उन की आन्तरिक अवस्था प्रवृत्ति-निवृत्ति से अतीत होती है। उन के कर्म न शुभ होते हैं, न अशुभ, तथा न ही शुभाशुभ मिश्रित। परिस्थितिवशात् जैसा सामने आ जाता है, उन्हें स्वीकार होता है। योगी नागनाथ ने अपने गुरुदेव को कभी स्मरण कराने अथवा पूछने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि इस से ऐसा ज्ञात होता है कि शिष्य उकता गया है, कि कब जान छूटे। उन्हें आदेश था कि "जब तक हम नहीं कहें" इस लिए कुछ स्मरण कराने का कारण ही नहीं था। यही तो समर्पण का स्वरूप है। गुरु ही जानते हैं कि कौन सा कार्य किस प्रयोजन से कराया जा रहा है।

एक दिन योगी नागनाथ का सूक्ष्म शरीर चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर आ कर अपने स्थूल शरीर में प्रविष्ट हुआ ही था कि गुरु देव मत्स्येन्द्र नाथ प्रकट हो गए। योगी नागनाथ ने प्रणाम किया तो बोले, मैं जानता था कि इस समय तुम अपने

स्थूल शरीर में वापिस आ रहे हो, इस लिए यहीं चला आया। तुम्हें ज्ञात ही है कि राजा नवीन चन्द्र का योग्य उत्तराधिकारी अब तैयार है। यह राजकाज उसे सौंप कर अब तुम राजा के स्थूल देह का त्याग कर सकते हो। इतने दिनों तक तुम ने अपने कर्तव्य का पालन किया। अब तुम उधर से स्वतंत्र हो।

योगी नागनाथ- आप ने मुझे सेवा के योग्य समझा यह आप की कृपा है। मैं तो श्री चरणों का अकिंचन दास हूं। मैं आशा करता हूं कि भविष्य में भी आप मुझ से सेवा लेने की कृपा करते रहेंगे।

योगी मत्स्येन्द्र नाथ- जिस समय जैसा उपयुक्त होगा तथा भगवान जैसी प्रेरणा देते रहेंगे, वैसा होता रहेगा। तुम जानते ही हो कि योगी के सभी कर्म भगवान की इच्छानुसार घटित होते हैं। तुम इस समय जो कुछ भी कर रहे हो, सब हमारी सेवा ही है। न कोई स्वार्थ तुम्हें है, न मुझे। स्वार्थ संसारियों का काम है, योगियों का नहीं।

फिर कहा- यह मत समझ लेना कि मुझे तुम्हारा ध्यान नहीं। मैं तुम्हारी प्रत्येक् क्रिया पर दृष्टि रखता हूं तथा समय-समय पर तुम्हारा मार्ग-दर्शन करता हूं। मुझे संतोष है कि तुम साधन-पथ पर ठीक चल रहे हो।

योगी नागनाथ- गुरुदेव ! फिर कब दर्शन-लाभ होगा ?

योगी मत्स्येन्द्र नाथ- अभी तुम जा कर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो कर आ जाओ। तब मैं फिर आऊंगा तथा आगे की बात करूंगा।

सत् शिष्य ही एक दिन गुरु बन पाता है। जिस ने गुरु के प्रति समर्पण नहीं किया, गुरु-सेवा नहीं की, साधन में मन नहीं लगाया, वह गुरु बन बैठे, किन्तु सद्गुरु नहीं बन सकता। योगी नागनाथ सत शिष्य पहले थे तदन्तर सद्गुरु। उन का सारा जीवन, जीवन की प्रत्येक् चेष्टा, तथा हृदय का प्रत्येक् भाव गुरु-सेवा को ही समर्पित था तभी तो अध्यात्म की ऐसी ऊंचाइयों को छू पाए। चामुण्डा माताजी की टेकड़ी पर रहते हुए, जब कि कई शिष्य साथ थे, वह शिष्य के अपने स्वरूप को कभी नहीं भूले।

योगी नागनाथ ने जा कर, सब से पहले चामुण्डा माताजी को प्रणाम किया, फिर अपने शिष्यों को जगाया तथा कहने लगे-

योगी नागनाथ- संसार में सब से कठिन कार्य अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होना है। संसार प्रत्यक्ष होने से, इस में संघर्ष कर पाना अपेक्षाकृत सरल है, किन्तु अध्यात्म में अपने अदृश्य मन तथा वासनाओं से संघर्ष करना पड़ता है। जीव अपना प्रारब्ध-निर्माण तो कर लेता है किन्तु उस के फल को सहर्ष भोग कर समाप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। अध्यात्म मन से मन का युद्ध है। मन से मन को मारना है। सिर-

धड़ की बाज़ी लगा कर निकलना पड़ता है। प्रारब्ध-क्षय का अर्थ है अपना थूका हुआ चाटना, अथवा अपना किया हुआ भोगना। मरना ऐसा कि फिर जन्म न हो। अत्यन्त लम्बी तथा कठिन यात्रा है।

भगवती क्रियाशक्ति की कृपा से संस्कारों तथा वासनाओं पर आघात् होते रहते हैं। अपने-आप को ऐसा बनाओं कि क्रियाशक्ति के हाथ का यंत्र बन जाओ। अभिमान ही जीव को क्रियाशक्ति से विलग करने का कारण है। ऐसा कोई कार्य मत करो जिस से अभिमान में वृद्धि हो। यदि अपने-आप को क्रियाशक्ति के प्रति समर्पित कर दोगे तो वह धीरे-धीरे अभिमान को शिथिल करती जायगी।

साधक को पल-पल का ध्यान रखना पड़ता है। पल-पल कर के ही जीवन बनता है। एक पल व्यर्थ गया कि जीवन का एक अंश वृथा चला गया। इस प्रकार जीव, पता नही जीवन के कितने पल व्यर्थ खो देता है। किन्तु एक साधक इस विषय में अत्यन्त सतर्क होता है। जीवन है ही कितना। पलक झपकते व्यतीत हो जाता है। काल किसी को एक पल भी अतिरिक्त देने वाला नहीं है। इस लिए जीवन में जितना अध्यात्म लाभ कमाया जा सके, कमा लो। माया के चक्र के स्थान पर अध्यात्म का चक्र घुमाओ। बाहर का भटकना छोड़ कर अन्तर् की यात्रा करो। अन्तर् में आप ने जो व्यर्थ का मल संचय कर रखा है उस को उगल दो। इस मल के कारण ही आप का पतन हुआ है। मल की दुगंध क्यों सूंघते फिरते हो।

इतना कह कर योगी नागनाथ ने शिष्यों का विदा किया तथा स्वयं ध्यान में चले गए।

योगी नागनाथ ने मत्स्यदेश वापिस जा कर अपने उत्तर-दायित्व का निर्वाह किया तथा राजा के स्थूल शरीर से अपना सूक्ष्म शरीर पृथक कर लिया जिस से राजा की मृत्यु हो गई। योगी नागनाथ चामुण्डा माता की टेकड़ी पर लौट आए तथा पूर्ववत् अपनी कुटिया में ध्यान तथा अपने शिष्यों के साथ सतसंग करने लगे।

एक दिन गुरुदेव प्रकट हो गए।

योगी मत्स्येन्द्र नाथ- एक काम तो पूर्ण हुआ। अब हम तुम्हें वास्तविक निवृत्ति का आनन्द लेने का अवसर प्रदान करते हैं। जब तक दृश्य सन्मुख है, द्वैत है, तब तक संसार से पूर्ण निवृत्ति नहीं। इस के लिए जगत का विलीनीकरण आवश्यक है। यह निर्विकल्प समाधि में ही संभव है। कैवल्य अवस्था में ही इस आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अतः तुम दीर्घ काल के लिए समाधि धारण कर लो इस के लिए हम तुम्हें अदृश्य होने की शक्ति प्रदान करते हैं ताकि तुम संसार से निर्विघ्न, आनन्द की अवस्था में स्थित रहो।

इतना कह कर योगी मत्स्येन्द्र नाथ ने पहले तो अपनी आंखे बंद कर ली। जब आंखे खुलीं तो उन में विचित्र प्रकार का दिव्य तेज प्रकाशित था। उन्हों ने दृष्टि गाड़ कर योगी नागनाथ की ओर देखा। योगी नागनाथ को अपने अन्तर् में कुछ प्रविष्ट होता अनुभव हुआ। योगी मत्स्येन्द्र नाथ ने कहा कि अब तुम केवल संकल्प करने मात्र से, अदृश्य होने की शक्ति से संपन्न हो गए हो। अदृश्य हो कर अपने आप को कहीं भी, अथवा अधर में स्थित कर लेना तथा समाधिस्थ हो जाना।

योगी नागनाथ- गुरुदेव ! आप की अपार अनुकम्पा है। अब कृपया यह बतलाने का कष्ट करें कि कौन से स्थान पर समाधि लगाना उचित रहेगा ?

योगी मत्स्येन्द्र नाथ- वैसे तो किसी भी स्थान पर समाधि लगा सकते हो। कैवल्यावस्था में जगत का भाव तथा अभाव दोनों विलीन हो जाते हैं, इस लिए जगत का महत्त्व भी समाप्त हो जाता है। फिर भी तुम पूछते हो तो यहीं चामुण्डा माताजी की टेकड़ी ही ठीक है। यहां माताजी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष-प्रकट है, साधन-स्थली है। अतः यही स्थान उत्तम है।

इतना कह कर योगी मत्स्येन्द्र नाथ तो अदृश्य हो गए तथा योगी नागनाथ सोच में डूब गए। कैवल्य समाधि की अवस्था का आनन्द वे अनेकों बार लूट चुके थे किन्तु अब की बार समाधि दीर्घ काल के लिए थी, संभवतः हज़ारों वर्षों की, साथ ही अधर में भी, तथा अदृश्य अवस्था में। इन विचारों से योगी नागनाथ रोमांचित हो उठे तथा यह विचार करते-करते निद्रा में निमग्न हो गए।

योगी नागनाथ ने प्रातः काल सभी शिष्यों को एकत्रित किया तथा इस प्रकार कहने लगे-

योगी नागनाथ- रात को गुरुदेव योगी मत्स्येन्द्र नाथजी ने दर्शन दिए। काफी लम्बी चर्चा हुई। उन्होंने दीर्घ काल के लिए समाधि में, वह भी अदृश्य अवस्था में जाने का आदेश दिया। उन्हों ने यह आदेश क्यों दिया, यह गुरुदेव ही जानते हैं क्यों तथा कैसे, शिष्य का कर्तव्य नहीं। गुरु आदेश का पालन ही शिष्य के लिए करणीय है। इस लिए अब हम दीर्घकाल के लिए समाधि-अवस्था में रहेंगे, संभवतः हज़ारों वर्षों के लिए।

समाधि पर्याप्त लम्बी होगी इस लिए आप लोग कहीं भी जाने के लिए मेरी ओर से मुक्त हैं। किन्तु इस बात का स्मरण रहे कि आप लोग साधु हैं, तथा साधन करना आप का कर्तव्य है। आप ने अध्यात्म-लाभ के लिए ही गृह त्याग किया है। वैसे तो मनुष्य मात्र के लिए साधन अपेक्षित है किन्तु आप का तो जीवन ही इसी कार्य के लिए समर्पित हो चुका है। फिर भी कभी साधन के प्रति उदासीनता दिखाओगे तो यह एक अपराध होगा तथा मेरी इच्छा की अवहेलना होगा। ऐसी अवस्था में आप

हमारे आशीर्वाद से वंचित रह जाओगे।

यह मत समझ लेना कि गुरुजी तो अब देखने वाले हैं नहीं, इस लिए अब देखने-टोकने वाला कौन है ? गुरु तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। आप की कोई भी चेष्टा, भाव अथवा विचार उस से छिपा नहीं। छिपाया चाहोगे, तो भी नहिं छिपा पाओगे। गुरुत्त्व ऐसा पदार्थ है जो कहीं दिखता नहीं किन्तु जो स्वयं सब देखता है।

आप में से जिसे गुरु पर अखण्ड श्रद्धा होगी उसे गुरु-तत्त्व मेरे रूप में अनुभूतियां कराता रहे गा, मार्ग-दर्शन देता रहेगा, समस्याओं का समाधान करता रहेगा तथा शंकाओं की निवृत्ति भी करता रहेगा। गुरु-तत्त्व ही मेरा वास्तविक स्वरूप है।

एक शिष्य- हम सब आप के अनजान बालक हैं। हमें आप की प्रत्यक्ष उपस्थिति की आवश्यकता है।

योगी नागनाथ- यह आप का इस शरीर के प्रति मोह है। आप की श्रद्धा मेरे शरीर पर नहीं, मेरे अन्तर् में विराजमान् गुरु-तत्त्व पर होनी चाहिए। यह शरीर स्वयं नश्वर है तो आप को नित्यता कैसे प्रदान कर सकता है ? यह कार्य मेरे अन्तर के गुरुतत्त्व से होना ही शक्य है। गुरुतत्त्व सदैव आप के साथ है

इतना कह कर योगी नागनाथ ध्यान में बैठ गए तथा थोड़ी देर में उन का शरीर अदृश्य हो गया। कुछ देर वायु में तैरता रहा फिर एक स्थान पर जा कर स्थिर हो गया। योगी नागनाथ समाधि में चले गए। इस बात को लगभग दो हज़ार वर्ष होने को आ गए है। अभी तक वह उसी स्थान में, अधर में स्थित, समाधिस्थ है। युग बदल गए, परिस्थितियां बदलती रही, जंगल के स्थान पर भवनों के जंगल उभर आए, किन्तु योगी नागनाथ पर इस सब का कोई प्रभाव नहीं।

मैं ने पूछा- क्या इस समय तक वे समाधि में ही हैं ?

महाराजश्री- उस समय से अब तक समाधि में ही हैं। उन के आस-पास कई बार युद्ध लड़े गए, कई बार तूफान आए, नई सरकारें आईं बदलती रहीं किन्तु उन की समाधि में अन्तर नहीं आया।

मैं ने पूछा- जब वह अदृश्य अवस्था में हैं तो आप को कैसे दिखाई दे जाते हैं ?

महाराजश्री- अदृश्य अवस्था भी चेतन की ही एक अवस्था है। जिन की गति चेतन की उस अवस्था तक होती है, उन के लिए कुछ भी अदृश्य नहीं रहता

मैं ने कहा- गुरु महाराज ! मैं ने नाथ सम्प्रदाय की एक पुस्तक पढ़ी है। उस में योगी नागनाथ का भी उल्लेख है, किन्तु जो बातें आप बता रहें हैं, किसी पुस्तक में पढ़ने में नहीं आईं।

महाराजश्री- तुम ठीक कह रहे हो। पढ़ने में तो यह मेरे में भी नहीं आया, किन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूं, किसी पुस्तक से पढ़कर नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव कर के। यदि यह बातें गलत हैं तो भगवती गलत दिखा रही है। ठीक या गलत का निर्णय करने के लिए भगवती के पास जाना होगा। कोई लेखक सुन कर, पढ़ कर, या विचार कर के लिख सकता है। जो बात उस की जानकारी में नहीं आई उस को कैसे लिखेगा। एक लेखक, जो साधक भी है, उस की स्थिति एक दम भिन्न होती है। उसे पढ़ने, सुनने या विचार करने की अपेक्षा कहीं अधिक सहारा प्रत्यक्ष अनुभूति पर होता है। लेखकों ने यह बातें क्यों नहीं लिखीं, यह लेखक ही बता सकते हैं, मैं क्या कह सकता हूं ?

मेरा प्रश्न- आप जब से देवास आए हैं तभी से योगी नागनाथ के दर्शन हो रहे हैं या कुछ समय के पश्चात् से ?

महाराजश्री- सन्१९४५ के आस-पास जब मैं प्रथम बार देवास आया था, तथा टेकड़ी पर माता के मंदिरों के दर्शन करने आया, तो इस स्थान पर आ कर मुझे लगा कि यहां कुछ है। तुम्हें याद होगा, जैसा कि मैं ने तुम्हें बताया था, सन्१९३५-३६ में दक्षिण की ओर घूमने गया था। एक मंदिर की परिक्रमा करते हुए, जब मैं एक निश्चित स्थान पर आता था तो मेरा मन एकदम स्तब्ध तथा शान्त हो जाता था। मैं ने विचार किया कि क्या बात है ? देखा तो एक ओर एक महात्मा ध्यान मे बैठे थे। मैं समझ गया कि ये समाधि में हैं तथा उसी का प्रभाव है कि यहां आ कर मन स्तब्ध हो जाता है।

कुछ ऐसी ही स्थिति यहां पर भी थी उन दिन अभी नारायण कुटी पर मैं नहीं आया था। नित्य प्रति टेकड़ी पर आना नहीं होता था। किन्तु जब कभी आता, यही अनुभव होता था। मैं जमीन पर ही इधर-उधर देखा करता था क्योंकि ऐसी मन में कोई कल्पना नहीं थी कि आकाश में भी कोई समाधिस्थ हो सकता है। सन्१९५२ में जब नारायण कुटी में स्थाई रूप से आ कर रहने लगा तथा प्रायः नित्य प्रति टेकड़ी पर आने लगा तो इस बात की खोज-पड़ताल ज़रा बारीकी से होने लगी।

एक दिन टेकड़ी पर जा रहा था कि अनायास ही आकाश की ओर दृष्टि चली गई। देखा तो वहां कोई महात्मा पद्मासन लगाए समाधिस्थ है। दाढ़ी तथा सिर के बाल काफी लम्बे तथा सफेद, शरीर कृश किन्तु मुख पर तेज, कौपीन लगी हुई, शरीर से खुले। तब से, ज़ब भी मैं यहां आता हूं तो प्रणाम करता हूं।

प्रश्न- आप को यह कैसे पता लगा कि यह महात्मा योगी नागनाथ ही हैं।

महाराजश्री- ऐसा एक दिन साधन-समय ज्ञात हुआ।

प्रश्न- क्या नारायण कुटी में आप के निवास करने के निर्णय के पीछे यह कारण था कि यहां योगी नागनाथ समाधिस्थ है।

महाराजश्री- कारण तो और भी कई थे किन्तु यहां योगी नागनाथ का समाधिस्थ होना भी एक कारण था। नारायण कुटी के ठीक ऊपर, माताजी की टेकड़ी के शिखर पर, वह समाधिस्थ हैं तथा उन के चरणों के ठीक नीचे नारायण कुटी है। कोई बातें चाहें कितनी बनाये, तथा अपने पाण्डित्य का कितना भी प्रदर्शन करे किन्तु उस की चित्त स्थिति के विकास का नाप यह है कि उसे नारायण कुटी के आंगन में खड़े हो कर, टेकड़ी के शिखर पर योगी नागनाथ के दर्शन होते हैं कि नहीं। इस के लिए साधक का आणवोपाय से ऊपर उठकर, शाक्तोपाय से भी ऊपर उठ कर, शाम्भवोपाय में स्थापित होना आवश्यक है अर्थात अहम् का चित्त से उठ कर, चैतन्य में स्थित हो जाना।

प्रश्न- किसी को योगी नागनाथ के दर्शन प्राप्त हों या नहीं, किन्तु उन की उपस्थिति की लाभ तो साधकों को मिलता होगा।

महाराजश्री- अवश्य मिल सकता है यदि कोई लाभ लेना चाहे तो। प्रायः साधकों में साधन के प्रति गंभीरता का अभाव है। यदि साधन किया भी, तो प्रातः काल थोड़ा सा कुछ कर लिया। बाकी सारा दिन संस्कार-संचय में लगे रहते हैं। ऐसे साधकों को क्या लाभ मिलेगा। यदि कोई सच्चा साधक हो तो चामुण्डा माताजी तथा योगी नागनाथ के शरीर से प्रस्फुटित होने वाली सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों से अवश्य लाभान्वित हो सकता है। तरंगों को ग्रहण करने की साधक में क्षमता होनी चाहिए। मैं ने कहा कि क्या यह नहीं हो सकता कि साधक ग्रहण करे अथवा नहीं, उस को अनुभव हो अथवा नहीं, किन्तु सूक्ष्म तरंगें तो अपना काम करती ही हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में जो भी आएगा, उसे गरमी मिलेगी ही। वह उस का अधिकारी हो या नहीं, उधर उस का लक्ष्य हो अथवा नहीं, उसे आवश्यकता हो अथवा नहीं।

महाराजश्री- लाभ तो होता है किन्तु वासना की बहुलता के कारण गति इतनी धीमी हो जाती है कि समय बहुत लगता है। तब तक साधक का धैर्य टूट जाता है तथा वह साधन से उदासीन हो जाता है। साधक के लिए धैर्य बना कर रखना कठिन है तभी वह सूक्ष्म तरंगों से लाभान्वित हो पाता है। वैसे महापुरुष तो अदृश्य रूप में संसार भर में आध्यात्मिक तरंगें प्रसारित करते फिर रहे हैं, कोई उन्हें एकत्रित कर के संजो लेने वाला चाहिए। आध्यात्मिकता इतनी सस्ती नहीं है। लोग धन कमाने के लिए खून पसीना एक कर देते हैं किन्तु आशा करते हैं कि परमार्थ-लाभ उन्हें बिना श्रम तथा त्याग के प्राप्त हो जाय, जब कि धन कमाना अपेक्षाकृत कहीं आसान है।

योगी नागनाथ के अदृश्य में समाधिस्थ हो जाने के पश्चात् अधिकांश शिष्य तो उधर-उधर बिखर गए। उन्हों ने सोचा, "हम तो यहां योगी नागनाथ के लिए आए थे। जब वह ही उपलब्ध नहीं हैं तो यहां पड़े रहने से क्या लाभ ?" ऐसे लोग प्राय: वही थे जो गुरु के वास्तविक स्वरूप, कार्य, प्रभाव तथा स्थिति को समझ नहीं पाए थे। जो शिष्य गुरु के रहस्य तथा महत्त्व को कुछ जान गए थे, उन्हों ने वहीं रहने का निश्चय किया यद्यपि उन की संख्या केवल तीन-चार ही थी। वह विचार करते थे कि गुरुजी यद्यपि हमें दिखाई नहीं देते हैं, किन्तु हैं तो कहीं यहीं इसी टेकड़ी पर ही। उपदेश के लिए चिल्ला कर कहना आवश्यक नहीं, वह बिना कुछ कहे भी हो सकता है। सच पूछा जाय तो उपदेश मौन ही होता है। न गुरु कुछ कहे, न शिष्य कुछ सुने, किन्तु शिष्य के संशय निवृत्त होते जायं।

जो शिष्य टेकड़ी पर रह गए थे, उन का नित्य नियम था कि स्नानादि से निवृत्त हो कर पहले चामुण्डा माताजी की गुफा में जा कर पूजा-प्रणाम करने के पश्चात् योगी नागनाथ की कुटिया में एकत्रित होना। पूजन-प्रणाम करने के उपरान्त वहीं साधन में बैठते। योगी नागनाथ की कुटिया को उन्हों ने साधन-कक्ष बना लिया था। कुटिया के कण-कण में तथा कोने-कोने में गुरुतत्त्व की विद्यमानता प्रत्यक्ष अनुभव होती थी

साधक-शिष्यों को स्वप्न तथा ध्यान की आवस्था में योगी नागनाथ दर्शन देते, शंकाओं का समाधान करते, कोई समझ न आ रही हो तो समझा देते तथा मार्ग दर्शन करते थे। शिष्यों को ऐसा आभास ही नहीं हो रहा था कि उन के गुरु महाराज अदृश्य अवस्था में समाधिस्थ हैं।

एक दिन एक शिष्य को ध्यान की अवस्था में योगी नागनाथ के दर्शन हुए तो वह भ्रम में पड़ गया, "हमारे गुरु महाराज तो अदृश्य समाधिस्थ हैं फिर वह यहां कैसे दिखाई दे सकते हैं। क्या उन का रूप धारण कर के कोई और आया है ? कुछ देर वह दुविधा में पड़ा रहा। फिर उस ने पूछ ही लिया, "महाराज ! आप तो समाधि में हैं, फिर यहां कैसे ?"

योगी नागनाथ- जिस शरीर को तुम मेरा रूप समझे बैठे हो, वह समाधि में ही है किन्तु गुरुतत्त्व सर्वव्यापक है। उस शरीर में भी है तथा उस से बाहर भी। वह कहीं भी, किसी भी रूप में प्रकट हो सकता हैं। तुम्हारी श्रद्धा तथा भावना योगी नागनाथ के प्रति है, इसी लिए गुरुतत्त्व उसी रुप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है।

शिष्य- गुरुदेव ! एक प्रश्न और है। मुझे मेरे अन्तर में आप जप करते दिखाई-सुनाई देते हैं, यह क्या बात है ?

योगी नागनाथ- जो जप तुम स्वयं करते हों, होता वह भी शक्ति के द्वारा ही है किन्तु उस में अभिमान तथा कर्ताभाव का मिश्रण होता है। इस लिए वह शक्ति के द्वारा किया जाता अनुभव नहीं होता। जाग्रत शक्ति की इस क्रिया को अजपा-जप की संज्ञा दी जाती है जिस में जपकर्ता की आकृति भी दिखाई दे सकती है। जिस आकृति में तुम्हारी स्वाभाविक श्रद्धा है, शक्ति की क्रिया उसी आकृति में अनुभव होती है। यह जप की अभिमान-रहित उच्चावस्था है।

शिष्य- कई बार आप के प्रति प्रेम का ऐसा प्रबल वेग उमड़ता है कि मैं अपने आप को, आप के रूप में अनुभव करने लगता हूं।

योगी नागनाथ- यह प्रेम की अति उत्कृष्ट अवस्था कही जा सकती है,जिस में प्रेमी अपने-आप को भूल कर प्रियतम-मय अनुभव करता है। प्रेम का यह प्रकटीकरण भी शक्ति की ही एक क्रिया है।

शक्ति अनेकानेक प्रकार से साधक-भक्त को अनुभूतियां कराती है। अनुभूतियों को समझ पाना साधक के लिए कठिन होता है। साधक अनुभव करता जाता है तथा विस्मित होता जाता है। यह सब शक्ति की लीला है। शक्ति की लीला दो प्रकार से होती है, अन्तर्लीला, तथा बाह्यलीला। दृश्यमान जगत उस की बाह्यलीला है किन्तु आवरण-युक्त मोहित चित्त इस लीला को देख कर भ्रमित हो जाता है। बाह्यलीला जगत-विस्तार की लीला है। आन्तरिक लीला आन्तरिक-अनुभवों के रूप में उदय होती है जिस में शक्ति विस्तार को समेटती चलती है। भ्रम का विस्तार एक लीला है तो भ्रम की निवृत्ति दूसरी लीला।

जिस ने आद्याशक्ति तथा उस की लीला को जान लिया उस ने समग्र जगत का ज्ञान प्राप्त कर लिया। जगत ही क्या ? उस के समक्ष जगत का आधार भी प्रकट हो जाता है। यह सिद्धि क्रमशः अन्तर्लीला के अवलोकन से प्राप्त होती है। समस्त सिद्धियां अकल्पिता रूप में स्वयं ही प्रकट हो जाती हैं। किसी विशेष प्रकार का वेष बना लेने, ढोलक-मंजीरे बजाने, शास्त्र-ज्ञान का संचय कर लेने मात्र से यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती। इस के लिए वासनाओं तथा संस्कारों का क्षय तथा जड़-चेतन की ग्रन्थि का भेदन आवश्यक है, जो शक्ति की क्रियाशीलता के आश्रित है।

शिष्य- गुरुदेव ! मैं यह जानता हूं कि यह नहीं होना चाहिए किन्तु फिर भी कई बार मेरे अन्तर् में गुरु बनने की लालसा तरंगे मारने लगती है। यह वासना का ही उपद्रव है।

योगी नागनाथ- तुम यहां टेकड़ी पर एकान्त में पड़े हो किन्तु तुम्हारा मन संसार में लगा है तभी तो तुम्हारे अन्दर गुरु बनने की वासना है। किन्तु अभी तुम्हारी स्थिति इस योग्य नहीं है कि तुम गुरु बन सको। अभी इसे वासना का खेल

ही समझा जायगा। अभी जब तुम्हारे अपने अन्तर् में वासना नाच रही है तो दूसरों को वासना-मुक्त क्या करोगे ? तुम इसी पार अपना सिर पटक रहे हो तो दूसरों को पार क्या लगाओंगे ? जिस के अपने हाथों में हथकड़ी पड़ी हो वह क्या दूसरो की हथकड़ी खोल सकता है ? मैं आश्चर्य चकित हूं कि ऐसे अधर्ममूलक विचार तुम्हें आ कहां से जाते हैं ?

गुरु वह है जो न केवल सत् का उपदेश ही करे अपितु सत् का साक्षात् कराने की क्षमता भी रखता हो। तुम अवश्य ही शक्तिपात् कर सकते हो किन्तु शक्तिपात् के पश्चात् भी, सत् का साक्षात् करने के लिए बड़ी लम्बी तथा कठिन यात्रा करनी पड़ती है। क्या तुम शिष्य को यह यात्रा करा सकते हो ? क्या तुम्हारी अपनी यात्रा पूर्ण हो चुकी है। यदि नहीं तो तुम्हारी यह गुरु बनने की वासना है। क्या पत्थर की नाव में बैठ कर पार उतरा जा सकता है ? तुम गुरु के पवित्र नाम को कंलकित एवं दूषित मत करो।

यह सुन कर शिष्य इतना भयभीत हो गया कि उस का ध्यान भंग हो गया। उस का शरीर पसीने से तरबतर था, वह भय से कांप रहा था। उसे और तो कुछ नहीं सूझा, योगी नागनाथ की कुटिया की ओर भाग गया। वह रोता जा रहा था तथा उस के मुख से क्षमायाचना निकल रही थी।

"हे गुरु देव ! मैं वासना के अनन्त मरुस्थल में भटका जीव हूं। किन्तु जो कुछ भी हूं, आप का अबोध बालक हूं। मेरे अपराध को क्षमा करें। मैं जानता हूं कि अभी मैं गुरु बनने के विचार करने का भी अधिकारी नहीं हूं, किन्तु वासना के हाथों विवश हो जाता हूं। वासना जैसा चाहती है, नाचने लगता हूं। भविष्य में मैं प्रयत्न करूंगा कि इस प्रकार के विचारों को चित्त में उभरने से रोकूं।"

मैं ने महाराज के समक्ष अपने हृदय की वेदना व्यक्त की, "गुरुदेव ! मैं भी तो सर्व प्रकार से अयोग्य हूं। न तपोबल, न शास्त्र ज्ञान, फिर भी गुरु बना बैठा हूं।"

महाराजश्री- तुम फिर वही भूल कर रहे हो, जो अब तक बार-बार करते आ रहे हो। तुम गुरु हो ही कहां ? तुम केवल मेरे प्रतिनिधि हो। तुम्हारे माध्यम से मैं दीक्षा देता हूं। तुम्हारा गुरुतत्त्व हमारे संकल्प के अधीन है। हम जानते हैं कि तुम्हें अभी बहुत साधन की आवश्यकता है। अभी तुम में बहुत कमियां हैं किन्तु तुम्हारे ऊपर परम्परा को चलाने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया है जिसे तुम ने सेवा-भाव से पूरा करने का प्रयत्न करना है। तुम गुरु नहीं हो, केवल गुरु का अभिनय कर रहे हो।"

"जब किसी गुरु के समक्ष इस प्रकार की परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं कि उस के शिष्यों में साधन एवं ज्ञान के उस स्तर का अभाव होता है, जो गुरु

बनने के लिए अपेक्षित हैं। जो शिष्य इस के योग्य होते हैं वह किसी कारण इस कार्य को करना नहीं चाहते अथवा कर नहीं सकते, तो परम्परा को चलाए रखने के लिए गुरु अपने किसी शिष्य या शिष्यों को दीक्षा के अधिकार के लिए संकल्प करता है तथा उन्हें अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है। यह प्रतिनिधि गुरु नहीं होते किन्तु गुरु की भांति व्यवहार करते हैं। दीक्षा के अधिकार की परम्परा का इस बात को ध्यान में रख कर ही विकास हुआ है। तुम गुरु नहीं हो"

यह सुन कर मेरी शंका का समाधान हो गया।

मैं ने कहा, "एक प्रश्न और है। जगन्नाथ पुरी में स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज ने तपस्या की। शंकराचार्य महाराज की विभिन्न स्थानों पर गतिविधियां रहीं। भगवान बुद्ध को गयाजी में बोध हुआ। उन सब की सूक्ष्म तरंगे उन स्थानों पर विद्यमान थीं जो कालक्रम तथा विपरीत संस्कारों के प्रभाव से मध्यम होती चली गईं किन्तु योगी नागनाथ जी अभी तक सशरीर अदृश्य अवस्था में समाधिस्थ हैं। उन की सूक्ष्म तरंगों का प्रवाह तथा विस्तार निरन्तर बना हुआ है। उन के मध्यम हो जाने का प्रश्न ही नहीं है। क्या टेकड़ी उन तरंगों से शक्ति संपन्न एवं पारमार्थिक स्वरूप ग्रहण किए रहे गी ?"

महाराजश्री- इस में कोई शंका नहीं। योगी नागनाथ जैसा सिद्ध महापुरुष जहां समाधिस्थ हो, उस के आस-पास का वातावरण शक्ति-संपन्न बना रहना स्वाभाविक है। किन्तु आज का युग भौतिक है। सामान्यजन इन बातों पर न विश्वास करते हैं, न उन्हें कुछ अनुभव होता है। साधकों में भी वही उन तरंगों का अनुभव कर पाते हैं जिन का चित्त पर्याप्त सूक्ष्मता धारण कर चुका होता है।

तब से अब तक योगी नागनाथ जी माता चामुण्डा के साधन-शिखर पर अधर में अदृश्य समाधिस्थ हैं। किसी भाग्यशाली को ही उन के दर्शन हो पाते हैं। टेकड़ी तथा आस-पास के जंगल का रूप परिवर्तित हो चुका है। देवास नगर उभर आया है। रेलगाड़ी की धक्-धक शुरु हो चुकी है। देवास की रियासत स्थापित तथा विलीन हो गई किन्तु योगी नागनाथ की समाधि निरन्तर चल रही है। न उन्हें अंगरेज़ों का आना-जाना विचलित कर पाया, तथा न मुसलमानी राज से वह प्रभावित हुए।

चन्द-बरदाई

अगले दिन महाराजश्री प्रातः भ्रमण के लिए नारायण कुटी से निकले तो आकाश पर काले बादल छाए थे। महाराजश्री ने कहा, "आज इन्द्र देवता बड़े क्रोध में दिखाई देते हैं, भगवान भली करें। ऐसा लगता है कुछ उपद्रव करें गे" इतना कह कर हंसने लगे। चढ़ाई चढ़ जाने के उपरान्त जब समतल सड़क आ गई तो कहने लगे-

महाराजश्री- दिल्ली के महाराज पृथ्वी राज चौहान के नाम से कौन परिचित नहीं होगा। चन्द बरदाई उन्हीं महाराजा के मित्र थे। वे विद्वान, कवि एवं उत्कृष्ट साधक थे। महाराजा के दरबार में राजकवि थे, किन्तु वह ऐसे राजकवि नहीं थे जो अपने आश्रयदाता की चापलूसी करता फिरे तथा उस के यशोगान में काव्य-कला को अपमानित करता रहे। वे सब से पहले पृथ्वी राज चौहान के मित्र थे। समय आने पर महाराजा को डांट भी देते थे। जिस में महाराजा का हित हो, वैसी ही मंत्रणा देते थे। महाराजा को अच्छा लगे या बुरा, किन्तु जो उचित होता वही कहते थे। वह राजकवि कम, राजा के मित्र अधिक थे।

एक बार महाराजा का दक्षिण में आगमन हुआ। एक महाराजा की शानोशौकत सामान्य जनो से बहुत भिन्न होती है। सेना, हाथी, घोड़े, छत्र-चंवर, नौकर-चाकर, दरबारी, बहुत विस्तार होता है। महाराजा ने टेकड़ी का दृश्य देखा तो मन को भा गया। आदेश दिया कि मुकाम यहीं रहेगा। तम्बु गाड़ दिए गए। डेरा वहीं जम गया। चन्द-बरदाई भी साथ थे।

दृश्य अत्यन्त मनोहारी था। आज तो टेकड़ी पर खड़े होकर जिधर दृष्टि डालो, मकान बने दिखाई देते हैं। उस समय वृक्षों की हरियाली, पानी के झरने, बेलों पर पुष्प एवं वृक्षों पर फल दिखाई देते थे। बीच में उभार लिए टेकड़ी ऐसे सुशोभित थी जैसे कोई महाराजाधिराज अपने आसन पर आरूढ़ हो।

चन्दबरदाई का वास्तविक स्वरूप एक साधक का था किन्तु आध्यात्मिकता को उन्हों ने व्यक्तिगत् सीमाओं में बांध रखा था। लोग उन्हें केवल एक सच्चा एवं खरा मनुष्य समझते थे। जगत उन्हें उन के व्यवहार से ही जान सकता था। एक दुष्ट व्यक्ति भी व्यवहार का निर्वाह कुशलतापूर्वक कर सकता है, अतः व्यवहार आध्यात्मिक उत्थान की कसौटी नहीं हो सकता, किन्तु संसार के पास आन्तरिक मानसिक स्थिति नापने का अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। इसी लिए चन्द बरदाई जगत की दृष्टि से अपने आध्यात्मिक महापुरुष के रूप को छिपाए रख सके।

महाराजा पृथ्वी राज भी उन्हें एक सहृदय मित्र, भावुक कवि, एवं निस्स्वार्थ परामर्शदाता के रूप में ही देखते थे। उन का अन्तर् कितनी आध्यात्मिक ऊंचाई

प्राप्त कर चुका था, इस की उन्हें कल्पना नहीं थी। चन्द बरदाई ने कभी किसी को यह भी व्यक्त नहीं किया कि वे किसी प्रकार का ध्यान करते हैं, अथवा उन का आध्यात्मिक अध्ययन-चिन्तन कहां तक है। आन्तरिक अनुभूतियों के वर्णन का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। ठीक है, कहा भी है कि साधक को, अपना साधन प्रकट कर देने से अभिमान के उदय हो उठने की संभावना बनी रहती है। एक सच्चा साधक इस बात को समझता है कि संसार में साधक के रूप में प्रसिद्धि से कुछ न कुछ हानि ही है। लाभ कुछ भी नहीं।

दूसरे दिन महाराजा अपने प्रातः कर्मों में व्यस्त थे। चन्द बरदाई बड़ा शीघ्र उठ जाने के अभ्यस्थ थे। स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ से निवृत्त हो चुके थे। कुछ दूर तक घूम आने के लिए अपने तम्बू से बाहर निकले। जब टेकड़ी के समीप पहुंचे तो हरियाली से ढकी टेकड़ी के शिखर पर उन्हें कई कुटियाएं बनी दिखाई दीं। सोचा, "जंगल में इतनी ऊंचाई पर गृहस्थों के घर होने का प्रश्न नहीं। अवश्य ही महात्माओं की कुटियाएं होंगी। मन में समीप जा कर देखने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। पास गए तो देखा कि ऊपर जाने का पगडंडी का रास्ता भी बना है। आधे रास्ते पर गए हों गे कि एक महात्मा की कुटिया मिली। महात्मा कुटिया के बाहर ही बैठे थे। चन्द बरदाई को देखा तो कहने लगे-

महात्मा- क्या भगवती चामुण्डा के दर्शन करने आए हो ?

चन्द बरदाई- मुझे तो ज्ञात नहीं था कि यहां भगवती चामुण्डा के दर्शन हैं दूर से कुछ कुटियाएं देखीं तो उत्सुकतावश चला आया। भगवती के दर्शन भी हो जाएं तो मेरा सौभाग्य है।

महात्मा-भगवती को कुछ भेंट करोगे या मांगने आए हो ?

चन्द बरदाई- (कुछ सोच कर) भगवती को भेंट करने के लिए हमारे पास वासनाओं तथा अवगुणों के अतिरिक्त है ही क्या ? जो सारे जगत की पालनकर्ता है उसे हम जैसे दरिद्र क्या भेंट कर सकते हैं ? हां ! भगवती की कृपा का अवश्य याचक हूं।

महात्मा- काफी समझदार ज्ञात होते हो ?

चन्द बरदाई- बुद्धिमत्ता तथा बुद्धिहीनता, सब भगवती की माया है। जीव न बुद्धिमान है, न बुद्धिहीन। भगवती ही सरस्वती के रूप में जीव से जो कुछ कहलवाती है, बोल देता है।

महात्मा समझ गए कि कोई साधक पुरुष है।

महात्मा- देखो ! ऊपर एक छोटी सी गुफा है जिस में भगवती रक्त-चामुण्डा विराजित हैं। भर्तृहरि तथा योगी नागनाथ सरीखे महापुरुषों का यह स्थान तपस्थली

रहा है। हम कुछ साधक भी माताजी की शरण में यहां साधनशील रहने का प्रयत्न करते हैं। यह टेकड़ी भारत का हृदय-स्थान है। मालव-प्रदेश में, इस टेकड़ी के आस-पास कई अदृश्य महापुरुष साधनरत् हैं जो यदा-कदा माताजी के दर्शन करने यहां आते रहते हैं।

चन्द बरदाई- क्या आपको ऐसे किसी महापुरुष के दर्शन हुए हैं ?

महात्मा- यह तो महापुरुषों की मौज पर आधारित हैं। वे किसी को दर्शन दें अथवा अदृश्य रूप में दर्शन कर के लौट जाएं। एक बार अवश्य एक महापुरुष ने दर्शन देने की कृपा की थी।

चन्द बरदाई- कुछ बात भी हुई ?

महात्मा- अधर में से एक आकृति उभरते देख कर मैं तो ऐसा विस्मित हुआ कि मेरे मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला। वह कुछ देर मुझे देखते रहे, फिर अदृश्य हो गए। मैं तो प्रणाम करना भी भूल गया।

चन्द बरदाई- जब वे आप को देख रहे थे तो आप को कैसा अनुभव हुआ ?

महात्मा- मैं उन के चेहरे तथा आखों का तेज सहन नहीं कर सका तथा नज़रे झुका लीं। पहले तो ऐसा अनुभव हुआ जैसे शरीर में शक्ति का संचार होता जा रहा है। सारा शरीर गरम हो गया। फिर मेरा ध्यान लग गया। तब तक महापुरुष जा चुके थे। उस दिन के पश्चात् मुझें क्रियाएं आरंभ हो गईं।

चन्द बरदाई- यह तो शक्तिपात् है !

महात्मा- तो तुम शक्तिपात् से अवगत हो !

चन्द बरदाई- हां, मुझ पर भी एक महापुरुष की कृपा हुई है।

महात्मा- साधन का आनन्द लेते हो।

चन्द बरदाई- महाराज ! आप तो निवृत्ति में हैं किन्तु मेरे पीछे प्रवृत्ति लगी है। जितना बन पड़ता है करता हूं।

महात्मा- अच्छा ऊपर चलो। तुम जगदम्बा के दर्शन कर लो। सतसंग का भी समय हो गया है। यदि तुम्हें सुविधा हो तो तुम भी श्रवण कर लेना।

चन्द बरदाई ने पहले चामुण्डा माताजी की गुफा में दर्शन-लाभ लिया। हृदय के उद्‌गारों के अतिरिक्त और तो कोई पूजा-सामग्री थी नहीं। जाते ही उन्हों ने प्रणाम किया। अश्रुपूरित नेत्रों से वह बार-बार मां को प्रणाम करने लगे। उन्हों ने निवेदन किया, "मां ! तुम पतित पावनी हो तथा मैं आकण्ठ पाप में डूबा हूं। यदि संसार के सारे पतित मिल कर एक हो जाय, तो भी मैं उन से भारी हूं। बस ! एक तुम्हारे चरणों का ही आश्रय है। हे मां ! रक्षा करो ! कृपा करो। वे रोते जाते तथा मां के चरणों में प्रार्थना करते जाते थे।

तभी चन्द बरदाई का कवि-हृदय तरंगित हो उठा तथा इस प्रकार एक पद् प्रस्फुटित होने लगा जिसे चन्द बरदाई सस्वर गाने लगे।

नमो आद अनाद तूहीं भवानी, तू ही योगमाया तू ही वाकवानी
तूहीं धरण आकास विभो पसारे, तू ही मोह माया विसे सूल धारे
तू ही चार वेंद खटं भाप चिन्हीं, तू ही ज्ञान विज्ञान में सर्व भिन्हीं
तू ही वेदविद्या चहुदे प्रकासी, कलाभंड चौबीस की रूप रासी
तू ही विस्वकर्ता तूही विस्व हरती, तू ही स्थावरं जगमं में प्रवर्ती
दुर्गा देवि वंदे सदा देव रायं, जपे जाप जालंधरी तो सहायं
दोहा- करै वीनती बंदीजन, सन्मुख रहे सुजान
प्रगट अम्बिका मुख कहे, मांग चन्द वरदान

अर्थात्- हे आदि अनादि भवानी चन्डिके ! तुम्हीं योग माया के रूप में कार्यशील हो कर संसार को प्रकट करती हो तथा तुम्हीं वाक्-वाणी हो। तुम्हीं धरती आकाश हो तथा तुम्हीं सर्वव्यापक हो कर जगत के रूप में पसरी हो। तुम्हीं मोह-माया का स्वांग बनाए हो तथा विषय रूपी शूल को धारण कर रखा है। तुम्हीं चार वेद और छः शास्त्र हो। तुम सब के अन्तर्भावों को पहचानती हो। तुम्हीं ज्ञान-विज्ञान में पारंगत सर्वज्ञाता हो। तुम्हीं सर्ववेद (ज्ञान) तथा सर्व विद्याओं का रूप धारण कर चारों दिशाओं में प्रकाशित हो। चौबीस प्रकार के कला-भण्दार की तुम्हीं रूप-राशि हो। तुम्हीं विश्व की कर्ता हो, तुम्हीं इस का हरण करने वाली हो। स्थावर जंगम जितने भी प्राणी हैं, तुम सब में सर्व व्यापक हो। हे देवी दुर्गा ! देवता तथा राजा सदैव तुम्हें नमन करते हैं। हे मां ! तुम सहायक होओ।

हे मां ! बंदीजन सदैव तुमहारे चरणों में विनती करते हैं कि सदा सुजान ही हमारे अभिमुख रहे अर्थात् हमारी बुद्धि, विचार, वृत्तियां तथा संकल्प शुद्ध हों। हमारा सत्पुरुषों से ही सामना हो। हे मां ! मन में ऐसा भाव है कि भगवती अम्बिका मेरे समक्ष प्रकट हो तथा अपने मुख से कहें, "चन्द बरदाई वर मांगो"

चन्द बरदाई भगवती के भाव में तल्लीन थे तथा उसी भाव में वह ध्यान मग्न हो गए। बाह्य-ज्ञान विलुप्त हो गया। ध्यान की अवस्था में भगवती प्रकट हो गई। बोली, "चन्द बरदाई ! मैं तुम पर अतीव प्रसन्न हूं। वर मांगो"

चन्द बरदाई भगवती के दर्शन पा कर गद्गद् हो गए। कहने लगे, "माता। आप का दर्शन लाभ हुआ, इस से बड़ा सौभाग्य क्या हो सकता है ? वर मांगने के लिए बाकी रहा ही क्या है ?"

भगवती- तुम्हारी जो इच्छा हो मांग लो।

चन्द बरदाई- आप ने दर्शन दे कर बिना मांगे ही इच्छा पूरी कर दी। जब

चन्द बरदाई का ध्यान भंग हुआ तो वह भगवती की गुफा के बाहर आए तब सतसंग आरंभ हुआ। सभी साधक एकत्रित थे। महात्मा जी ने कहना आरंभ किया-

महात्मा- भगवती जीवों को परमार्थ-साधन का अवसर प्रदान करने के लिए सृष्टि की रचना करती है, किन्तु जीव यदि परमार्थ-पथ भूल कर, विषयों के अंधकारमय गर्त में गहरे उतर जाय तो जगत-रूप हो कर रह जाता है।

एक शिष्य- चित्त-शुद्धि के दुरूह कार्य के लिए तथा दुखमय जगत में क्लेशों का सामना करने के लिए भगवती जीव को अकेला छोड़ देती है या कुछ सहायता भी करती है ?

महात्मा- वह जीवों की सहायता के लिए सदैव तत्पर ही नहीं रहती, अपितु उन का हाथ पकड़ कर गर्त में से ऊपर खेंच लेने के लिए नीचे भी झुकी रहती है। वह चिल्लाती है कि अपना हाथ मुझे पकड़ा दो, किन्तु जीव अपना हाथ उस के हाथ में देना ही नहीं चाहता, उस के प्रति समर्पित होना नहीं चाहता। अंधकूप में पड़े रहने में ही उस की प्रसन्नता है। अंधकूप में वासनाओं की चीटियां, विकारों के बिच्छू एवं विषयों के विषैले सर्प उसे काटते रहते हैं। वह पीड़ा से कराहता रहता है, पर माता की आवाज़ पर ध्यान नहीं देता, उस की शरण ग्रहण नहीं करता। यही जगत रूपी भ्रम की विडम्बना है।

कई बार बिना किसी माध्यम के भगवती सीधे भी कृपाशील हो जाती है किन्तु प्राय: वह किसी गुरु शरीर के द्वारा ही शिष्य को अपनी लीला की प्रत्यक्ष-अनुभूति रूपी कृपा प्रकाशित करती है। साधक के अभिमान तथा कर्ताभाव पर कुठाराघात करती है, साक्षीभाव प्रदान कर देती है। किन्तु सब कुछ होते हुए भी यदि जीव अपनी डगर का त्याग नही करे तो उसे क्या कहा जाए ? माता निज-घर वापसी के लिए जीव का रास्ता देखती रहती है, बार-बार उसे संकेत करती-बुलाती है किन्तु संसार के सुख जीव के मन को ऐसे भा गए हैं कि वह उन्हें त्यागना ही नहीं चाहता। संसार के दुखों को ही सुख समझे बैठा है।

भाग्यशाली हैं वह जीव जो भगवती की कृपा प्राप्त कर तथा उस के महत्त्व को समझ कर, साधन में तत्पर हो जाते हैं। अधिकांश लोगों को न कृपा प्राप्त हो पाती है तथा न वह इस की कोई आवश्यकता ही समझते हैं। वह विष्ठा रूपी विषय के गंदे नाले में रहने वाले कीड़े के समान हैं। यदि उन्हें कोई गंदे नाले में से बाहर निकालने की बात भी करे तो वह उधर ध्यान ही नहीं देते। किन्तु कृपा-प्राप्त सब जीव भी, कृपा का पूरा लाभ कहां उठा पाते हैं ? प्रत्यक्ष साधन उन के पास होता है। कोई श्रम नहीं, केवल साक्षी भाव में स्थित बने रहना है, पर वासना अध्यात्म-पथ पर चलने नहीं देती।

आप लोग संसार की बात छोड़कर अपनी ओर दृष्टि घुमा कर देखें। आपने अध्यात्म-लाभ के लिए लंगोटी धारण कर ली है। जगत में आप को कुछ भी कर्तव्य नहीं। एकान्त उपलब्ध है, साधन आप के पास है, भिक्षा की चिन्ता नहीं, जल की भगवान ने व्यवस्था कर रखी है, रहने के लिए अच्छी-बुरी कुटिया आप के पास है, फिर भी साधन का जितना लाभ उठाना चाहिए आप लोग कहां उठा पाते हैं ? क्या अभी भी वासनाएं तथा पूर्व-संचित संस्कार आप का पीछा छोड़ते हैं ? जब कभी आप विचलित हो जाते हैं तो आप के अन्तर्-भाव आप के चेहरे पर उभर आते हैं।

चन्द बरदाई- महाराज ! एक प्रश्न है, यदि अनुमति हो तो निवेदन करूं ?

महात्मा- हां, कहिए।

चन्द बरदाई- जब मैं यहां आया था तो मुझे कुछ पता नहीं था कि इस निर्जन वन में, पहाड़ी के शिखर पर भगवती चामुण्डा का दर्शन तथा आप सरीखे महात्माओं का वास्तव्य है। पांव अपने-आप उठते गए, रास्ता सूझता गया तथा मैं यहां पहुंच गया। क्या इस में भी कोई दैवी-संकेत है ?

महात्मा- हर एक घटना में कुछ न कुछ दैवी-संकेत अवश्य होता है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य उस को समझ सके या नहीं। जिसे हम सामान्य सी घटना मानते हैं, उस में भी गहन दैवी-संकेत निहित हो सकता है। वह भी हमारा जीवन का मार्ग बदल डालने में सक्षम हो सकता है। तुम्हारे यहां आने में तुम्हारी किसी इच्छा या संकल्प के न होते हुए भी, यहां तक चले आना, भगवती के दर्शन तथा हमारे साथ सतसंग करना, अवश्य ही किसी पूर्व- नियोजित अदृश्य निर्धारण के अन्तर्गत् हुआ है। इस स्थान के साथ तुम्हारा किसी जन्म का अवश्य ही संबंध रहा है। उन्हीं पूर्व स्थापित स्मृतियों से प्रेरित हो कर ही तुम्हारे पांव, तुम्हें इधर ले आए हैं। किन्तु तुम ने अभी तक अपना परिचय नहीं दिया।

वायु के मन्द-प्रवाह में वृक्षों की शाखाएं धीरे-धीरे डोल रही थीं। बीच-बीच में मोर की आवाज़ एकान्त शान्त वातावरण में गूंजती निकल जाती थीं। माता चामुण्डा की टेकड़ी सिद्ध योगियों की भांति ध्यानस्थ मुद्रा में थी।

चन्द बरदाई- मेरा नाम चन्द बरदाई है। दिल्ली के महाराजा पृथ्वीराज चौहान की सेवा मे हूं। महाराज की भी सवारी इस समय नीचे जंगल में ही है। मैं घूमता हुआ इधर निकल आया

महात्मा- ध्यान भजन तो तुम करते ही होगे ?

चन्द बरदाई- जितना कुछ बनता है करता हूं।

महात्मा- देखो ! आध्यात्मिक-साधन चित्त-स्थिति पर आधारित है। चित्त-स्थिति अनुकूल न हो तो मनुष्य चाह कर भी साधन-भजन नहीं कर सकता। जब

मन जगत में भागता हो तो अन्तर् की ओर कैसे झांक सकता है ? अन्तर् की ओर देखने के अतिरिक्त और साधन क्या है ? यदि किसी संत की कृपा प्राप्त हो जाय तो अंदर कुछ दिखाई-सुझाई भी दे जाता है। यदि कुछ दिखाई दे तो साधक उस के सहारे चलने लगता है।

चन्द बरदाई को इन बातों का कुछ अनुभव था, इस लिए विषय सुगमता से उस की समझ में आ रहा था।

महात्मा-(अपने शिष्यों को संबोधित करते हुए) संसार में जितने भी लोग अपने आप को साधक समझते हैं, सब ढोंग करते हैं। मनुष्य साधन कैसे करेगा ? उस में सामर्थ्य ही कहां है ? अभिमान का पुतला क्या साधन कर सकता है। भगवती द्वारा, साधक के अन्तर में किया गया साधन ही साधन है। भगवती का प्रयत्न ही प्रयत्न है। भगवती द्वारा किया गया साधन ही जीव के संस्कार-क्षय का कारण होता है। अपने बालक की गन्दगी उस की माता ही साफ करती है। बालक स्वयं असमर्थ होता है। जब अभिमान बालक में बड़प्पन का भाव भर देता है तो भगवती सफाई के काम से हाथ खेंच लेती है। जीव अभिमान का त्याग कर, बचपन की मन: स्थिति में लौट जाय तो भगवती जगदम्बा सफाई के काम को पुन: हाथ में ले सकती है। अत: अभिमान-रहित हो कर साधन ही साधन है। भगवती को साधन करते देखना ही साधन है। अन्तर्शक्ति की क्रियाशीलता ही साधन है।

एक शिष्य- तो मनुष्य का अपना प्रयत्न कहां तक है ?

महात्मा- अपना प्रयत्न कहने से पहले अपने प्रयत्न का स्वरूप समझ लो। जिसे वह अपना-आप समझ रहा है वह उस का अपना-आप है ही नहीं, इस लिए उस का कोई भी प्रयत्न अपना प्रयत्न नहीं है। मनुष्य भ्रान्त धारणाओं, कल्पनाओं, मान्यताओ एवं संवेदनाओं में उलझा है। उस ने काल्पनिक धरातल पर अपना-आप स्थापित कर रखा है। वह कल्पनालोक में इतना गहरा उतर चुका है कि उसे ही यथार्थ समझ लेने की भूल में फस कर रह गया है। यदि उस के मिथ्या अपने-प्रयत्न को कोई महत्त्व देना चाहते हो तो उस का प्रत्येक प्रयत्न समर्पण भाव को पैदा करने वाला होना चाहिए। वास्तव में यह उस के मिथ्या अभिमान का उस के यथार्थ स्वरूप के प्रति समर्पण है। मिथ्या-स्वरूप का यथार्थ स्वरूप में विलीनीकरण है। यह साधन है। यह प्रयत्न मिथ्या स्वरूप नहीं कर सकता क्योंकि उस का प्रयत्न भी मिथ्या होता है। शक्ति यथार्थ में है। वही मिथ्या भ्रम की दीवार को तोड़कर सत्य में प्रतिष्ठित कर सकती है। जितना यथार्थ स्वरूप के प्रति समर्पण का विकास करता जायगा उतना साधन- स्थिति के समीप पहुचता जायगा। इसी लिए कहा गया है कि समर्पण ही पुरुषार्थ है।

चन्दबरदाई ने उठ कर पहले महात्माजी को प्रणाम किया, फिर भगवती को प्रणाम करने के लिए माता जी की गुफा में चले गये। उस समय उस के हृदय में प्रेम की तरंगें उठ रहीं थी। जाते ही मां के चरणों में गिर गए तथा काफी देर तक उसी अवस्था में पड़े रहे। उन का ध्यान लग गया तथा माता उन्हें कह रही थी, "मैं ने सृष्टि का विस्तार जीवों को परमार्थ का साधन करने के लिए, अवसर प्रदान करने हेतु ही किया है। संसार मिथ्या होते हुए भी, सत्य में प्रतिष्ठित होने के लिए आधार रूप है अत: जीव को इस मिथ्या जगत का आभारी होना चाहिए। इस के प्रति मोहित हो कर, इस के मिथ्यात्व में यथार्थता के समावेश का प्रयत्न, जगत का स्वरूप भी परिवर्तित कर देता है तथा जीव को भी बंधन में डाल देता है।"

जब चन्द बरदाई का बाह्य-ज्ञान लौटा, तो भगवती के प्रति उन का हृदय गद्गद् हो रहा था। वे मां के चरणों में लिपट कर रोने लगे। रोते-रोते जब आंसू सूख गए तो उठ कर अपने स्थान की ओर चल दिए।

मैं ने महाराजश्री से पूछा, "भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में चन्द बरदाई का एक साधक के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता"

महाराजश्री- साधक का प्रयोजन साधन करना होता है, जन-समाज से साधक होने का प्रमाण पत्र प्राप्त करना नहीं। विरक्त-साधकों के लिए यह प्रयोजन-सिद्धि कठिन होती है क्योंकि वह घोषित कर चुके होते हैं कि वे साधक हैं। यदि वे अपने साधन की अनुभूतियों को गुप्त भी रखें तो भी जन-समाज को वे यह आभास दे ही चुके होते हैं कि उन के अन्तर् में कुछ चल रहा है तथा उन का लक्ष्य अन्तर् की ओर है। सद्गुरु पथ-प्रदर्शक के रूप में जगत के समक्ष होते हैं इस लिए उन्हें अपने-आप को छिपाना और भी कठिन होता है। यदि किसी साधक में प्रसिद्धि की लालसा हो तो समझ लो कि वह अध्यात्म से दूर जा रहा है। चन्दबरदाई न तो प्रकट रूप में विरक्त थे, न ही किसी के गुरु थे तथा न साधक के रूप में प्रसिद्धि की कोई लालसा थी। इस लिए वह अपने साधन को संसार की नज़रों से बचा पाए। उन की विरक्ति अंदर ही अंदर परिपक्व होती जा रही थी, प्रेम-अनुराग बढ़ता जा रहा था। सच्चे साधक की यही आवश्यकता होती हैं

मैं ने कहा- फूल को कितना भी छिपाओ, सुगंध तो तो फैलती ही है।

महाराजश्री- सुगंध कितनी भी फैले किन्तु फूल नहीं दिखाई देना चाहिए। यदि साधक संसार के दृष्टि-पथ में आ जाता है तो यह एक प्रकार से उस की आध्यात्मिक मौत होती है। स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज को देखो। पूर्णतया विरक्त थे। साधन के प्रति जीवन समर्पित था किन्तु अपने साधन को छिपाने के लिए

कितना संघर्ष करना पड़ता था। उन्हों ने अपने-आप को कैसे अनुशासनबद्ध कर रखा था उन के मन की लगाम पूरी तरह उन के काबू में थी। प्रसिद्धि की लालसा रूपी छिद्र उन के मन में था ही नहीं। इसी लिए इतने ऊपर उठ सके।

मैं ने कहा- आप का कहने का भाव यह है कि जिन साधकों को प्रसिद्धि मिली वह ऊपर नहीं उठ पाए ?

महाराजश्री- प्रश्न प्रसिद्धि मिलने या नहीं मिलने का नहीं है, मन में प्रसिद्धि की लालसा का है। जिन्हें प्रसिद्धि मिली अथवा नहीं मिली, किन्तु यदि उन में लालसा नहीं थी तो वह ऊपर उठ गए। जिन्हें लालसा थी, उन का पांव फिसला और धड़ाम से नीचे आ गिरे।

जब चन्द बरदाई अपने स्थान पर पहुंचे उस समय अंधेरा होने को था। बत्तियां जला दी गईं थी। छावनी में इतने अधिक लोग होने से जंगल के हिंसक पशु भयभीत हो कर दूर भाग चुके थे। चन्द बरदाई ने महाराजा पृथ्वीराज को बताया कि सामने की पहाड़ी पर एक शिला पर माता चामुण्डा जी की एक प्रतिमा उभरी है। कुछ महात्मा भी वहां रह कर साधनरत् हैं। मैं वही गया था। महाराजा ने जब सारा विवरण सुना तो उन की भी दर्शन करने की इच्छा हो आई। उन्हों ने सेनापति से कहा, "हम भी प्रातः टेकड़ी पर दर्शन करने जाएंगे"

सेनापति- मैं सेना की एक टुकड़ी को, आप के साथ जाने के लिए, तैयार रहने का बोल देता हूं।

पृथ्वीराज- वहां धन-सत्ता दिखाने के लिए नहीं जाना है। वहां तो माताजी तथा महापुरुषों के दर्शन करने का उद्देश्य है। केवल मैं तथा चन्द बरदाई ही जाऐंगे।

दूसरे दिन महाराजा पृथ्वी राज तथा चन्द बरदाई प्रातः काल टेकड़ी की ओर चले। टेकड़ी के नीचे पहुंच कर महाराजा ने अपने पादत्राण उतार दिए, तलवार एक वृक्ष के नीचे रख दी तथा खुले पांव टेकड़ी पर चढ़ चले। सब से पहले महात्माजी की कुटिया आई, जो एक वृक्ष के नीचे ओटले पर बैठे, कुछ शास्त्र अध्ययन कर रहे थे। चन्द बरदाई को एक अन्य व्यक्ति के साथ आया देख कर, उन्हें ने शास्त्र से दृष्टि हटा ली। प्रणाम करने के पश्चात् चन्द बरदाई ने महाराजा का परिचय कराया, "आप महाराजा पृथ्वी राज चौहान हैं। आप के दर्शन करने आए हैं"

महात्माजी ने एक चटाई पर बैठ जाने का इशारा किया, "हमारे पास भारत के सम्राट को विराजमान कराने के लिए यही चटाई है। अमीर-गरीब सब यहीं आ कर बैठते हैं।

पृथ्वीराज- भगवान के सामने आ कर ही अमीर गरीब तथा छोटे-बड़े का भेद समाप्त होता है। आप के समक्ष तथा भगवती के दरबार में न कोई सम्राट है तथा न प्रजा। सब एक समान है। छोटा-बड़ा सब जगत की उपाधि है आप के दर्शन के लिए आने से पहले ही हम उपाधि को टेकड़ी के नीचे छोड़ आए हैं। आप के पास हम एक याचक हैं।

महाराजा- ठीक कहा आप ने। जगत विस्तार के साथ-साथ उपाधि-विस्तार भी होता जाता है जब कि भगवान जगत विस्तार से अतीत है। जब तक संसार है, गुण-दोष भी हैं, तथा जन्म-मरण भी। संसार को रख कर, इन सब को नहीं छोड़ा जा सकता। इन सब से ऊपर उठना है तो संसार से उठ कर भगवान की शरण में जाना पड़ेगा। वहीं जा कर सब एक हो जाता है। किन्तु आप जगत व्यवहार में हैं। आप को व्यवहार करते हुए जगत से उठना है। जल में रहते हुए अपने-आप को भीगने से बचाना है। यह काफी कठिन काम है किन्तु वास्तव में यही मार्ग है। मनुष्य को दृश्यमान जगत परेशान नहीं करता, अन्तर का जगत परेशान करता है।

पृथ्वीराज- आप की कृपा से संत पुरुषों ने पहले भी यही उपदेश दिया है। तथा इसी मार्ग पर चलने का प्रयत्न भी करता हूं, भगवती का आशीर्वाद है।

महात्मा- अब जा कर आप भगवती के दर्शन करें। आप का कल्याण हो।

दोनों जने भगवती की गुफा की ओर चल दिए। दिल्ली का महाराजा, सामान्य यात्री की तरह, नंगे पांव पत्थरों को लाघंता हुआ जा रहा था। जब गुफा के द्वार के पास पहुंचे तथा भगवती के दर्शन किए ही थे, कि प्रतिमा में से एक प्रकाश-किरण निकल कर चन्द बरदाई के शरीर में प्रवेश कर गई। चन्द बरदाई ज़ोर से उछले तथा "हे मां" कहते हुए पृथ्वी जा गिरे। थोड़ी देर तड़पते रहे, फिर ध्यान में चले गए। ध्यान में भगवती ने प्रकट हो कर कहां, "चन्द बरदाई ! मैं जानती हूं कि यह प्रकाश किरण केवल तुम पर ही क्यों गई। पृथ्वी राज पर क्यों नहीं। पृथ्वी राज अभी उस का अधिकारी नहीं। यहां किसी का राज नहीं देखा जाता, हृदय का भाव देखा जाता है। चित्त-स्थिति देखी जाती है। अभी उसे देर है"

चन्द बरदाई कोई एक घण्टा ध्यान में रहे। महाराजा पृथ्वीराज कुछ देर तो उस के पास बैठे, फिर उठ कर बाहर चले गए। वहां के एक साधक से उन्हों ने कहा, "चन्द बरदाई को न जाने क्या हो गया है ? कुछ देर तड़पते रहे, फिर बेहोश हो गए। हमें चिन्ता हो रही है।"

वह साधक- महाराज ! चिन्ता की कोई बात नहीं। यह अध्यात्म साधन की सीढ़ियां हैं। यहां प्रायः कई लोगों के साथ इस प्रकार की घटना होती रहती है। चन्द बरदाई पर भगवती की कृपा हुई है। उस का सौभाग्य है।"

महाराजा पृथ्वी राज को बात की कुछ समझ नहीं आई। वह सोचने लगे, "यह कैसी कृपा है ? क्या चन्द बरदाई कहीं के राजा बन गए हैं ? या उन्हें कोई खज़ाना हाथ लग गया है ?

वह साधक- चन्द बरदाई जहां का राजा बना है वह आप के राज्य से भी कहीं बड़ा है। उसे जो खज़ाना मिला है वह अखण्ड है। वह राज्य तथा वह खज़ाना, इस स्थूल जगत का नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोक का है। सामान्य मनुष्य की वहां तक पहुंच भी नहीं।

बात राजा के पल्ले नहीं पड़ी। मौन रह गया था एक पत्थर पर बैठ कर सोचने लगा, "एक बात तो स्पष्ट है कि चन्द बरदाई में कोई विशेषता है। मैं ने भी उसे अभी तक मित्र के रूप में ही देखा है। कई बार उसे डांट भी दिया है। कई बार उस से परिहास भी किया है किन्तु वह उस से कहीं बड़ा है जितना मैं उसे समझता रहा हूं। मुझे अभी तक यह ज्ञात नहीं हो पाया कि वह अपने अन्तर में क्या समेटे है ? संभवत: कभी पता लगेगा भी नहीं" राजा देर तक इन बातों पर विचार करते रहे जब तक कि चन्द बरदाई माता जी की गुफा से बाहर नहीं निकल आए। दोनों छावनी की ओर चल दिए।

महाराजश्री ने कहा, "कोई योद्धा हो या प्रकाण्ड पण्डित, उत्कृष्ट संगीतज्ञ अथवा किसी कला विशेष का मर्मज्ञ, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि आध्यात्मिकता की बारीकियों को भी समझ सके। इस के लिए गुरुकृपा की आवश्यकता होती है जिस के अभाव में आध्यात्मिकता रहस्य बनी रहती है। पृथ्वी राज एक कुशल राजा थे। कई लड़ाइयों में अपने युद्ध-कौशल का प्रदर्शन कर चुके थे किन्तु अभी तक आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं कर पाए थे। उन के परिवार में भगवती की उपासना अवश्य प्रचलित थी किन्तु इतने से ही कोई भगवती के मर्म को नहीं जान पाता। उस परिवार की उपासना प्राय: सकाम थी। उन की मान्यता के अनुसार भगवती संसार के सर्व सुखों की प्रदाता है। उस की कृपा से सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। भगवती का आध्यात्मिक स्वरूप क्या है ? इस बारे में उन्हें कोई कल्पना नहीं थी। इस लिए महाराजा पृथ्वी राज का साधन के रहस्यों से अनभिज्ञ होना सामान्य बात थी।

मैं ने कहा- महाराजजी ! शक्तिपात् के लिए गुरुशरीर की कृपा की आवश्यकता है जब कि भगवती की प्रतिमा तो जड़ भौतिक है। उस के द्वारा शक्तिपात् कैसे हो गया ?

महाराजश्री- गुरु का शरीर भी तो जड़ भौतिक ही है, फिर उस से शक्तिपात्

कैसे हो जाता है। शक्तिपात् न गुरु शरीर करता है, न कोई प्रतिमा विशेष। उस के लिए चैतन्य सत्ता भगवती की कृपाशीलता की आवश्कयता है। वह किसी गुरु के भौतिक देह के माध्यम से करे, अथवा किसी प्रतिमा विशेष के माध्यम से, या अन्य किसी माध्यम से।

वैसे चन्द बरदाई पर पूर्व में भी शक्तिपात् हो चुका था किन्तु भगवती द्वारा यह शक्तिपात् एक विशेष कृपा थी।

अब आगे की बात कल करेंगे, आज इतना ही। आश्रम पर लोग हमारी राह देखते होंगे।

दूसरे दिन प्रातः भ्रमण के लिए महाराजश्री नारायण कुटी से निकले तो अभी अंधेरा ही था। आज महाराजश्री बड़े चुस्त-दुरुस्त दिखाई दे रहे थे। नवयुवकों की भांति छड़ी को हाथ में घुमा रहे थे। कदम में भी कुछ तेज़ी थी।

टेकड़ी की चढ़ाई आरंभ हुई ही थी कि महाराजश्री ने कल के विषय को आगे बढ़ाना शुरु किया जिस से चलने की गति काफी मध्यम हो गई थी।

महाराजश्री- छावनी वापिस पहुच कर चन्द बरदाई कुछ देर अपने तम्बू में लेटे रहे, फिर बाहर निकल कर एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। चन्द्रमा निकल आया था तथा चारों ओर चांदनी बिखेर रहा था। चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में टेकड़ी ऐसे दिखाई दे रही थी जैसे कोई नवयौवना दूध से स्नान कर रही हो। चन्द बरदाई निरन्तर टेकड़ी को देखे जा रहे थे। उन्हें वह भजन याद हो आया जो पहली बार माताजी की गुफा में गाया था-

नमो आद अनाद तू ही भवानी
तू ही योगमाया तू ही वाक वानी

वह मस्तीं में आ कर फिर से वही भजन गाने लगे। जब उन्हें यह भजन प्रस्फुटित हुआ था तब उन्हें इस के अर्थ के बारे में कोई क्रियात्मक अनुभूति नहीं थी, किन्तु अब भजन के एक-एक शब्द का अर्थ अन्तर् में घटित होता अनुभव होने लगा था। उन्हें अपनी वाणी में शक्ति की क्रियाशीलता स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। यह भी प्रकट हो रहा था कि शक्ति कैसे पंच भौतिक तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है। शक्ति ही मोह माया तथा विकारों का रूप धर कर जीव के लिए शूल का रूप ग्रहण करती है। शक्ति के जो भेद विद्वान लोग अथक परिश्रम कर भी नहीं समझ पाते, वह चन्द बरदाई के सामने शक्ति स्वयं प्रकट कर रही थी। शक्ति की क्रियाशीलता की विद्यमानता के बिना कोई दृश्य संभव नहीं तथा न कोई क्रिया या घटना घट सकती है, इस की चन्द बरदाई को प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही थी।

इस पर मैं ने महाराजश्री से पूछा, "यह अनुभूति उन्हें किस तरह हो रही

थी ? चन्द बरदाई को क्या दिखाई दे रहा था ?

महाराजश्री- जो बात अनुभव से ही जानी जा सकती है उसे शब्दों में क्यों कर व्यक्त किया जा सकता है ? यही कहा जा सकता है कि उन्हें कुछ इस तरह का अनुभव हो रहा था। पठन-पाठन में यह एक दोष है कि हर बात को तर्क तथा युक्ति से समझने का मनुष्य का स्वभाव बन जाता है तथा वह अनुभव की ओर से उदासीन हो जाता है। जब कि तर्क की भी सीमा है। उसे प्रत्येक निर्णय में आधार नहीं बनाया जा सकता तथा न आन्तरिक अनुभवों को भाषा एवं शब्दों में बांधा जा सकता है।

चन्द बरदाई रात भर वृक्ष के नीचे बैठे, चैतन्य के अनन्त अथाह सागर में उन्मुक्त विहार करते रहे। कभी क्रियाओं का आवेश आ जाता तो कभी जगदातीत अवस्था में ध्यानस्थ हो जाते। कभी माताजी की टेकड़ी को निहारते तो कभी लक्ष्य अन्तर् की ओर पलट जाता। न कुछ खाने-पीने की भूख, न तनिक आराम करने की चाह। निरन्तर शक्ति का आवेश, अध्यात्म का उभार, निरन्तर अन्तर्मुखी यात्रा। जब प्रातः काल का समय हुआ तो लोगों ने उन्हें वृक्ष के नीचे पड़े पाया। उठा कर उन्हें उन के तम्बू में पहुंचाया गया तथा राजा को सूचना दी गई। वह भी भागते हुए चन्द बरदाई के पास पहुंच गए। तब तक चन्द बरदाई बाह्य ज्ञान अवस्था में आ गए थे। पूछने पर कहा, "मुझे कुछ नहीं हुआ। वृक्ष के नीचे आराम कर रहा था।"

इस जंगल में केवल तीन ही दिन के लिए छावनी डाली गई थी। आज तीसरा दिन था। चन्द बरदाई ने राजा से कहा, "महाराज ! कल प्रातः कल हम लोग यहां से प्रस्थान कर जाएंगे। आप की अनुभूति हो तो मैं टेकड़ी पर माता जी के दर्शन कर आऊं ?"

महाराजा- हो आओ, किन्तु किसी को साथ ले जाओ।

चन्द बरदाई- महाराज! भगवती के दरबार का यही तो विधान है कि वहां मनुष्य किसी को साथ नहीं ले जा सकता। सब कुछ बाहर ही त्याग कर अन्दर प्रवेश होता है। अपना अहम्भाव भी साथ नहीं जा पाता।

महाराजा- किन्तु लोग तो मिल कर भगवती की भक्ति करते हैं, कीर्तन करते हैं, जगराते करते हैं, यात्रा पर जाते हैं।

चन्द बरदाई- यह भगवती की दरबार के बाहर की बातें हैं। बाहर कुछ भी करते रहें किन्तु प्रवेश अकेले का ही होता है। प्रवेश-द्वार इतना सूक्ष्म है कि दूसरा कोई भाव,विचार इच्छा, संकल्प हो, या कोई अन्य व्यक्ति, साथ निकल ही नहीं सकता।

यह सुन कर महाराजा चुप रह गए। उन्हों ने बात को बढ़ाना उचित न समझा। "बोले अच्छा। अकेले ही हो आओ।

चन्द बरदाई पत्थरों से पटे तथा कंटीली झाड़ियों से अटे रास्ते पर शीघ्रतापूर्वक बढ़े जा रहे थे। उसे माताजी की गुफा में जल्दी से जल्दी पहुंचने की जिज्ञासा खेंचे लिए जा रही थी। महात्माजी की कुटिया आई तो उन्हों ने प्रणाम किया तथा बिना कोई बात किए आगे बढ़ गए। गुफा में पहुंच कर वह एकदम उछले तथा माताजी के चरणों में जा गिरे। उन का माथा ज़ोर से टकराया तथा खून बहने लगा। बोले, "हे मां, हम कल यहां से जा रहे हैं। आप भी मेरे हृदय में विराज जाइए तथा हमारे साथ ही चलिए। वैसे तो आप कण-कण में व्याप्त हैं, कहां आना ? तथा कहां जाना ? किन्तु हम सीमित-बुद्धि प्राणियों को भला आप की सर्व व्यापकता का क्या अनुभव ? हम तो स्वार्थ में रंगे हैं। स्वार्थ की बात कर सकते हैं। आप से विलग होने को मन नहीं करता। आप भी साथ ही चलिए।"

चन्द बरदाई रोते जाते तथा माथे को माता के चरणों पर रगड़ते जाते थे। इसी तरह करते-करते उन का ध्यान लग गया। गुफा में जलते दीपक के अतिरिक्त अन्य कोई साक्षी नहीं था। सब ओर शान्तता स्तब्धता व्याप्त थी। एक बालक मां से हठ करते हुए थक कर मां की गोद में सो गया था। ध्यान में मां की आकृति उजागर हो उठी। स्नेह से सिर पर हाथ फेरते हुए बोली, "उठो वत्स ! मेरी तरह तुम भी सर्वव्यापक हो, किन्तु अभी अज्ञान के कारण अपनी सर्वव्यापकता का भान नहीं हो रहा। मेरा सदैव ही तुम्हारे हृदय में वास रहा है, आगे भी रहेगा। अब तक तुम इस तथ्य को अनुभव नहीं कर पाते थे, किन्तु अब मेरी कृपा से तुम्हे यह अनुभूति बनी रहेगी।

ध्यान में से मां अदृश्य हो चुकी थी पर चन्द बरदाई का ध्यान निरन्तर बना रहा। उन्हें महाराजा पृथ्वी राज यवनों की कैद में पड़े दिखाई दिए। फटे वस्त्र, बढ़ी दाढ़ी, नेत्रहीन अवस्था। यह दृश्य देख कर चन्द बरदाई का हृदय चीत्कार कर उठा। शरीर कांपने लगा। मां पुनः प्रकट हो गई। बोली, "इस में चिन्ता की कोई बात नहीं। सब कर्मभोग है। भोग कर ही कर्म क्षय किया जा सकता है। पृथ्वी राज भी जन्म का योगी है किन्तु योगी हो या भोगी, प्रारब्ध सभी को भोगना पड़ता है। संतोष की बात यह है कि पृथ्वी राज प्रसन्नतापूर्वक इस भोग को भोग कर समाप्त करेगा। इस के पश्चात् योगी के रूप में उस का नया जन्म होगा।"

चन्द बरदाई का ध्यान भंग हो चुका था। उस की आंखे खुल चुकीं थीं। गुफा में अभी तक स्तब्धता पसरी थी, दीपक पूर्ववत् अपनी लौ बिखेर रहा था। मां की प्रतिमा से उसे प्रकाश निकलता तथा चारों ओर फैलता प्रतीत हो रहा था। चन्द

बरदाई उन्मने से बैठे मां को निहारे जा रहे थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उन का शरीर उस प्रकाश में विलीन होता जा रहा है तथा उन्हें अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है। उन के मुंह से निकल गया, "मां ! मुझ में तो तुम्हारा आभार व्यक्त करने की भी सामर्थ्य नहीं। यदि आभार प्रकट करूं भी तो उसे ग्रहण करने के लिए तुम्हें ही झुक कर नीचे आना पड़ेगा। किन्तु हे मां, आनन्द की इस वेला में महाराजा पृथ्वी राज के विषय में, दृश्य ने रंग में थोड़ा भंग डाल दिया है। यह सब देख कर हृदय व्यथित हो उठा है।" ऐसा कहते-कहते चन्द बरदाई पुनः ध्यान में चले गए। उसी अवस्था में भगवती ने प्रकट हो कर कहा, "यह तुम संसारियों की भांति हृदय क्या व्यथित कर रहे हो। संसारी तो कर्म के रहस्य को समझते नहीं किन्तु तुम तो ज्ञानी हो। तुम समझ सकते हो कि इस कर्मभोग से पृथ्वी राज का कितना बड़ा उपकार होने वाला है। इस कर्म-भोग पर उस का योग-मार्ग प्रशस्त होना निर्भर है। तुम उसे राजा देखना चाहते हो, योगी नहीं। इसी लिए व्यथित हो रहे हो। किन्तु एक योगी की तुलना में एक राजा कीट-पतंग के समान है। योगी राजाओं का भी राजा है, जिस का राज्य त्रैलोकी के राज्य से भी अधिक विशाल है।"

चन्द बरदाई ध्यान भंग होने के पश्चात् भगवती को प्रणाम कर के गुफा के बाहर आ चुके थे। मां के समझाने के पश्चात् भी महाराज पृथ्वी राज के लिए चिन्ता की लकीरें उन के मुख पर पढ़ी जा सकतीं थीं। चिन्ता ने मां की कृपा के हर्ष को दबा दिया था। जब वे महात्मा जी की कुटियापर पहुंचे तो उन का चेहरा देखते ही महात्मा जी को समझते देर नहीं लगी कि यह मोह के कारण चिन्तित हैं।

महात्मा- क्या बात है कुछ चिन्तित दिखाई दे रहे हो ?

चन्द बरदाई- हां महाराजजी ! महाराजा पृथ्वीराज चौहान के विषय में कुछ ऐसा दृश्य देखा है, जिस ने चिन्ता में डाल दिया है।

महात्मा- तुम्हारी चिन्ता का कारण वह दृश्य नहीं अपितु पृथ्वी राज के प्रति तुम्हारे मोह का भाव है। मोह सभी चिन्ताओं का कारण है। जो कुछ भी होता है भले के लिए होता है। भले के लिए ही चिकित्सक को रोगी के फोड़े की चीर-फाड़ करनी पड़ती है। जिसे मनुष्य मोह के कारण समझ नहीं पाता। यदि मोह को त्याग दिया जाय तो सभी चिन्ताए समाप्त हो जातीं हैं।

यह सुनते ही चन्द बरदाई को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई उस के हृदय पर आघात पर आघात किए जा रहा हैं, जिस में उस का मोह चकनाचूर होता जा रहा है। महाराजा पृथ्वी राज विषयक भावी घटना चिकित्सक की चीर-फाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं। मां ने भी कहा था कि इस के पश्चात् योगी के रूप में उस का जन्म होगा किन्तु मोह ने उन्हें राजा के रूप में देखने का अभ्यस्थ बना दिया था। निश्चय ही एक

योगी का स्थान, किसी राजा के स्थान से कहीं उत्तम है।

जब टेकड़ी से नीचे उतरे तो चन्द बरदाई का मन काफी हलका हो चुका था। फिर भी उन्हों ने विचार किया कि इस संबंध में राजा को कुछ नहीं बताना ही ठीक है। राजा के मन की अवस्था अभी इतनी परिपक्व नहीं कि इस भावी घटना के गूढ़ रहस्य को समझ सके। घटना तो भविष्य में कभी घटित होगी किन्तु वह अभी से चिन्ता में डूब सकते हैं।

चन्द बरदाई का मोह विच्छिन्न अवस्था में जा चुका था तथा ज्ञान का भाव उदार हो कर चित्त में ऊपर आ गया था। उन के चेहरे की रौनक लौट आई थी। चाल में भी तीव्रता फिर से झलकने लगी थी। उस जंगल का पत्ता-पत्ता आनन्द-जल में डूबकियां लगाता आभासित हो रहा था। पीछे मुड़ कर देखा तो माताजी की टेकड़ी आशीर्वाद की मुद्रा में अवस्थित दिखाई दी। चन्द बरदाई का मन आनन्द से बल्लियों उछल पड़ा। दूर से छावनी को देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी विशाल सरोवर में कमल पुष्प खिलें हों। फिर उन्हों ने देखा कि मां जैसे सारी छावनी को अपनी बाहों में लपेटे मुस्कुरा रही है।

छावनी में पहुंच कर जब महाराजा के सामने उपस्थित हुए तो महाराजा ने पूछा, "मां के दर्शन कर आए ?"

चन्द बरदाई- दर्शन भी कर आया, आशीर्वाद भी ले आया।

महाराजा- क्या आशीर्वाद दिया मां ने ?

चन्द बरदाई- वह एक सूक्ष्म अनुभव के रूप में है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मैं महाराजश्री की बातें ध्यान से सुन रहा था। मुझे विचार आया कि चन्द बरदाई जैसे अनुभव कितने लोगों को होते हैं ? हमारी जानकारी में संभवत: एक भी नहीं। फिर प्रत्यक्ष में महाराजश्री से पूछा, "चन्द बरदाई जैसे अनुभव सब लोगों को तो नहीं होते।"

महाराजश्री- सब लोगों की चित्त-स्थिति चन्द बरदाई की चित्त-स्थिति के समान है भी कहां ? ऐसे अनुभवों की चाहत सभी करते हैं, किन्तु उस की योग्यता प्राप्त करने की ओर से उदासीन रहते हैं। अध्यात्म के अनुभव ऐसे नहीं कि लड्डू उठाया और मुंह में रख लिया। जगत में रहते हुए, सब व्यवहार करते हुए, संसार से मुंह को मोड़े रखना क्या सरल कार्य है ? पहले तो लोगों को समझ में नहीं आती कि यह सब कर पाना कैसे संभव है ? कुछ समझ में आ भी जाय तो मन नहीं मानता। दीर्घकालीन साधन, सेवा तथा संयम की आवश्यकता है। तब कहीं जा कर चित्त-स्थिति बनती है।

मैं ने कहा- संसार किसी को इतना अवसर ही कहां देता है कि कोई अपनी चित्त-स्थिति का निर्माण कर सके। वह तो किसी न किसी तरह अपने में ही उलझाए रखता है। कोई उस से बच निकलने का प्रयास भी करे तो पीछे से टांग खेंचता है।

महाराजश्री- संसार ने न आज तक किसी को छोड़ा है, न छोड़ेगा। जिस को अपनी चित्त-स्थिति का निर्माण करना होता है, वह ऐसी ही परिस्थितियों में करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी ही परिस्थितियों में चित्त का निर्माण होता है। जब सब ओर अंधकार हो, सभी परिस्थितियां प्रतिकूल हों, कहीं से कोई सहारा न हो, स्वार्थियों, कपटियों तथा ढोंगियों से घिरा हो, तभी चित्त-स्थिति के निर्माण के लिए अनुकूल समय होता है। चित्त में सात्विकता बढ़ते जाने के साथ अन्तर् के अनुभवों का अवसर भी प्रकट होने लगता है। जगत का महत्त्व भी कम होता जाता है।

अब देखो क्या होता है ?

चन्द बरदाई अपने तम्बू में जा कर लेट गए तथा सोचने लगे, "साधन मैं पहले भी करता था किन्तु यहां आने के पश्चात् उस में कुछ विचित्र प्रकार की अलौकिकता सी आ गई है। अब मन ऐसा चाहता है कि साधन में ही बैठा रहूं। संसार के लोग अन्तर् के आनन्द को छोड़ कर बाहर के विषयानन्द के पीछे क्यों भागते फिरते है ? यही हो सकता है कि उन्हें अन्तर के आनन्द का पता ही न हो। यदि एक बार किसी को इस का चसका लग जाय तो सब विषयानन्द भूल जाय। किन्तु जब तक भगवती की कृपा न हो तब तक कोई अन्तर् के आनन्द को जान भी कैसे सकता है ?" विचारों का चक्र घूमता रहा। अन्ततः विचार-प्रवाह महाराजा-विषयक अनुभव की ओर घूम गया। "महाराजा की भावी दुर्गति का विचार आते ही मन व्यथित हो जाता है। भोगे बिना छुटकारा भी तो नहीं। अच्छा है भोग कर प्रारब्ध से मुक्ति तो मिलेगी। उस के पश्चात् उन का भविष्य उज्जवल है। यह कल्पना करते ही रोमांच होने लगता है। सारी व्यथा मिट जाती है।"

विचार-प्रवाह चलता रहा। अब चन्द बरदाई अपने बारे में सोचने लगे थे, "वैसे तो ईश्वर सर्वव्यापक है पर इस स्थान में अवश्य कोई विशेषता है। यहां आ कर साधन में एकदम परिवर्तन अनुभव होता है। ईश्वर सब जगह विद्यमान होते हुए भी, कहीं अनुभव नहीं होता, किन्तु कई स्थान ऐसे होते हैं जहां उस के अस्तित्व की प्रतीति होने लगती है। ऐसे स्थानों को ही तीर्थ कहा जाता होगा। आजकल तो लोगों ने तीर्थ के पवित्र शब्द के अर्थ का अनर्थ कर डाला है। न लोगों की भावना में तीर्थ है, न तथा कथित तीर्थों में पवित्र करने की सामर्थ्य, अन्यथा तीर्थ ऐसे पवित्र

स्थान हैं जो शब्द के अर्थ को सार्थक करते है"

"अभी तो मैं महाराजा की सेवा में, उन के साथ आया हूं। उन के साथ ही मुझे यहां से प्रस्थान भी करना पड़ेगा। क्या ही अच्छा हो कि भविष्य में मैं पुन: यहां आ कर, कुछ दिन रह कर भगवती की कृपा प्राप्त करूं।" इसी प्रकार के विचारों में निमग्न चन्द बरदाई तन्द्राभिभूत हो गए।

मेरे मन में एक विचार बार-बार उठने लगा था कि जब चन्द बरदाई इतने उत्कृष्ट साधक थे तो उन्हें महाराजा की सेवा में बने रहने की क्या आवश्यकता थी ? सब कुछ छोड़-छाड़ कर पूर्ण रूपेण साधन को ही क्यों समर्पित नहीं हो गए। संसार के मिथ्या स्वरूप को जान कर भी, मिथ्या व्यवहार में क्यों उलझे रहे। जब अन्तर् का मार्ग मिल गया तो पूरी तरह उस पर क्यों नहीं चल दिए ?" मैं ने महाराजश्री के समक्ष यह प्रश्न रख दिया।

महाराजश्री- प्रत्येक् साधक का मार्ग, श्रद्धा, मान्यता तथा प्रारब्ध दूसरों से भिन्न स्वरूप लिए होता है। साधन में किसी की नकल करना उचित नहीं। तुम चन्द बरदाई की अवस्था को अपने विचारों के अनुसार तोलने का प्रयत्न कर रहे हो। यही तुम्हारी भूल है। साधन के विकास में प्रारब्ध का बड़ा हाथ है। प्रारब्ध को भोग कर समाप्त करना साधन का ही अंग है। साधन का विकास सदैव धीरे-धीरे होता है, धैर्य रखना पड़ता है। जगत के संस्कार होते हैं तो साधन के भी होते हैं। साधक जिस रास्ते से गया है, उसी से लौटता है। सभी साधकों को एक ही लाठी से हांकना उपयुक्त नहीं।"

मैं क्या कह सकता था ? चुप रह गया। किन्तु एक विचार अन्तर् में बार-बार उभरने लगा, "मैं भी माता जी टेकड़ी पर निवास करता हूं। मुझे भी महाराजश्री जैसे सिद्धमहापुरुष का चरण-सानिध्य प्राप्त है। मैं भी साधन करने का प्रयत्न करता हूं, अच्छी-बुरी जैसी बन पड़ती है सेवा करने में भी रुचि लेता हूं। फिर मुझे ऐसी अनुभूतियां क्यों नहीं होतीं ? आनन्द का वह प्रकार मेरे हृदय में क्यों उदय नहीं होता ? मैं अभी तक जगत की दलदल में क्यों धसा हूं ?" मैं ने अपने मन की दुविधा महाराजश्री कें सामने व्यक्त कर दी।

महाराजश्री- देखो ! जिन साधकों ने उन्नति की है वह केवल बाह्य-साधन-शिखर पर ही नहीं चढ़े, अन्तर् के साधन-शिखर पर भी अपनी सफलता का झंडा गाड़ा है। उन्हों ने बाह्य शिखर तथा अन्तर् शिखर को मिला कर एक कर लिया। तुम बाह्य शिखर पर तो चढ़ रहे हो, किन्तु अन्तर् शिखर पर चढ़ना तो दूर, अभी गहरी अंधेरी घाटियों से भी नहीं उभर पाए। साधक यदि आगे बढ़ता है तो

बाह्य तथा अन्तर् पर एक साथ बढ़ता-चढ़ता है। बाह्य अनुकूल वातावरण तथा गुरु का सानिध्य तभी लाभकारी है जब उस का सदुपयोग आन्तरिक उन्नति के प्रति किया जाय। मेरे कहने का यह भाव नहीं है कि तुम इस दिशा में प्रयत्नशील नहीं हो, अथवा तुम आन्तरिक स्तर पर आगे नहीं बढ़ रहे हो किन्तु अभी इस में समय लगेगा। यात्रा बहुत लम्बी है, मार्ग कठिन है। बड़े धैर्य की आवश्यकता है।

मैं एकदम औंधे मुंह पृथ्वी पर आ गिरा। अभी तक मन में ज़ो-जो भी अभिमान पाले था, सब चूर-चूर हो गए। समझे बैठा था कि मैं काफी आगे निकल चुका हूं पर महाराजश्री के कहे अनुसार अभी अंधेरी घटियों में ही भटक रहा हूं। मैं ने कहा, "महाराजजी ! यदि मेरे मन की ऐसी स्थिति है तो मुझे गुरु क्यों बना दिया ? तथा मुझे संन्यास क्यों दिलवा दिया ?

महाराजश्री- मैं तुम्हें कई बार समझा चुका हूं कि तुम्हें गुरु नहीं बनाया। तुम गुरु नहीं हो, केवल एक प्रतिनिधि के रूप में एक सेवा-कार्य सौंपा है। तुम अपने-आप को गुरु बनने के मिथ्या अभिमान की अंधेरी गुफा में क्यों बंद किए हुए हो। सच पूछो तो हम भी गुरु नहीं हैं। पहले ही जीव कई उपाधियां लिए बैठा है, गुरु के मिथ्या अभिमान की एक उपाधि को मत ओढ़ लो गुरु वह है जो बड़ा हो किन्तु बड़प्पन का अभिमान नहीं हो, जब कि जीव अन्तर् में कई न्यूनताएं समेटे है। ऐसे तो केवल शंकर हैं जो सर्व समर्थ होते हुए भी नगण्यवत्, हैं। वही गुरु हैं।

अब रही बात संन्यास की ! तो संन्यास अभिमान को समाप्त करने के प्रयत्न का प्रतीत है, वासनाओं को जलाने का मार्ग है। किन्तु यह अलग बात है कि कोई संन्यास का ही अभिमान करने लगे तथा अपने आप को जगत से श्रेष्ठ समझ बैठे किन्तु संन्यास पुजवाने के लिए नहीं है, अहम् को जलाने के लिए है। अपना पृथक् अस्तित्व मिटाने के लिए है। यदि तुम्हें संन्यास ग्रहण करने के लिए कहा है तो तुम्हारे आध्यात्मिक हित के लिए ही कहा है।

मैं ने शर्म से सिर झुका लिया। मुझे अपने आप पर क्रोध आ रहा था कि मैं ने गुरुदेव से ऐसी भाषा में बात क्यों की। इस से मेरी गुरुदेव के प्रति श्रद्धा तथा भावना का खोखलापन ही उजागर हुआ है। जिन के आदेश ही नहीं, संकेत को भी शिरोधार्य करना कर्तव्य था, उन से ऐसी भाषा का प्रयोग ! मेरी आखों से आंसू निकल पड़े। गुरुदेव ने कहा, "इस में रोने की तो कोई बात है नहीं, समझने की बात है। इसी तरह धीरे-धीरे मनुष्य सीखता है। गिरेगा तभी तो उठना सीखेगा। अंधेरे में जाने पर ही प्रकाश का महत्त्व ज्ञात होता है। अब जा कर आराम करो"

महाराजा पृथ्वी राज की छावनी उठ चुकी थी। सामान हाथियों पर लाद दिया गया था। काफले ने दिल्ली की ओर बढ़ना आरंभ कर दिया था। चन्द बरदाई

आज घोड़े पर नहीं होकर पैदल ही चल रहे थे। गंभीर, गुम-सुम। भगवती उन के साथ हृदय में विराजित थी, मानो भगवती से बातें करते चले जा रहे थे। भगवती ने कहा, "चन्द बरदाई, तुम यहां से जाना नहीं चाहते किन्तु संसार में सभी को विवशता के आगे सिर झुकाना पड़ता है। न चाहते हुए भी करना, इसी का नाम विवशता है। कर्तव्य तथा विवशता का चोली-दामन का साथ है। जब तक तुम्हारे जीवन में कर्तव्य है तब तक तुम्हें विवशताओं का सामना करना पड़ेगा। कर्तव्य के सामने से हट जाने पर ही विवशता से पीछा छूटेगा।" चन्द बरदाई के आंसु निकलने को थे किन्तु बहुत सारे लोग साथ थे, इस लिए अपनी भावनाओं पर संयम बनाए रखा।

चन्द बरदाई के मन ने कहा, "मां ! यह सब तुम्हारी लीला है। तुम्हीं हृदय में कर्तव्य की भावना जगाती हो तथा तुम्हीं विवशता का प्रदर्शन करती हो। तुम्हारी कृपा के बिना कर्तव्य तथा अकर्तव्य का भाव कैसे हट सकता है ?"

भगवती ने कहा-जीव को तपाने के लिए ही कर्तव्यका भाव पैदा करती हूं। कर्तव्य-पालन मनुष्य का साधन है। यदि मेरी लीलाओं का अवलोकन आन्तरिक साधन है तो कर्तव्य-पालन बाह्य साधन। जीव को उत्थान के लिए दोनों साधनों की आवश्यकता है। जैसे-जैसे जीव के पाप तथा संस्कार तप कर भस्म होते जाते हैं, बाह्य साधन छूटता जाता है, तथा आन्तरिक साधन बढ़ता जाता है। तब कर्तव्य का भाव भी विलीन हो जाता है तथा विवशता भी सामने से हट जाती है। जीव को तपाने के लिए ही उस के सामने विपरीत परिस्थितियां उपस्थित करती हूं। यह भी मेरी कृपा ही है। जो विपरीत परिस्थितियों से विचलित हो जाते है वह मेरी कृपा के लाभ से वंचित रह जाते है

चन्द बरदाई- हां मां ! तू ही जीव को बंधन में डालती है तथा तू ही बंधन-मुक्त भी करती है। बंध तथा मोक्ष, दोनों तेरी कृपा के स्वरूप हैं। मुक्त करने के लिए ही तो तू बंधन में डालती है ताकि जीव मुक्त होने का आनन्द उठा सके।

इस प्रकार मन ही मन मां से बातें करते चन्द बरदाई चले जा रहे थे। सांझ होने को आ गई तो एक उपयुक्त स्थान देख कर छावनी डालने का आदेश दिया गया। हाथियों से सामान उतार लिया गया, घोड़ों के साज़ खोल दिए गए तथा तम्बू तान दिए गए। रात भर यहीं विश्राम किया गया।

चन्द बरदाई कुछ देर राजा से बातें करते घूमते रहे। जब राजा अपने तम्बू में विश्राम करने चले गए तो चन्द बरदाई टहलते हुए एक पत्थर पर जा बैठे। उन्हें इस समय अकेला अच्छा लग रहा था। तभी वहां एक महात्मा अदृश्य से प्रकट हुए, सफेद लम्बा चोगा, सफेद लम्बी दाढ़ी, हाथ में कमण्डल, चेहरे पर तेज। चन्द

बरदाई ने महात्मा को देख कर प्रणाम किया तो वे बोले, "मैं पिछले तीन दिनों से तुम्हारी गतिविधियों पर दृष्टि रखे हूं। आप के साथ जो-जो घटित हुआ, मुझे सब ज्ञात है। प्रसन्नता की बात है कि तुम पर भगवती की कृपा है।"

चन्द बरदाई- आप की भी कृपा है। क्या मैं आप का परिचय जान सकता हूं ?

महात्मा- साधु का इतना परिचय क्या कम है कि वह साधु है। हम कुछ महात्मा अदृश्य रूप में इन पहाड़ियों पर निवास करते, तथा कई बार चामुण्डा माताजी के दर्शन करने चामुण्डाजी की टेकड़ी पर जाते रहते हैं। अब की बार गया तो तुम देखने में आ गए। तुम्हारा भाव देख कर अच्छा लगा।

चन्द बरदाई को यह सुन कर कौतूहल हुआ। उन्हों ने पूछा, "आप अदृश्य हैं तो आप की कुटियाएं भी अदृश्य हैं क्या ?"

महात्मा- हमें कुटियाओं की कोई आवश्यकता ही नहीं। किसी गुफा में, किसी वृक्ष पर, किसी नदी-किनारे, कहीं भी समाधि लगा कर बैठ गए। सरदी-गरमी धूप-छांव अथवा दिन-रात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। शान्ति हो अथवा कोलाहल, हमारे लिए एक समान है।

चन्द बरदाई- आपकी भिक्षा ?

महात्मा–भिक्षा उन की आवश्यकता है जो अभी तक जगत से ऊपर नहीं उठ सके। हमारी भिक्षा सूक्ष्म पंच भौतिक तत्त्वों से स्वयमेव पूरी होती रहती है।

चन्द बरदाई- आप कब से यहां रह रहे हैं।

महात्मा- संसार में ऐसे कई स्थान हैं जहां अदृश्य महात्मा रहते हैं। उन में से मालवा की पहाड़ियां भी एक है। यहां चामुण्डा माताजी का आकर्षण मुख्य कारण है। पहले मैं हिमालय में रहता था। दो हज़ार वर्ष पूर्व यहां आ गया।

यह बातें सुन-सुन कर चन्द बरदाई आश्चर्य चकित हो रहे थे। उन्होंने कहा कि वे महाराज की क्या सेवा कर सकते हैं ?

महात्मा- जब हमारी कोई आवश्यकता ही नहीं है तो तुम हमारी सेवा भी क्या कर सकते हो ? जो तुम साधन-भजन करते हो, उसी को हमारी सेवा समझ लो।

चन्द बरदाई- आप कहते हैं कि आप अदृश्य रहते है किन्तु मुझे तो आप प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

महात्मा- यह हम ने अपने आप को तुम्हारे सामने प्रकट किया है, इस लिए तुम देख पा रहे हो। हम फिर मिलेंगे।

चन्द बरदाई- किन्तु मैं तो यहां से बहुत दूर दिल्ली में रहता हूं।

महात्मा-यह हमारे लिए कोई समस्या नहीं।

इतना कह कर महात्माजी अधर में विलीन हो गए। चन्द बरदाई देखते रह गए।

चन्द बरदाई सोचने लगे, "अजीब बात है ! हज़ारों वर्षों से यहां रह रहे हैं, अदृश्य रह रहे हैं, भिक्षा की आवश्यकता नहीं। क्या यह संभव है ? जिस प्रकार वह अदृश्य हो गए उस से पता लगता है कि उन की सारी बातें सही हैं। यदि वह झूठ बोलने वाले होते तो उन के पास इस प्रकार की सिद्धि संभव नहीं थी। हे मां ! यह भी तेरी एक लीला है। किसी को हज़ारों वर्षों की आयु प्रदान कर रही है तो किसी को शीघ्रतापूर्वक बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घुमा रही है। किसी को अपनी लीला दिखा रही है तो किसी को अपनी लीला में भटका रही है। तेरी लीला तू ही जानती है।"

यह कहते-कहते महाराजश्री चुप हो गए थे। माता के समक्ष उन के हाथ जुड़ गए थे एवं मस्तक प्रणाम की मुद्रा में झुक गया था। मेरा कुछ दूसरा ही विचार चल रहा था। मैं सोच था कि गुरु का कार्य कितना कठिन है ? मन में गुरु होने के स्थान पर, गुरुसेवा का भाव रखते हुए कार्य करना। बाहर अपने आप को गुरु रूप में प्रस्तुत करना किन्तु अन्तर् में शिष्यत्व का भाव धारण करना। फिर ध्यान आया कि स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज ने यही तो किया था। किन्तु अपने मन में इन दोनों भावों का सामन्जस्य किस प्रकार जमाया हो गा ? शिष्य तथा गुरु का भाव एक साथ। यह बात कठिन अवश्य है किन्तु असंभव नहीं। महाराजश्री में भी गुरु होने का अभिमान कहां है ? उन में शिष्य का भाव है या नहीं। यह देखने का हमारे पास कोई उपाय नहीं, किन्तु गुरु होने के अभिमान का अभाव प्रत्यक्ष है।

अब विचार-प्रवाह मुड़ गया था। मैं ने चन्द बरदाई की आत्म स्थिति को मथना आरंभ कर दिया था। जैसा मां के चरणों के प्रति उन का अनुराग था, वैसा अनुराग किसी के प्रति मेरे अन्तर् में है क्या ? क्या भगवान के प्रति है ? क्या गुरुदेव के प्रति है ? उत्तर था नहीं। मुझे महाराजश्री की बात याद आ रही थी कि बाहर की चढ़ाई के साथ अन्दर की चढ़ाई भी आवश्यक है। मैं अन्तर् में चढ़ने की ओर से उदासीन चला आ रहा था। फिर चन्द-बरदाई जैसी अनुभूतियों की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

विचार प्रवाह फिर घूम गया। अब अदृश्य महापुरुष का विषय अभिमुख था, "क्या उन्हों ने यह स्थिति सहज ही प्राप्त कर ली होगी ? नहीं, यहां तक पहुंचने के लिए उन्हें क्या कुछ नहीं करना पड़ा होगा ? इस के लिए कितने दीर्घ काल

तक साधनरत् रहना पड़ा होगा ? कैसे-कैसे विघ्नों का सामना करना पड़ा होगा ? कितने उतार-चढ़ाव देखे होंगे ? और तू ? तू क्या प्रयत्न कर रहा है ? क्या त्याग कर रहा है ? कितना साधन करता है ? तुझ में कितनी सहनशीलता एवं उदारता है ? उत्तर था, कुछ नहीं। मैं ठण्डा हो गया। मन ग्लानि से भर उठा। जिन्हों ने कुछ प्राप्त किया है, साधन, त्याग, अनुराग तथा समर्पण से किया है। मुझ में इन सब बातों का नितान्त अभाव है। फिर कुछ प्राप्त कैसे होगा ?

महाराजश्री ने अब तक मस्तक उठा लिया था, आंखें खोल दीं थीं। कहने लगे, "चन्द बरदाई के जीवन में किसी अदृश्य महापुरुष का यह प्रथम दर्शन था। उन का एकदम प्रकट होना, तथा एकाएक अदृश्य हो जाना, दोनों विस्मयकारी लगे। उन्हें यह सारी बातें विचित्र प्रतीत हो रही थीं, किन्तु चन्द बरदाई को अलौकिक अनुभव होते ही थे, इस लिए इन तथ्यों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

दिल्ली वापिस पहुंच कर महाराजा पृथ्वी राज तो अपने राजकाज में व्यस्त हो गए। चन्द बरदाई अपने व्यावहारिक उत्तरदायित्व सामान्य ढंग से निबाहते थे। किसी को कुछ पता नहीं चलने देते थे कि उन के अन्तर में क्या है ? किन्तु अपना बचा हुआ सारा समय साधन में ही लगाने लगे थे। माताजी की टेकड़ी का ध्यान उन में हर समय बना ही रहता था। उन्हें भाव में टेकड़ी कभी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में दूध से नहाई सी प्रतीत होने लगती, तो कभी सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई आभा बिखेरती दिखाई देती। कभी सब्ज़ रंग की चादर ओढ़े तरुणी सी दिखाई देती तो कभी हरियाली से ढकी तपः स्थली। कभी टेकड़ी के आस-पास फैले घने जंगल की याद आने लगती, जिस में वृक्षों पर उछलते-कूदते-बंदर, टेढ़े-मेढ़े रास्ते स्मरण होकर आकर्षित करते। माताजी की गुफा तथा उस के आस-पास चारों दिशाओं में फैली साधकों की कुटियाएं टेकड़ी की आत्मा थी। जैसे कोई रमणी विदेश गए अपने प्रियतम की याद में खोई रहती है, ऐसे ही चन्द बरदाई को टेकड़ी की याद व्याकुल किए रहती थी। टेकड़ी तथा वहां के वातावरण के स्मरण के साथ ही याद आते वहां पर हुए चिरस्मरणीय अलौकिक अनुभव जो चन्द बरदाई के स्मृति-पटल पर अमिट छाप छोड़ गए थे। उस के साथ ही याद हो आती महात्माजी की स्नेहमयी एवं कल्याणकारी वाणी जो बार-बार उभर कर चन्द बरदाई के कानों से टकरा जाया करती थी।

जब चन्द बरदाई जन-समाज में होते, उस समय अपनी अन्तर्भावनाओं एवं उभरती आध्यात्मिक तरंगों पर व्यावहारिकता की चादर ओढ़ लेते थे किन्तु एकान्त मिलते ही भावनाओं को खुल कर गगन-विहार का अवसर प्रदान कर देते

थे। जन-समाज उन के अन्तर् में चल रही उथल-पुथल से एकदम अनभिज्ञ था। वह इसे गुप्त धन की भांति संभाल कर रख रहे थे। संभवत: उन के आन्तरिक यात्रा पर तीव्र गति से बढ़ते कदमों का यह एक मुख्य कारण था। न वह अन्तर् अनुभवों को बाहर की हवा लगने देते तथा न जगत-विषयों को मन में प्रवेश ही करने देते थे। इसी तरह जीवन की गाड़ी आध्यात्मिकता की पटड़ी पर सरपट भागी जा रही थी।

चन्द बरदाई की चित्त की उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए महाराजश्री ने कहा, "संत-पुरुषों ने सदैव ही अपने चित्त-भावों तथा अन्तर्-अनुभूतियों को अन्दर ही अन्दर संभाल कर रखा है। उन की अभिव्यक्ति का मुख्य कारण जगत में प्रसिद्धि की लालसा है। महापुरुष इस लालसा के घातक परिणामों से पूर्णतया अवगत होते हैं। वह जानते हैं कि लोकेष्णा का भाव उभरते ही मन अध्यात्म की ओर से विमुख हो जाता है एवं जगत सामने आ कर खड़ा हो जाता है। साधक अध्यात्म के सुपथ को छोड़ कर वासना के दुर्गंधयुक्त कुपथ पर आरुढ़ हो जाता है। बीज को यदि बाहर की हवा लगने दी जाय तो वह सूखने लगता है। यदि उस को पृथ्वी में दबा कर रखा जाय तथा उस की सिंचाई की जाए तो वह अंकुरित-पल्लवित होकर, कालान्तर में विशाल वृक्ष के रूप में सुशोभित हो उठता है। अन्तर्भावरूपी बीज को भी सावधानी तथा साधन रूपी जल की सिंचाई से विशाल वृक्ष के रूप में विकसित किया जा सकता है।

महाराजश्री कहते जा रहे थे, "चन्द बरदाई में अभूतपूर्व परिवर्तन आता जा रहा था। मन पर किसी बात का प्रभाव क्षणिक ही होता था। संसारी लोग जैसे किसी काल्पनिक अथवा यथार्थ बात को पकड़ कर बैठे जाते हैं तो आजीवन नहीं छोड़ते। चन्द बरदाई की मानसिक स्थिति तीव्र गति से बदलती जा रही थी।

चन्द बरदाई राजा के घनिष्ट मित्र तथा राजकवि थे। जब कोई ऐसे पद पर आसीन होता है तो कई लोग उस से ईर्षा तथा द्वेष करने लगते हैं। उस के विरुद्ध चालें चलने लगते हैं। अनावश्यक टीका तथा अनर्गल प्रचार करते हैं। चन्द बरदाई को भी सब की कई कमज़ोरियां ज्ञात थीं। बातें बनाने के लिए उन के पास मसाले की कोई कमी नहीं थी। वह चाहते तो सब का मुंह बंद कर सकते थे किन्तु उन्हों ने कभी ऐसा नहीं किया। सब की कमज़ोरियों के प्रति उदासीन बने रहे। सब के साथ प्रेम का व्यवहार करते। विरोधियों को भी पूरा आदर देते थे।

तीसरा अन्तर यह आया कि बात कितनी भी ! कैसी भी उत्तेजनापूर्ण क्यों न हो किन्तु वह सुनते ही एक दम उत्तेजित नहीं हो जाते थे। पहले उसे शान्ति से सुनते, फिर विचार करते एवं तत्पश्चात् कोई निर्णय लेकर प्रतिक्रिया व्यक्त करते

थे। यह सब चित्त की स्थिर स्थिति के लक्षण हैं। इस से उन के व्यवहार में सौम्यता आ रही थी जिस से उन के विरोधी भी कम होते जा रहे थे। अनावश्यक समस्याओं में कमी हो रही थी।

चन्द बरदाई का समय कुशलतापूर्वक व्यवहार तथा निरन्तर साधन में व्यतीत हो रहा था। वे एक कवि थे किन्तु अब काव्य जल-प्रपात की भांति अन्तर् से स्वयमेव प्रस्फुटित होने लगा था। वह रचयिता के स्थान पर केवल श्रोता बन कर रह गए थे। न बुद्धि पर कोई ज़ोर, न मन से कोई कल्पना, केवल अन्तर में सुनना तथा लिखना। कई बार साधन में उन के समक्ष लिखी हुई कविता उपस्थित हो जाती थी।

महाराजश्री कहते-कहते थोड़ी देर के लिए ठहर गए थे। तब तक हम बातें करते चामुण्डा माता के मंदिर के समीप पहुंच चुके थे। प्रातःकाल का शीतल प्रकाश फैलता जा रहा था। मन्द-मन्द समीर में पता नहीं कहां से सुगंध का समावेश हो रहा था। मंदिर में भक्तों का आवागमन भी होने लगा था। अतः भगवती को प्रणाम करने के पश्चात् आज महाराजश्री मंदिर के सामने पत्थर पर नहीं बैठ पाए। थोड़ा आगे जा कर, शान्त स्थान देख कर बैठे। मैं ने उन के पास ही ज़मीन पर आसन जमा लिया।

महाराजश्री ने कहना आरंभ किया, "सर्वव्यापक होने के कारण, भगवती के लिए क्या दूर, क्या समीप। चाहे जहां उस की कार्यशीलता क्षण मात्र में प्रकट हो सकती है। दिल्ली तो क्या, सृष्टि में कहीं भी पलक झपकते ही अपनी विद्यमानता प्रदर्शित कर सकती है। चन्द बरदाई को भी कई बार ऐसा प्रतीत होता था कि टेकड़ी पर माता की गुफा में, भगवती के चरणों पर सिर रखे पड़े हैं। तब भाव विभोर हो कर उन के नेत्रों से अश्रुपात् होने लगता। एक दिन उन्हों ने महाराजा से निवेदन किया, "मेरी ऐसी इच्छा होती है कि मालवा की माताजी की टेकड़ी पर जा कर कुछ दिन रहूं। उस के लिए आप की अनुमति की आवश्यकता है"

महाराजा- हम ने तो सुना है कि भगवती सब जगह विद्यमान है। यहां भी है, फिर इतना कष्ट उठा कर मालवा जाने की क्या आवश्यकता है ?

चन्द बरदाई- यह बात उन के लिए ठीक है जिन्हें भगवती हर जगह दिखाई देती है। यह बात केवल कहने भर से सिद्ध नहीं हो जाती। भगवती सर्व व्यापक है पर कहीं दिखाई नहीं देती। कई स्थान ऐसे होते हैं जहां भगवती की सत्ता को अपेक्षाकृत कहीं सरलता से अनुभव किया जा सकता है। ऐसे ही स्थानों में से एक स्थान मालवा की माताजी की टेकड़ी है।

महाराजा- अच्छी बात है। आप जब चाहें जा सकते हैं।

चन्द बरदाई- एक निवेदन और है। मैं शाही ठाठ-बाठ तथा घोड़ा-पालकी

ले कर यात्रा नहीं करना चाहता। एक सामान्य यात्री की तरह, भिक्षा करते हुए, मां के दरबार में जाना चाहता हूं।

महाराजा- यह तो हमारे लिए अपमान की बात है। हमारा राजकवि सामान्य यात्रियों की तरह मांगता-खाता यात्रा करे। लोग क्या कहेंगे ?

चन्द बरदाई- यह आप के लिए अपमान की नहीं, सन्मान की बात है कि आप का राजकवि, सब सुविधाएं उपलब्ध होते हुए भी, सामान्य यात्री की भांति यात्रा कर रहा है। यह वैराग्य का एक उदाहरण होगा।

महाराजा ने कुछ विचार किया, फिर कहा, "जैसी आप की इच्छा"

इस प्रसंग का वर्णन करते हुए महाराजश्री की आंखे गीली हो गईं। "सर्वसुविधा संपन्न एक महाराजा का राज कवि, सामान्य यात्री की तरह, नंगे पांव, साधारण भिक्षुक की भांति भिक्षा करता हुआ, भगवती के दरबार में जाने के लिए यात्रा पर निकला था। कहां दिल्ली तथा कहां उज्जैन के पास माता जी की टेकड़ी।

महाराजश्री ने मुझ से पूछा, "ऐसी लगन, ऐसी उमंग, ऐसा वैराग्य तथा संयम क्या तुम ने किसी में देखा है ? सब बातें ही बनाते हैं। बातों के ही धनी हैं। अपने अन्तर में झांक कर कोई नहीं देखता।" मैं क्या कह सकता था। जीवन में ऐसा कोई उदाहरण देखने में आया होता तो कुछ कहता भी। अपने अन्तर् में देखा तो वहां भी शून्य ही दिखाई दिया। चुप रह गया।

महाराजश्री ने फिर कहां, "ऐसे ही तपस्वियों-प्रेमियों को कुछ मिल पाता है। अध्यात्म के क्षेत्र में ढोंग, दिखावा या दंभ नहीं चलता। चालाकियां, मक्कारियां किसी काम नहीं आतीं। धन, वैभव, कला या पाण्डित्य का कोई महत्त्व नहीं। वहां तो सरलता, नम्रता, तड़प, लगन तथा समर्पण ही काम आता है।

फिर कहां, "जिस रास्ते से चन्द बरदाई जा रहे थे उस क्षेत्र में आग की तरह बात फैल गई कि महाराजा पृथ्वी राज चौहान के राजकवि यात्रा करते हुए आ रहे हैं। चन्द बरदाई जहां पहुंचते, लोग उन के स्वागत के लिए तैयार मिलते। जहां ठहरते वहां भी सभी राजसी व्यवस्था हो जाती। चन्द बरदाई ने विचार किया, कि "यह तो बड़ी गड़बड़ हो गई। राजशाही का आश्रय कहां छूटा है ? सामान्य यात्री का रूप कहां निखरा है ? साधारण भिक्षुक की तरह भिक्षा कहां मांग पाता हूं ? इस के लिए मुझे अपना रास्ता बदलना होगा। ऐसे रास्ते से जाना होगा, जिस रास्ते से मुझे कोई पहचानता न हो। जहां मैं सामान्य यात्री की भांति विचरण कर सकूं "बस फिर क्या था, उन्हों ने अपना निश्चित रास्ता छोड़ दिया। कुछ लम्बा मार्ग ले लिया, जहां वे सर्वथा अपरिचित थे। जहां साधारण भिक्षुक की भांति किसी के भी द्वार पर

नारायण हरि पुकार सकते थे। किसी वृक्ष के नीचे रात बिता सकते थे तथा किसी नदी पर उन्मुक्त स्नान कर सकते थे।

नंगे पांव, दाढ़ी बढ़ी हुई, वस्त्र मैले, यात्रा की थकान, भोजन कभी मिला तो कभी उपवास। चन्द बरदाई ने मालवा की धरती पर पदार्पण किया। जब उन्हें दूर से टेकड़ी के दर्शन हुए तो उन का मन प्रसन्नता से नाच उठा। दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया। बोले, "मां! मैं चरणों में आ गया हूं। यह तुम्हारी कृपा ही है जो मुझे यहां खींच लाई है अन्यथा मुझ में भला ऐसी सामर्थ्य कहां ? चन्द बरदाई के शरीर में झनझनाहट हो उठी। प्राण मस्तक की ओर चढ़ने लगा। आंखे ऊपर की ओर तन गईं। वह वहीं आलती-पालती मार कर ध्यान में बैठ गए। जब ध्यान से उठे तो फिर टेकड़ी की और बढ़ने लगे। जैसे-जैसे बढ़ते जाते उत्सुकता भी बढ़ती जाती। जंगल के वृक्ष उन्हें परिचित से जान पड़ रहे थे। रास्ते जाने-पहचाने लग रहे थे। जब टेकड़ी के ऊपर पहुंचे, तो महात्मा जी को किसी शास्त्र का अध्ययन करते, कुटिया के बाहर पाया। चन्द बरदाई भागते हुए गए तथा महात्मा जी के चरणों पर गिर पड़े।

चन्द बरदाई का हुलिया एकदम बदला हुआ था, इस लिए उन्हें पहचानने में कठिनाई हुई। महात्मा जी बोले, "कौन हो भई! मेरे पहचानने में नहीं आ रहे।

चन्द बरदाई- मैं आप का सेवक हूं, चन्द बरदाई। महाराजा पृथ्वी राज चौहान के साथ आप के दर्शन कर चुका हूं।

इस पर महात्मा जी को सब स्मरण हो आया। कहने लगे, "किन्तु आप ने यह हुलिया क्या बना रखा है। इस तरह आप को कोई कैसे पहचान सकता है ? आप तो ऐसे दिखाई दे रहे है जैसे कोई भिक्षुक हो। कहां वह राजसी ठाठ और कहां ऐसी अवस्था ?

चन्द बरदाई- मैं भिक्षुक ही हूं महाराज। मां के द्वार का भिक्षुक। वैसे भी सारा संसार भिक्षुक ही है किन्तु अभिमान के कारण सम्पदा अपनत्व का भाव जाग उठता है। है तो सभी कुछ मां का ही। धन-सम्पदा की कृपा मां प्रारब्धानुसार करती ही है। कृपा करती है तो दे देती है, रुष्ट हो जाती है तो छीन लेती है। पर मां की वास्तविक कृपा बंधन-मुक्ति है। उसी कृपा के लिए मां से याचना है। जब उस की कृपा होगी, भिक्षा मिल जायगी।

महात्माजी- यह आप ने ठीक कहा कि वैसे तो सारा संसार ही भिक्षुक है, पर जिसे अपने भिक्षुक होने का ज्ञान है, वही भिक्षुक है। अन्यथा जगत में तो प्रायः जीव, कुछ भी पास नहीं होते हुए भी, दाता बने घूमते हैं। भिक्षुक होने का ज्ञान, आत्म-ज्ञान की पहली सीढ़ी है।

चन्द बरदाई को इस समय अधिक बातों में उलझनेका मन नहीं था क्योंकि

उन का ध्यान माता जी की गुफा की ओर लगा था। उन्हों ने महात्माजी से अनुमति ली तथा गुफा की ओर बढ़ चले। गुफा में माता जी की प्रतिमा उन्हें चमकती दिखाई दी। आंखों से वात्सल्य भाव प्रकट हो रहा था। चेहरा अलौकिक तेज लिए था तथा भगवती पांव में पड़े असुर को मसले जा रही थी। चन्द बरदाई ने जब यह छवि देखी तो तत्काल भाव-समाधि लग गई। बाह्य-ज्ञान पूरी तरह शून्य था। इस समय चन्द बरदाई एक छोटे बालक की तरह लग रहे थे जो अपनी मां की गोद में, सब ओर से निश्चिन्त पड़ा था। उन्हें यह भी होश नहीं रहा कि इस अवस्था में पड़े कितना समय निकल गया। जब उठे तो मां को प्रणाम कर के महात्माजी के पास जा बैठे।

चन्द बरदाई- यहां से जाने के पश्चात् मेरा ध्यान इधर ही लगा रहा। कई बार प्रयत्न भी किया किन्तु सांसारिक उत्तरदायित्वों में ऐसा उलझा रहा कि इधर आ न सका। अब अवसर मिला है तो मां के चरणों में उपस्थित हो गया हूं। मेरा विचार मां तथा आप के सानिध्य में एकाध महीना रहने का है।

महात्मा जी- किन्तु तुम्हारी दशा देख कर ऐसा अनुमान होता है कि न कोई तुम्हारे साथ है तथा न कुछ पास है। कहां रहोगे और क्या खाओगे ?

चन्द बरदाई- मैं ने निवेदन किया न, कि मैं भिक्षुक बन कर आया हूं। मां के द्वार के अतिरिक्त कौन सा आश्रय हो सकता है। जब मां का साथ प्राप्त है तो और किसी के साथ होने की क्या आवश्यकता है ? बाकी रही बात खाने की, तो आप भी खाते हैं। मैं भी फल-फलाहार तथा कन्दमूल ग्रहण कर समय व्यतीत कर लूंगा तथा मां के चरणों में पड़ा रहूंगा।

महात्माजी सोच में डूब गए, "इसे कहते हैं लगन ! राजसी जीवन-यापन करने वाला आज याचक बन कर आया है। सामान्य व्यक्तियों की तरह कहीं भी पड़े रहने को तैयार, तथा तपस्वियों की भांति जंगली फलों का आहार करने को उद्यत। इस लड़के के हृदय का अनुराग तथा मन का वैराग्य देख कर हमारा सिर शर्म से झुक जाता है। यह अवश्य ही एक दिन अध्यात्म-मण्डल में सितारा बन कर चमकेगा।"

फिर महात्माजी ने चन्द बरदाई से कहा, "यदि तुम्हारी ऐसी तैयारी है तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है किन्तु फिर भी रहने के लिए एक अच्छी-बुरी कुटिया की आवश्यकता तो है ही। हमारे सभी साधक मिल कर तुम्हारे लिए एक कुटिया बना देंगे।"

माता जी की गुफा के थोड़ी ही दूर कुटिया एक दिन में बन कर तैयार हो गई। जंगल से बल्लियां काट ली गई तथा पत्तों से उसे ढक दिया गया। यह राज कवि का विश्रामगृह था। उसे साधुओं की तरह रहते देख कर महात्मा जी की आंखों में आंसु आ गए। किन्तु क्या महल, क्या झौंपड़ी, मन का ही सारा खेल है। जब मन

संतुष्ट है तो झौंपड़ी महल से भी बढ़ कर है। इस लड़के के समीप महल तथा झौंपड़ी में कोई अन्तर नहीं। यहां भी यह कितना मज़े में है ?

चन्द बरदाई अपनी कुटिया में पत्तों के बिस्तर पर लेटे थे। तकिए के स्थान पर एक पत्थर रखा था। कुटिया की दीवारें भी पत्तों की ही थीं जिस में से हवा को आने के लिए कोई रोक नहीं थी। रात को अंधकार को भगाने के लिए दीपक की कोई व्यवस्था नहीं थी। चन्द बरदाई को खाने के लिए मिट्‌टी का एक पात्र दे दिया गया था। वही पात्र पानी पीने के भी काम आता था किन्तु इस वैराग्य-मूलक व्यवस्था से चन्द बरदाई को अत्यन्त संतोष था। उस ने विचार किया, "इस झौंपड़ी में महल से अधिक आनन्द है। लौट कर मैं अपने महल के बगीचे में एक तरफ ऐसी ही कुटिया बना कर रहूंगा। और सचमुच लौट कर उस ने महल में एक कुटिया बना ली। चन्द बरदाई का अधिकांश समय साधन में ही व्यतीत होता था। प्रातः काल वह जंगल में जाते। अपने खाने के लिए फल तथा भगवती के पूजन के लिए कुछ फूल लाते। पूजन के पश्चात् भगवती के सामने दो- एक भजन गाते। बाकी सारा समय ध्यान में ही जाता था।

एक दिन अपनी कुटिया में बैठे थे कि अधर में से एक महापुरुष प्रकट हो गए। यह वही महापुरुष थे जो दिल्ली जाते समय रास्ते में मिले थे। वही लम्बा चोगा तथा हाथ में कमण्डल। बोले, "तुम्हारे आने का पता चला तो मिलने चला आया। कैसा क्या चल रहा है ?"

चन्द बरदाई- आप की कृपा है। मां का आर्शीवाद है।

महापुरुष- आज हम आप को कुछ उपदेश देने के लिए प्रकट हुए हैं। साधन में निरन्तरता, धैर्य तथा समर्पण तीन ऐसे सशक्त स्तंभ हैं जिन पर सफलता का विशाल भवन उभरता है। इन में से किसी एक का भी अभाव या कमी, बाकी दोनों स्तंभों को व्यर्थ कर देती है। हमारी वर्तमान स्थिति में इन्हीं तीनों बिन्दुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैसे तो तुम्हारा साधन सुंदर रीति से चलता है किन्तु कई बार इन तीनों बातों में से किसी एक में शिथिलता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। तुम्हारी निरन्तरता प्रायः बनी रहती है किन्तु धैर्य तथा समर्पण में कई बार कुछ कमी देखने में आती है। केवल साधन की निरन्तरता ही प्रर्याप्त नहीं है, धैर्य तथा समर्पण का भाव भी निरन्तर बनाय रखना चाहिए। इस विषय में तुम्हें सतर्क रहने की आवश्यकता है।

चन्द बरदाई मौन हो कर सुनते रहे। उन के लिए यह आत्म-मंथन का अवसर था। आत्म-मंथन तो वे करेंगे ही, किन्तु इस समय महापुरुष सामने खड़े थे। उन्हों ने कहां, "महाराज ! आप की बड़ी कृपा है जो आप ने उचित समय पर,

उचित मार्ग-दर्शन दे कर मुझे कृतार्थ किया। मैं अवश्य ही आत्म-विश्लेषण करता रहूंगा। जहां कमी दिखाई देगी उसे दूर करने का प्रयत्न करता रहूंगा।

महापुरुष- आत्म-मंथन करते रहना साधन का एक महत्त्व-पूर्ण अंग है। आवेश में जोश होता है, जिस में साधक होश खो देता है। आत्म-मंथन जोश में होश का समावेश करता है। आत्म-मंथन वह लगाम है जो जोश रूपी घोड़ों को होश में रखती है। भटकते या बिदकने नहीं देती। आत्म-मंथन जहाज़ में लंगर के समान है जो विकट तूफान में भी जहाज़ को संभाले रखता है। आत्म-मंथन करते रहने से मन की यथार्थ स्थिति तुम्हारे समक्ष प्रकट होती रहेगी। जहां तुम्हारे साधन का कोई भी अंग शिथिल होने लगेगा, वहीं सावधान हो जाओगे।

चन्द बरदाई ने दोनों हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "महाराज! कई बार,कई-कई दिन साधन का ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि उस में आत्म-मंथन संभव नहीं हो पाता।

महापुरुष- ऐसी अवस्था में आत्म-मंथन की कोई आवश्यकता भी नहीं क्योंकि साधन के सभी अंग अपने जोबन पर होते हैं। साधक तीव्र गति से साधन की सीढ़ियां चढ़ रहा होता है। इस लिए ऐसे अवसर की चिन्ता मत करो। मैं फिर तुम्हें मिलने का प्रयत्न करुंगा।

इतना कह कर महापुरुष अन्तर्धान हो गए। चन्द बरदाई देर तक महापुरुष के उपदेश पर विचार करते रहे, फिर उठ कर माताजी की गुफा की ओर चल दिए, "माता! तू ही मुझे संभाल सकती है। मैं तो तेरा नादान शिशु हूं। अच्छा-बुरा कुछ सूझता नहीं। मैं तेरी एक शरण ही जानता हूं।"

चन्द बरदाई का ध्यान लग गया तो ध्यान में माता प्रकट हुई। बोली, "महापुरुष ने जो कुछ भी कहा सब ठीक है किन्तु आत्म-मंथन भी मैं करती हूं। तुम्हारा आत्म-मंथन भी मेरी ही क्रिया है। यदि तुम स्वयं आत्म-मंथन करोगे तो अभिमान पैदा हो सकता है। यदि वह मेरी क्रिया होगी तो अभिमान की संभावना नहीं। वही आत्म-मंथन यथार्थ है जो क्रियारूप हो।"

सायंकाल को महापुरुष चन्द बरदाई के समक्ष पुनः प्रकट हुए। बोले, "मां ने तुम्हें आत्म-मंथन के विषय में जो कहा, वह मेरे सामने प्रकट हो कर मुझे भी बतलाया। अभिमानयुक्त आत्म-मंथन तथा क्रियारूप आत्म-मंथन का अन्तर मेरी दृष्टि से ओझल हो गया था जिस से इस संबंध में बात नहीं हो पाई। माता ने मेरी तथा तुम्हारी दोनों की भ्रान्ति मिटा दी।

इस विषय ने मेरे अन्तर में भी मंथन की प्रक्रिया आरंभ कर दी। मेरा ध्यान भी अभी तक अभिमानयुक्त आत्म-मंथन तथा क्रियारूप आत्म-मंथन के स्वरूप

तथा अन्तर पर नहीं गया था। मैं एक ही प्रकार का आत्म-मंथन समझता आया था तथा उसे ही साधकों के लिए आवश्यक समझता आ रहा था। आत्म-मंथन में भी अभिमान बल ग्रहण कर सकता है, इस विचार ने मेरे अन्तर् में खलबली पैदा कर दी थी। फिर क्रियारूप आत्म-मंथन का स्वरूप मेरी समझ में नहीं आ रहा था। इस विषय में महाराजश्री से चर्चा की तो उन्हों ने कहा, "क्रियारूप आत्म-मंथन शक्ति की अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया है, जिसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है। जिस प्रकार अन्य क्रियाओं का साधन में अवलोकन करता है, इसी प्रकार इस क्रिया को भी अन्तर् में घटित होते अनुभव करता है। अपने आप विषय उभरते रहते हैं तथा मंथन क्रिया चलती रहती है। अभिमान युक्त आत्म-मंथन के संस्कार भी चित्त में संचित होते हैं जो आत्म-मंथन क्रिया के लिए आधार हैं। जब साधक पूरी तरह शक्ति के प्रति समर्पित हो जाता है तो आत्म-मंथन का भार भी शक्ति को सौंप देता है।

महाराजश्री के इन विचारों को हृदय में धारण कर के, मैं साधन-गुफा में जा बैठा। आत्म-मंथन का कोई विचार उस समय मेरे अन्तर् में नहीं था। मन एक दम सभी विचारों से रिक्त था। पहले कुछ क्रियाएं होती रहीं। फिर वह अवसर उदय हुआ जो इस समय मेरी दुविधा बन रहा था। आत्म-मंथन की क्रिया प्रकट होने लगी। अपने आप विषय उभर रहे थे, तथा अपने आप उन पर विचार की क्रिया चल रही थी तथा अपने आप ही उस पर निर्णय हो रहे थे। मैं बीच में केवल एक दर्शक बने बैठा था। इस सारी क्रियाओं से मैं एकदम पृथक् था, केवल साक्षी। महाराजश्री जब भी इस प्रकार की कोई बात कहा करते थे तो मैं साधन में उस का अनुभव ले लिया करता था। मुझे याद है कि महाराजश्री ने दीक्षा-विज्ञान के बारे में कई कुछ कहा था तो मैं ने इसी प्रकार उन का अनुभव लिया था। अब क्रियारूप आत्म-मंथन का विषय स्पष्ट हो गया था।

महाराजश्री भोजन के उपरान्त थोड़ा विश्राम कर के, अपने कमरे में अकेले बैठे थे। मैं बाहर वराण्डे में बैठा कुछ पढ़ रहा था कि इतने में मुझे आवाज़ दे कर बुलाया। पूछा, "चन्द बरदाई की कथा का तुम पर क्या प्रभाव पड़ा है ?" मैं इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं था फिर भी कुछ विचार कर कहा, "चन्द बरदाई की कथा से मैं ने यह निश्कर्ष निकाला है कि हम जैसे लोग अभी कहीं भी नहीं ठहरते। न लगन में, न साधन में, न धैर्य में तथा न समर्पण में। हमें अभी बहुत कुछ बनने-बदलने की आवश्यकता है। उन के जैसा त्याग क्या हम से संभव है ? हम लोग तो अभी तक ज़बानी जमा-खर्च में ही लगे हैं।"

महाराजश्री- ठीक कहा तुमने। संतो के चरित्र पढ़ने का यही लाभ है कि साधन के यथार्थ स्वरूप की कुछ झलक मिल जाती है। कई ऐसे अवसर आए जब

संत अपमान के कड़वे घूंट पी कर रह गए किन्तु चेहरे पर शिकन तक नहीं आने दी। हम ऐसे अवसरों पर उत्तेजित हो जाते हैं। अपनी सुविधाओं की व्यवस्था में तनिक सी अव्यवस्था भी सहन नहीं कर पाते। अभिमान का यह हाल है कि हमारा सारा जीवन ही अस्वाभाविक है किन्तु बातें बड़ी ऊंची करते हैं।

संतो ने साधन-शिखर पर वास किया। आत्म-स्थिति ही साधन-शिखर है। जो अन्तर में ऊंचा उठा है, वह जगत में कितना भी नीचा हो कर शिखर पर स्थित है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर में जो जितनी ऊंचाई पर है, बाहर उतना ही झुका हुआ है। किन्तु यह सच्चाई सामान्य जीवों की समझ में नहीं आती। वह जगत में ही अकड़ कर रहने के अभ्यस्त हो चुके हैं। धन-वैभव के पीछे पागल हैं परिणाम यह है कि अन्तर् में आनन्द का सागर लबालब भरा है किन्तु वह दुखमय जीवन बिता रहे हैं। मैं ने कहा "सुनने में यह बातों कानों को अच्छी लगती हैं पर पता नहीं क्या हो जाता है ? व्यवहार में उतरते ही सब भूल जाते हैं। जगत सामने आते ही जगत के रंग में रंगे जाते हैं। अध्यात्म एक ओर रखा रह जाता है। नियम-संयम सब हवा हो जाते हैं।"

महाराजश्री- पर चन्द बरदाई का वृत्तान्त मन को झकझोर तो देता है। जीव को पुकार कर कहता है कि अब जाग जा। बहुत सो लिया। बहुत दुख भोग लिए। कुपथ पर बहुत भटक लिया। अब सुपथ पर आने का समय है। किन्तु कोई सुनने को तैयार हो, तब न।

कुछ देर इस प्रकार की चर्चा चलती रही। तब कुछ भक्त लोग आ गए थे। चर्चा का विषय बदल गया था। मैं भी उठ कर अपने कमरे में चला गया, चन्द बरदाई पर विचार करने के लिए।

महाराजश्री महापुरुषों के बारे में चर्चा या तो प्रातः भ्रमण के समय करते थे या जब दूसरा कोई नहीं बैठा हो। ऐसा लगता है कि वे ऐसी बातें किसी के सामने नहीं करना चाहते थे। उन्हें कोई पूछ सकता था कि किसी पुस्तक में ऐसा उल्लेख पढ़ने को नहीं मिला, फिर किस आधार पर यह सब कह रहे हैं ? वह इस बात को उजागर नहीं करना चाहते थे कि उन्हें कुछ अनुभव होता है, कुछ दिखाई देता है। सामान्य जनों के लिए ऐसी बातों पर विश्वास कर पाना कठिन होता है। फिर अनावश्यक वाद-विवाद होने लगता है। महाराजश्री को इस झंझट में उलझने की क्या आवश्यकता थी ?

अगले दिन हम प्रातः भ्रमण के लिए रेल्वे स्टेशन की ओर गए थे। कोई पांच बजे के लगभग हम आश्रम से निकल गए थे। अभी तक अंधेरा था तथा सड़क की

बत्तियां भी जल रहीं थीं। सड़क ऐसे दिखाई दे रही थी जैसे कोई चादर तान कर सोया हो। कुछ दूध वाले सायकलों पर दूध के कण्टेनर लादे हमारे पास से निकल गए थे। अन्य कोई भी दिखाई नहीं दिया।

महाराजश्री ने चन्द बरदाई का वृत्तान्त आगे बढ़ाते हुए कहना आरंभ किया, "चन्द बरदाई को योग के इस स्तर पर पहुंचने के पीछे कई जन्मों की सतत् साधना कारण थी। वह कई बार गिर कर उठे थे। धैर्य की परिपक्व अवस्था प्राप्त करने के लिए उन्हों ने अनेकों जन्म खपा दिए थे। संचित कर्मों को मिटाने के लिए वह क्रियाशक्ति की क्रियाशीलता पर दृष्टि गड़ाए थे। समर्पण को समझ पाने के लिए उन्हें युगों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। तब कहीं इस जन्म में वह इस स्थान पर पहुंच पाए थे।

माताजी की टेकड़ी पर जितने साधक रहते थे, सायंकाल के समय सब इक्ट्ठे हो जाते थे तथा महात्मा जी के साथ सतसंग किया करते थे। चन्द बरदाई उस समय भी ध्यान में बैठे रहते। दूसरे साधकों में इस बात को ले कर काफी रोष था। एक दिन जब सतसंग के लिए महात्माजी के सामने बैठे थे तो एक साधक ने कहा, "महाराज! इस स्थान का नियम है कि सब लोग सायंकालीन सतसंग में सम्मिलित हुआ करें किन्तु चन्द बरदाई एक भी दिन सतसंग में नहीं आए। इस प्रकार उन्हों ने न केवल यहां का अनुशासन भंग किया है अपितु सतसंग तथा आप का भी अपमान किया है। उसे या तो सतसंग में आने के लिए कहा जाए अथवा यहां से चले जाने के लिए कह दिया जाय"

महात्माजी प्रवचन-सदृश्य यह प्रश्न सुनते रहे, फिर कहने लगे, "मुझे इस बात का खेद है कि आप लोग चन्द बरदाई की आन्तरिक अवस्था को नहीं जान पाए। वह जो कुछ करते हैं वही वास्तविक सतसंग है। आप का सतसंग तो सतसंग है ही नहीं क्योंकि इस में सत् के साथ संग नहीं होता, केवल सत् के विषय में चर्चा होती है। यह बाह्य सतसंग है। सत् के साथ संग से रहित संग है। किन्तु चन्द बरदाई की अवस्था में सत् के साथ संग है उन का लक्ष्य सत् पर है, उन का संग सत् से है, उन की क्रिया तथा वाणी में सत् है। उन्हों ने असत् को सत् में विलीन कर दिया है। वैसा सत्संग आप लोगों को अभी तक स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं। आप की तथा चन्द बरदाई की कोई तुलना नहीं हो सकती।

यह सुन कर सभी साधकों के चेहरे उतर गए। महात्माजी ने आगे कहना आरंभ किया, "आप लोगों को अपने सत्संगी होने का मिथ्या अभिमान है जबकि चन्द बरदाई यथार्थ में सत्संगी होते हुए भी अभिमान से बहुत दूर है। उस का सत्संग स्वाभाविक है, स्वयमेव घटित होता रहता है। उस के सत्संग की अभी

आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

चन्द बरदाई की स्थिति पर तनिक विचार करो। वे राजकवि हैं। राजसी रहन-सहन है, नौकर-चाकर हैं, सब प्रकार की सुविधा उपलब्ध है। खाने के लिए एक से बढ़िया एक पकवान हैं। किन्तु सब का मोह त्याग कर कैसे दिन काट रहे हैं। आन्तरिक सत्य की अनुभूति के बिना यह त्याग संभव नहीं। आप लोग चन्द बरदाई के बारे में ऐसी-वैसी बात न सोचें, न करें।

एक साधक- हम लोग अपनी भूल स्वीकार करते हैं तथा उस के लिए क्षमा प्रार्थी हैं। हम लोग चन्द बरदाई को समझ नहीं पाए।

महात्माजी- साधक का कर्तव्य है कि अपनी भूल ज्ञात होने पर तत्काल निस्संकोच क्षमा मांग ले। आप ने साधक धर्म का ही निर्वाह किया है।

मैं ने कहा, "एक सच्चे साधक को कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। संसारी लोग उस के मार्ग की बाधा बनते ही हैं, किन्तु अपने आप को साधक समझने-मानने वाले उसे अधिक परेशान करते हैं। ऐसा हर सच्चे साधक का अनुभव है। यह तो महात्मा जी ने उन्हें बचा लिया अन्यथा साधकों ने तो उन के लिए जाल बुन ही दिया था।

महाराजश्री- चन्द बरदाई जब दिल्ली से चले थे तो भिक्षा मांगते-खाते यहां तक पहुंचे थे। उस बीच उन्हें क्या कुछ नहीं सहन करना पड़ा होगा ? कितनी जगह अपमानित होना पड़ा होगा। लोगों को क्या पता कि उन के द्वार पर भिक्षा मांगने वाला राजकवि है। कई लोग उन्हें पेट-भरू भिक्षक समझते होंगे तथा कई प्रकार की टिप्पणियां सुनने को मिलती होंगी। किन्तु चन्द बरदाई मां का सहारा लिए सब सहन करते रहे। भिक्षा उन के साधन का अंग थी। उन की तपस्या थी। मन तथा वासना को तपाने का उपाय थी। बस मां का स्मरण करते तथा सब सहन करते बढ़ते रहे।

चन्द बरदाई यहां आते समय महाराजा को एक महीना ठहरने के लिए कह आए थे, तथा अब एक महीना होने को आ गया था। उन्हें दिल्ली का जीवन, चाहे वह कितना भी राजसी था, नीरस, सारहीन तथा आडम्बरपूर्ण प्रतीत हो रहा था। नौकरो-चाकरों से भरे महल में एक कैदी की तरह जीवन व्यतीत करना, शाही अदव-आदाब के अनुसार शाही पोशाक पहनकर दरबार में जाना, राजा के गुणगान में कवित्व करना, उन्हें यह सब दिखावा दिखाई देने लगा था, किन्तु महाराजा के प्रति अपार अपनत्व का भाव उन्हें दिल्ली लौटने के लिए विवश कर रहा था। अपनत्व का यह भाव मोह की सीमा तक विकसित हो रहा था तथा मोह सभी बंधनों

का मूल कारण है। चन्द बरदाई सर्व सुखों का त्याग करने के लिए तैयार थे किन्तु महाराजा के प्रति मोह के बंधन से अपने आप को मुक्त नहीं कर पा रहे थे। उन का ह्रदय माता के चरणों में साधनमय जीवन के लिए लालायित था तो मन दिल्ली के विलासता पूर्ण किन्तु दंभमय वातावरण में लौट चलने के लिए विवश हो रहा था। अन्तत: मोह की विजय हुई। चन्द बरदाई ने अपना झोला उठा लिया तथा विदा होने के लिए माता की गुफा में चले गए। उस समय उन की आखों में आसुओं की झड़ी लगी थी। अन्तर के भाव उमड़ते हुए आखों के माध्यम से बाहर निकले आ रहे थे। शरीर में कम्पन तथा पावों में लड़खड़ाहट थी। माता के सामने जा कर वह गिर गए एवं गिड़गिड़ा कर कहने लगे, "मां ! एक ओर तुम्हारा प्रेम है तो दूसरी ओर राजा का मोह। न प्रेम का त्याग हो रहा है तथा न मोह से निवृत्ति प्राप्त हो रही है। अत: तुम्हारे प्रेम को हृदय में धारण कर मोह रूपी कर्तव्य की ओर लौट रहा हूं। मां ! हृदय में तुम्हारे प्रेम का इसी प्रकार वास बना रहे, यही विनती है।" चन्द बरदाई ने जल्दी से झोला कंधे पर लिया तथा बाहर निकल गए।

अब तक हम खाली पड़े रेल्वे प्लेट फार्म पर पहुंच चुके थे। वहां का शान्त एकान्त वातावरण जैसे हमारे स्वागत के लिए आतुर था। हम एक ओर एक बैंच पर जा बैठे। मैं ने कहां, यह तो जगत के प्रत्येक प्राणी के चित्त की अवस्था का चित्रण है। सब के अन्तर में अध्यात्म तथा संसार का परस्पर द्वन्द्व चला ही करता है। अध्यात्म भगवान के प्रति प्रेम का प्रतीक है तो संसार मन में मोह प्रचण्ड तूफ़ान का कारण। यदि चन्द बरदाई जैसे उत्कृष्ट एवं परिपक्व योगी ने भी मोह के सामने घुटने टेक दिए तो सामान्यजनों की क्या मनो दशा हो सकती है ? इस का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।"

महाराजश्री- हां, इस समय चन्द बरदाई संसार में मोह का ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। प्रेम तथा मोह का अन्तर्द्वन्द्व अनादि काल से चला आ रहा है। इस संघर्ष में ऊपर-नीचे होता रहता है, किन्तु संघर्ष निरन्तर चला ही करता है। प्राय: मोह का ही पलड़ा भारी रहता है। किन्तु चन्द बरदाई में मोह का आक्रमण भिन्न प्रकार का था। मोह को उखाड़ फैंकने के लिये था क्योंकि यह आक्रमण भी भगवती की एक लीला थी, शक्ति की एक क्रिया थी, चित्त् शुद्धि का एक क्रम था। मोह का जो संस्कार उभरा था, वह क्षीण हो जाने वाला था।

महाराजा पृथ्वी राज चन्द बरदाई को लौट आया देख कर अतीव प्रसन्न हुए। किन्तु उन की भिक्षुकों जैसी अवस्था देख कर महाराजा का मन पसीज उठा। एक राजकवि की भी ऐसी वैराग्यवान दयनीय अवस्था हो सकती है, इस की राजा को कल्पना नहीं थी। वे कभी चन्द बरदाई की बढ़ी दाढ़ी देखते, कभी उस के मैले

वस्त्रों को निहारते तो कभी उन के छिले पांव पर दृष्टि डालते। महाराजा ने पूछा, "चन्द बरदाई ! तुम आनन्द में तो हो ? चन्दबरदाई, "आनन्द क्या है ? यह अभी जान पाया हूं। ठाठबाठमय जीवन का कृत्रिम आनन्द जीव को यथार्थ आनन्द से कितनी दूर ले जाता है, यह अभी ज्ञात हुआ। जो सुख माता जी की टेकड़ी पर, पत्तों की कुटिया में अनुभव हुआ, वह यहां के सर्व सुविधा संपन्न महलों में नहीं। जो संतोष भिक्षा के रूखे-सूखे अन्न में प्रतीत हुआ, वह यहां सुस्वादु पकवानों में नहीं। जो तृप्ति साधन की निरन्तरता में देखने को मिली वह सेवकों को आदेश देने में नहीं।

महाराजा बड़े विस्मय से चन्द बरदाई की बातें सुन रहे थे। उन का मन हुआ कि वह भी उस आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करें जिस का वर्णन चन्द बरदाई कर रहे हैं किन्तु तत्काल राज्य, सत्ता, लौकिक आनन्द का मोह मन में तरंगित हो उठा तथा उस ने यथार्थ आनन्द के सभी सपने चकना चूर कर दिए।

उन दिनों भारत पर महम्मद गौरी के आक्रमण आरंभ हो चुके थे। यह बात बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की है। पृथ्वी राज बड़े धीर, वीर, गंभीर, युद्धकला में अत्यन्त कुशल राजा थे। अनेकों युद्धों में वीरता का प्रदर्शन कर चुके थे। भारत भर में उन की वीरता की धाक थी। उन्हों ने राजस्थान के कुछ राजपूत राजाओं की सहायता ले ली तथा दिल्ली से लगभग सौ किलो मीटर दूर उत्तर में मोहम्मद गौरी की बढ़ती बाढ़ को जा रोका। घमासान युद्ध हुआ जिस में मोहम्मद गौरी की पराजय हुई। उसे बन्दी बना पृथ्वी राज के समक्ष उपस्थित किया गया। मोहम्मद गौरी ने क्षमा मांगी तथा पृथ्वी राज को अपना मित्र कहा। इस पर पृथ्वी राज ने प्रसन्न होकर मोहम्मद गौरी को क्षमादान दे दिया तथा उसे मित्र कह कर गले लगाया। मोहम्मद गौरी लौट गया।

दिल्ली में विजयोत्सव मनाया जा रहा था। नाच-गाने की महफिलें जमीं थी, शराब के जाम उंडेले जा रहे थे, आतिशबाज़ी ने रात के अंधेरे को चीरते हुए आकाश प्रकाशित कर रखा था। बाज़ारों में चहल-पहल थी किन्तु ऐसे उल्लासमय वातावरण में भी चन्द बरदाई अपने महल में बनी फूस की कुटिया में एक चटाई पर गुमसुम बैठे थे। भगवती ने उन्हें पृथ्वी राज का भविष्य स्पष्ट दिखा दिया था। यह विजयोत्सव उन्हें एक अस्थाई तरंग के समान प्रतीत हो रहा था। यह विजय भावी पराजय की सूचक थी। यह विजय आवरण से ढकी पराजय थी। मनुष्य की सोच कितनी सीमित है। जो सामने है, वह उसे ही देख पाता है। जो कल होने वाला है, वह उस की दृष्टि से ओझल रहता है। मोहम्मद गौरी को दिया गया क्षमादान चन्द बरदाई को शूल की तरह चुभ रहा था किन्तु महाराजा भी क्या कर सकते थे ? भावी

उन्हें ऐसा करने पर विवश कर रही थी। महाराजा स्वयं ही अपनी मौत का समान तैयार कर रहे थे जब बुरा समय आने को होता है तो बुद्धि पहले ही कुण्ठित होने लगती है। बुरे समय के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण, मनुष्य अपने हाथों करने लगता है। चन्द बरदाई के सामने भविष्य घूमता दिखाई दे रहा था किन्तु वर्तमान में रंग में भंग डालना उचित न समझ कर चुप रहे।

चन्द बरदाई अब अधिकतर अपनी कुटिया में ध्यानस्थ रहने लगे। वह मां से कहते, "तेरे रंग न्यारे हैं। संसार तुझे तथा तेरी लीला को क्या जान सकता है ? अपने शत्रु को मित्र समझ कर महाराजा को मोहम्मद गौरी के गले लगवा दिया।। उस समय महाराजा विष को अमृत मान कर पान कर रहे थे। मोहम्मद गौरी के रूप में मौत को गले लगा रहे थे। स्वयं ही अपने लिए कफन तैयार कर रहे थे। किन्तु हे मां ! तू तो अपने बालकों का मंगल ही चाहती है। तेरे अभिशाप में भी तेरा वरदान निहित है। तू तो जानती है कि महाराजा का मंगल कैसे होने वाला है।

चन्द बरदाई की महल वाली कुटिया में टेकड़ी वाली कुटिया से बहुत कुछ साम्यता थी किन्तु पत्तों की जगह फूस था। पत्तों के आसन के स्थान पर चटाई थी। कुछ सामान नहीं था। केवल चन्द बरदाई, तथा चन्द बरदाई के हृदय में माता। चन्द बरदाई कुटिया में तथा माता चन्द बरदाई की शरीर रूपी कुटिया में।

काल पंख लगा कर उड़ता रहा। समय व्यतीत होते क्या देर लगती है। एक वर्ष के पश्चात् ही मोहम्मद गौरी फिर आ धमका, अधिक शक्तिशाली हो कर। उधर हिन्दु राजाओं का ताल-मेल नहीं बन पाया। कन्नौज के जयचन्द दूर खड़े तमाशा देखते रहे। भीषण युद्ध हुआ, पृथ्वी राज परास्त हो गए। उन्हें बंदी बना कर मोहम्मद गौरी के सामने लाया गया तो पृथ्वी राज ने मित्रता का वास्ता दिया। मोहम्मद गौरी ने हंस कर कहा, "क्या शत्रुओं में मित्रता संभव हो सकती है ?" पृथ्वी राज ने कहा, "मैं ने आप को क्षमा दान दिया था" मोहम्मद गौरी बोला, "किन्तु मैं वह भूल नहीं करूंगा" पृथ्वी राज को कारागार में डाल दिया गया। उन की आंखें निकाल ली गईं। यातनाएं दे कर निर्दयतापूर्वक उन का वध कर दिया गया।

चन्द बरदाई अपनी कुटिया में बैठे सब सुनते रहे। सिर पटकते रहे। आखों से अश्रु बहते रहे किन्तु होनी को कौन टाल सकता है। जब मन कुछ शान्त हुआ तो सोचने लगे, "मेरे दुख का कारण महाराजा का पराभव नहीं, अपितु उन के प्रति मेरा मोह है। मैं ने महाराजा को अपने जीवन का अभिन्न अंग मान लिया था। दिन-रात उन्हीं की चिन्ता किया करता था। अब जब वियोग हो रहा है तो कष्ट हो रहा

है। यह दुख इस बात से और भी बढ़ गया है कि महाराजा का अन्त इस प्रकार निर्दयता पूर्वक हुआ। किन्तु यह कष्ट उन्हीं को हुआ है जिन्हें महाराजा से मोह था। उन्हें तो नहीं हुआ, जिन्हों ने उन्हें मारा है क्योंकि उन्हें मोह नहीं था। जितना मोह अधिक, उतना कष्ट भी अधिक। अब मोह त्याग कर भगवती का भजन करो, यही उपाय है।

चन्द बरदाई ने कह तो दिया कि अब मोह त्याग कर भजन करो, किन्तु मन इतनी जल्दी कहां मानने वाला है। चन्द बरदाई का मन विक्षिप्त बना ही रहा। अन्ततः उन्हों ने माताजी की टेकड़ी पर जाने का निश्चय किया। पहले की तरह साधारण भिक्षुक की भांति उन्होंने मालवा की ओर प्रस्थान किया। अब की बार उन्हें राज-कवि होने के कारण होने वाले अनुभवों ने नहीं सताया क्योंकि अब यह राज-कवि थे ही नहीं। मांगते-खाते जब माताजी की टेकड़ी के नीचे पहुंचे तो उन्हें वह समय याद आ गया जब वह महाराजा पृथ्वी राज के साथ यहां आए थे। अब महाराजा इतिहास की वस्तु बन कर रह गए थे। फिर विचार आया कि संसार में ऐसा कौन हुआ है जो यहां आ कर, यहां से गया न हो। भविष्य की ओर से एक प्रवाह चला आ रहा है, जो वर्तमान में कई प्रकार के दृश्य तथा जीव उपस्थित करता तथा अतीत में विलीन हो जाता है। यही क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अनन्त काल तक चलता रहेगा। हम कौन से यहां सदैव के लिए बने रहने वाले हैं।

उन्हों ने टेकड़ी की चढ़ाई चढ़ना आरंभ किया। अब की बार कुछ बदला हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। वास्तव में यह बदलाव टेकड़ी का नहीं, चन्द बरदाई के अपने मन का था। पहले महाराजा के प्रति मोह था, अब उन के लिए दर्द था। पहले महाराजा से संयोग का सुख था, अब वियोग की पीड़ा थी। इन्हीं विचारों में तल्लीन वह महात्मा जी की कुटिया तक पहुंच गए।

महात्माजी को देखा तो उन के चरणों से लिपट कर रोने लगे। महात्माजी सिर पर हाथ फेरते रहे। उन्हें बिठाया, पीने को जल दिया, फिर बोले, आप की चित्त की अवस्था का अनुमान लगा सकता हूं। महाराजा पृथ्वी राज के पराभव का वृत्तान्त हमें ज्ञात हो चुका है। हम यह भी जानते हैं कि आप को महाराजा से मोह की सीमा तक प्रेम था किन्तु आप को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि भगवान स्वयं सर्व प्रकार के मोह से अतीत हैं तथा वह अपने भक्तों में भी मोह सहन नहीं कर सकते, इस लिए वह मोह के कारण को ही नष्ट कर देते हैं। यह समझो कि आप का मोह तोड़ने के लिए भगवान ने महाराजा को जगत से बुला लिया है। महाराजा के पराभव के और भी कई कारण हो सकते हैं। वह जन्म-जन्मान्तर के योगी थे किन्तु प्रारब्धवशात् प्रेम लीला तथा राजकाज में उलझ गए थे। योग की स्थिति में लौटने

के लिए उन का प्रारब्धक्षय आवश्यक था। प्रारब्धक्षय के पश्चात् वह पुनः योगी के रूप में प्रतिष्ठित होंगे। इस लिए उन का चले जाना दुख का नहीं, प्रसन्नता का विषय है।

चन्द बरदाई- दुख उन के जाने का नहीं। जाना-आना तो संसार का क्रम है। दुख इस बात का है कि उन की मृत्यु इतनी भीषण यातनाएं एवं अपमान सहन करते हुई। भारत सम्राट की यह दुर्दशा ? कल्पना कर के ही रोगंटे खड़े हो जाते है। दिल रोने को कर आता है।

महात्माजी- किन्तु उन के प्रारब्ध में ऐसी ही मृत्यु का योग था। यदि उन्हें इस तरह की मृत्यु प्राप्त नहीं होती तो ऐसी मृत्यु के लिए उन्हें पुनः एक बार जन्म लेना पड़ता। आप साधक हो, साधक की तरह विचार करो। तुम्हारी शेष आयु इतनी लम्बी नहीं है कि तुम्हें इस जन्म में महाराजा के योगी के रूप में दर्शन हो सकें, किन्तु अगले जन्म में तुम्हें यह सौभाग्य अवश्य प्राप्त होगा। महाराजा के प्रति तुम अपने मोह को त्याग दो। याद है जड़ भरत की एक हिरण के बच्चे से मोह के कारण, कैसी गति हुई थी।

यह सुन कर चन्द बरदाई के मन को थोड़ी सांत्वना मिली। महात्माजी की आज्ञा से ले कर वह भगवती के दर्शन के लिए गुफा की ओर चले। माताजी की प्रतिमा बड़ी प्रसन्न मुद्रा धारण किए दिखाई दी। चन्द बरदाई ने कहा, "माता ! आप प्रसन्न हो रही हैं जब कि मेरा मन मित्र के वियोग में रो रहा है" इस के पश्चात् माता के चरणों के समीप ही उन्हों ने आसन लगा लिया। थोड़ी देर में ध्यानस्थ हो गए तो माता प्रकट हुईं, "तुम्हारा मित्र चला गया तो तुम दुखी क्यों हो रहे हो। तुम्हारे अन्तर में उस के लिए मोह है, इस लिए। मैं प्रसन्न हूं क्यों कि उस का कर्मभोग समाप्त हुआ। अब वह एक योगी होगा, बड़ा योगी, अदृश्य योगी, शक्ति-संपन्न योगी। पहले वह जगत की दृष्टि में बड़ा था, अब मेरी दृष्टि में बड़ा होगा। तुम उस के जाने पर दुखी हो रहे हो, किन्तु मैं उस के आने पर प्रसन्न हूं। उस के जाने पर अब तुम भी मोह मुक्त हो कर पहले की अपेक्षा कहीं अधिक साधन का आनन्द उठा सकोगे।

चन्द बरदाई ध्यान से उठे तो काफी हलका अनुभव कर रहे थे। उन के मन से महाराजा का मोह काफी कुछ जा चुका था। वह प्रसन्न चित्त सभी साधकों से मिले। उन के लिए पुनः कुटी खड़ी कर दी गई।

चन्द बरदाई को ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे लड़की ससुराल से पीहर में आ कर प्रसन्न होती है। महल के बंद वातावरण के स्थान पर यहा प्राकृतिक सौंदर्य का खुला आंगन था। ईंट पत्थर की दीवारों के स्थान पर शीतल वायु के स्वच्छंद

झौंकों में झूलती वृक्षों की फलों-फूलों से लदी शाखाएं थीं। दास-दासियों का यहां कोई काम नहीं था। घुटनों तक शरीर पर लिपटी छोटी सी धोती ही यहां की राजसी पोशाक थी तथा जंगल के फल यहां के स्वादिष्ट पकवान। वहां पग-पग पर परतंत्रता थी, तो यहां पूर्ण उन्मुक्तता। वहां दंभ था तो यहां स्वाभाविकता।

मैं ने कहा, "महाराज जी ! आप के इस वर्णन से मुझे उन दिनो की याद आ रही है जब मैं हिमाचल प्रदेश में सतलज के किनारे कुटिया बना कर रहता था। बिना दीवारों के पत्तों से ढकी कुटिया। न कोई आने-बात करने वाला, न कोई चिन्ता न उत्तेजना। मन हो तो सतलज के किनारे ज़ा बैठो, घूमने चले जाओ, कुछ अध्ययन करने लगो; या कुटिया में बैठ कर जप करो। सब ओर हरियाली से ढके, ऊंचे उभरे पहाड़, सतलज की निरन्तर धारा, जंगली पक्षियों की सुरीली आवाज़े, सब ओर शान्ति फैली हुई। अभी भी याद आती है तो भाग कर उधर जाने मन होता है।

महाराजश्री- हमारे टेकड़ी के वर्णन के अनुसार यहां एक कमी थी कि यहां कोई नदी नहीं थी किन्तु जल-स्त्रोतों की भरमार थी। अब जंगल कट चुके हैं, वर्षा की कमी हो रही है जिस से जल संकट भी रहने लगा है। उस समय ऐसा नहीं था।

यह तो हुई प्राकृत सौन्दर्य की बात ! किन्तु सब से अधिक आकर्षण यहां का आध्यात्मिक वातावरण था जो सीधे हृदय के अंदर तक प्रभावित करता था। साधक को यहां की आध्यात्मिक रश्मियां अन्तर तक संचार करती थीं। माता जी की चेतन उपस्थिति तो यहां थी ही। यहां निवास कर रहे अनेकों अदृश्य महापुरुष भी आध्यात्मिक किरणें बिखेरने में लगे थे। नैसर्गिक छटा तथा आध्यात्मिक वातावरण ने मिल कर इस स्थान को तीर्थ बना दिया था। कहीं पेड़ो के झुरमुट थे, तो कहीं पगडंडियो की भूल भुलैयां। कहीं चट्टानें उभर रहीं थी तो कही सपाट जमीन थी। प्रकृति अपने जोबन पर थी।

चन्द बरदाई कभी अकेले जंगली पगडंडियों पर उन्मुक्त विहार करते तो कभी वृक्षों की शाखाएं पकड़ कर झूलने लगते। कभी कुटिया में बैठे मस्ती में आ कर भजन गाने लगते तो कभी माताजी की गुफा में ध्यानस्थ हो जाते। उन पर किसी का नियंत्रण नहीं था किन्तु कड़क आत्म-नियंत्रण था। जिधर मन होता चल देते, जहां मन होता बैठ जाते थे। कभी मां के सामने गिड़गिड़ाने लगते, तो कभी मां से रूठ जाते। यही तो भक्ति की रंगत है।

मां उन के अन्तर् में प्रत्यक्ष क्रियाशील थी। यह कोई विचार का विषय नहीं था, न कोई भावनात्मक प्रतीति। जो कुछ था सामने था। मां प्रत्यक्ष बात करती, लीला करती, प्रार्थना सुनती, उत्तर देती, विनोद करती थी। यही मां का अन्तर सगुण स्वरूप था। जब वह जागती तो संस्कारों को उथल-पुथल करती, उन्हें

उभारती, उछालती तथा अपनी लीला में उन्हें झकझोर कर बाहर फैंक देती थी। वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करती थी। सब कुछ सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनती थी। सब कुछ बोलते हुए भी कुछ नहीं बोलती थी। वह सब को स्पर्श करती थी किन्तु स्वयं अछूती रहती थी, वायु वेग में ठुमक-ठुमक इठलाती थी, जल की तरंगों में लहरों का रूप धारण कर नाचती थी। बिजली के रूप में कड़क कर दिलों को दहला देती थी। बादल के रूप में अपनी गरज से चारों दिशाएं कम्पायमान करती हुई बरस कर जल-थल कर देती थी। वही योगियों में योग, भक्तों में भाव, तथा ज्ञानियों में विचार के रूप में प्रकट होती थी। जहां कुछ भी घटित होता वहां शक्ति अवश्य होती। जहां कुछ नहीं होता वहां भी मां अवश्य होती।

यह सभी बातें अब चन्द बरदाई को किसी से समझने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। सब कुछ उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता जा रहा था। उन का ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। मां को अपने से भिन्न अनुभव करने की स्थिति से ऊपर उठ कर, मां से अभिन्नता का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा था। ऐसी उच्च स्थिति प्राप्त साधक जगत में कभी-कभी अवतरित होते हैं।

पटाक्षेप

महाराजा पृथ्वी राज को देह त्याग किए दो वर्ष हो चुके थे। एक दिन ध्यान की अवस्था में चन्द बरदाई ने देखा कि किसी परिवार में एक बच्चे ने जन्म लिया है। माता-पिता तथा सगे-संबंधी सब प्रसन्न हो रहे हैं। मिठाई बट रही है। ढोल ढमाके बज रहे हैं। बच्चे के मुख पर भी एक अलौकिक तेज है। चन्द बरदाई ने भी ध्यान में ही उस बच्चे का प्रणाम किया। यह अनुभव प्राप्त कर चन्द बरदाई कुछ देर सोचते रहे तथा उन्हों ने मन ही मन कुछ निश्चय किया।

एक दिन प्रातः काल वह उठे। स्नानादि से निवृत्त होकर,पहले भगवती की गुफा में जा कर कुछ देर बैठे रहे। बोले कुछ नहीं, केवल रोते रहे। फिर भगवती को प्रणाम कर के महात्मा जी को प्रणाम करने गए। फिर सब साधकों को मिल कर उन के चरण छुए एवं तत्पश्चात् अपनी कुटिया में प्रवेश कर गए।

सभी साधक अपने-अपने काम में व्यस्त थे। कोई अपनी कुटिया साफ कर रहा था, कोई कपड़े धो रहा था। कोई बैठा प्रातःकालीन संध्या कर रहा था। इतने में महात्मा जी ने चन्द बरदाई को बुलवाया। एक साधक उन्हें बुलाने के लिए उन की कुटिया में गया तो कुटिया खाली थी। इधर-उधर खोज आरंभ हुई किन्तु चन्द बरदाई कहीं दिखाई नहीं दिए। इस के पश्चात् किसी ने भी उन्हें कभी नहीं देखा। न तो यही कहा जा सकता है कि उन्हों ने देह त्याग कर दिया, न ही यह कि वह कहीं

चले गए।

चन्द बरदाई का माताजी की टेकड़ी के साथ लम्बे समय तक संबंध नहीं रहा, किन्तु जितना भी रहा, बहुत गहरा रहा। एक बार संपर्क में आ जाने पर माताजी की टेकड़ी उन के जीवन का अभिन्न अंग बन गई, तथा अन्त तक बनी रही।

चन्द बरदाई ने कब अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश किया, कौन-कौन से साधन किए ? कौन-कौन सी अवस्थाओं में हो कर निकले ? कब किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ? आदि बातें उन के पूर्व जन्मों की अदृश्य परतों के नीचे दबी हैं। किन्तु स्पष्ट है कि परमार्थ का मार्ग यदि अत्यन्त कठिन तथा लम्बा है तो निश्चय ही उन के लिए भी वैसा ही होगा। कभी उन में भी वासनाएं, कामनाएं तथा महत्त्वाकांक्षाएं प्रबल रही होगी। कभी वह भी अवश्य ही संसार में संतप्त, विक्षिप्त एवं उद्विग्न रहे होंगे। चित्त की इन स्थितियों से जूझते हुए वह वर्तमान अवस्था तक पहुंचे थे। इस जन्म में वह एक सहृदय कवि के साथ-साथ एक उत्कृष्ट साधक भी थे। भगवती चामुण्डा के प्रति समर्पित, जगत के आकर्षणों तथा प्रलोभनों से उदासीन आत्म-केन्द्रित व्यक्तित्व। कभी उन्हों ने अन्तरिक्ष में ऊंची मानसिक काल्पनिक उड़ाने भरी होंगी, कभी गहरी अंधेरी वादियों में ठोकरें खाई होंगी, तथा अन्ततः वह इस स्थान पर पहुंच पाए थे।

श्री शील नाथ महाराज

चन्द बरदाई ईसा की बारहवीं शताब्दी में चामुण्डा माताजी की टेकड़ी से सबंधित रहे थे। उस के पश्चात् प्रकट सामूहिक एवं व्यक्तिगत् तपस्थली के रूप में इस स्थान के महत्त्व में कुछ न्यूनता आ गई थी। यद्यपि बीच-बीच में कई साधक अल्प-काल के लिए यहां आकर रहते तथा साधन करते रहे किन्तु आश्रम जैसा वातावरण विलुप्त हो चला था। टेकड़ी के आस-पास जन संख्या का घनत्व भी अधिक होता गया। जंगल का क्षेत्र सिकुड़ता चला गया, तथा आस-पास के गांव बढ़ते-बढ़ते टेकड़ी के समीप तक आते चले गए। शिकारी लोग जंगली पशुओं का वध भी निरन्तर करते आ रहे थे जिस से वह भी विलुप्त होने लगे थे। अन्ततः मराठों ने वर्तमान टेकड़ी के ठीक नीचे देवास नगर की स्थापना कर दी थी। यह नगर आगरा-बम्बई राजमार्ग के ठीक किनारे बसाया गया था।

देवास नगर एकदम टेकड़ी के पास बस जाने से, भक्तों का प्रातः तथा सायंकाल चामुण्डा माताजी के दर्शनों के लिए आवागमन बढ़ चला था जिस से जन-मानस में माताजी के प्रति श्रद्धा-भावना में वृद्धि होने लगी थी। इस बात से टेकड़ी के शान्त एकान्त वातावरण पर प्रभाव पड़ने लगा था एवं एकान्त प्रिय साधक इस स्थान की ओर से उदासीन होते जा रहे थे। हां, अदृश्य महापुरूषों की माता जी के प्रति श्रद्धा तथा भाव पूर्ववत् स्थिर रहा क्योंकि उन्हें नगर अथवा एकान्त से कोई अन्तर नहीं प ड़ता था। जब वे समाधि में चले जाते थे तो निर्जन तथा कोलाहल, उन के लिए एक समान होता था। उस अवस्था में भाव-अभाव दोनों का ज्ञान विलीन हो जाता था

ईसा की बीसवीं शताब्दी के आते-आते सात आठ सौ वर्षों की लम्बी अवधि बीत चुकी थी। इस बीच भारत के इतिहास मे कई प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उथल-पुथल हो चुकी थी। नए-नए राज्य उभरे तथा विलीन होते गए। नए-नए समाज फैले तथा सिकुड़ते रहे। कई नए सम्प्रदायों ने सिर उठाया तो कई दृष्टि-पटल से हट गए। मुगल, मराठे, सिख, राजपूत अपनी-अपनी बारी खेल कर जा चुके थे। अंगरेज़ आए और अब जाने की तैयारी में थे। ऐसे में माताजी की टेकड़ी पर साधना ने फिर एक करवट ली। अब की बार जो महापुरुष आए, वे थे योगी शील नाथ। श्री शील नाथ महाराज ने देवास में प्रकट हो कर, नगर के वातावरण को आध्यात्मिकता के रंग में रंग दिया तथा एक छोटे से नगर को दूर-दूर तक परिचित करवा दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जयपुर के राजघराने से संबंधित एक

परिवार में योगी शील नाथ का जन्म हुआ। आरंभ से ही वैराग्य वृत्ति, नाथ सम्प्रदाय में दीक्षा, भारत के विभिन्न भागों तथा अफगानिस्तान, ईरान, इराक और चीन आदि देशों में भ्रमण, कौपीन धारी नंग धड़ंग शरीर, नियम-संयम के कड़क आदि बातें इन के विषय में कही जाती हैं। हर एक संत-पुरुष को जीवन में कई अप्रिय घटनाओं तथा विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। इन के जीवन में भी ऐसे प्रसंग अवश्य आएं होंगे, किन्तु इन से संबंधित साहित्य में ऐसी कोई विशेष बात पढ़ने को नहीं मिलती है। कोई संत हो, महापुरुष अथवा भक्त हो, या फिर कोई अवतार ही क्यों न हो, जगत प्रायः किसी को नहीं मानता तथा अपने ढंग से व्यवहार करता है। किन्तु यदि पाठकों-भक्तों को यह बताया जाय कि उन्हों ने किस प्रकार विपरीत परिस्थितियों को सहन किया, या उन का सामना किया, उन का पार पाया, क्या-क्या साधन किया तथा उस में क्या-क्या विघ्न आए, तो साधकों को अधिक मार्ग दर्शन मिल सकता है तथा वे साधन के प्रति अधिक उत्साहित हो सकते हैं। किन्तु यह बात निर्विवाद है कि उन्हों ने जीवन में सिद्ध महापुरुष की पद्वी प्राप्त की।

देवास में आगमन

सम्वत् १९५६ की बात है, श्री शील नाथ महाराज उन दिनो देवास के समीप तराना में ठहरे थे। देवास से कई लोग उन के दर्शनों के लिए तराना आया-जाया करते थे। उन्हीं की प्रार्थना पर शीलनाथ महाराज देवास पधारे थे तथा रानी बाग़ के सामने मैदान में ठहरे थे। उन्हीं दिनों देवास जूनियर के महाराजा मल्हार राव भी उन के पास आने-जाने लगे तथा उन के अनन्य भक्त बन गए।

दूसरी बार शीलनाथ महाराज देवास आए (जिस का वर्णन महाराज श्री कर रहे हैं)"शील नाथ महाराज दूर खड़े कुछ देर टेकड़ी को निहारते रहे, फिर उस की परिक्रमा की। फिर टेकड़ी पर जा कर भगवती के सभी मंदिरों के दर्शन किए। कई जगह ठहर कर, वहां के प्रभाव को जानने का प्रयत्न किया फिर चामुण्डा माताजी के मंदिर के सामने थोड़ा नीचे उतर कर एक स्थान पर बैठ कर ध्यानस्थ हो गए। कुछ देर के पश्चात् आंखे खोल दीं। बोले, "यह जगह हमारे ठहरने के लिए उत्तम है। भगवती चामुण्डा के चरणों में। उस के पश्चात् लोगों ने वृक्ष काट-काट कर सब साफ कर दिया। उस समय वहां घना जंगल था। एक दम निर्जन स्थान था। पास ही प्रचुर मात्रा में जल भी उपलब्ध था। शीलनाथ महाराज ऐसे निर्जन वनों में रहने के अभ्यस्थ थे। बस, आसन लगा दिया। धूनि प्रज्वलित कर दी गई। शील नाथ महाराज सदैव धूनि के सानिध्य में ही रहा करते थे। जब किसी भी स्थान पर ठहरते थे तो हर जगह धूनि उन के सामने रहती थी। जब यात्रा करते हुए चलते थे तो एक

जलती हुई लकड़ी हाथ में ले लेते थे।

सायंकाल तक तो लोगों का आना-जाना-बैठना बना रहा किन्तु उस के पश्चात् रात को अकेले ही थे। शील नाथ महाराज ऐसा ही वातावरण चाहते थे। रात के अंधकार में धूनि जल रही थी, उस के पास बैठे हुए शील नाथ महाराज का ध्यान लगा था। ध्यान में माता के दर्शन हुए। शील नाथ महाराज ने प्रणाम कर के कहा, "हे माता ! तुम्हारी शरण में हूं। मुझ पर दया-दृष्टि बनाए रखना" माता बोली, "शील नाथ ! मेरी सभी जीवों पर समान दया-दृष्टि है, किन्तु सामान्य जीव उस का लाभ नहीं उठाते। तुम्हारे जैसे संत-पुरुष ही उस से अपने आप को कृतार्थ कर पाते हैं। तुम अफगानिस्तान, इराक, चीन जहां भी गए, तुम पर मेरी दृष्टि सदैव बनी रही। तुम्हारे नियम-संयम से मैं प्रसन्न हूं। तुम ने सारा जीवन भ्रमण करते निकाल दिया। जीवन का अन्तिम समय अब एक स्थान पर रह कर जन-कल्याण के कार्यों में भागीदार बनो। देवास इस के लिए उत्तम स्थान है। शरीर त्याग के समय यदि चाहो तो गंगा किनारेचले जाना। तुम्हारा कल्याण हो।" शील नाथ महाराज ने "जो आज्ञा" कह कर दोनों हाथ जोड़ दिए। माता अदृश्य हो गईं।

शील नाथ महाराज के भक्तों को यह कहां अच्छा लगता था कि उन के गुरु महाराज, खुले में, बिना किसी छत या सहारे के, इस प्रकार जंगल में अकेले पड़े रहें। अत: सब के सहयोग से स्थान निर्माण का कार्य आरंभ हो गया। एक दिन शील नाथ महाराज घूनि के पास बैठे थे। संसार में प्राय: लोग दुखी तो हैं ही, एक भक्त आए, चेहरे पर हवाइयां उड़ी हुईं। चाल भी कुछ सुस्त थी। शील नाथ महाराज ने पूछा, "क्या बात हैं, ऐसे क्यों हो रहे हो ?" बोले, "महाराज ! आप तो अन्तर्यामी हैं, क्या निवेदन करूं ? घर की कलह से परेशान हूं।"शील नाथ महाराज ने कहा "तुम्हारे घर में कलह हो सकती है किन्तु तुम्हारे दुख का कारण कलह नहीं। जो कुछ भी होता है, वह सब तुम्हारे कर्म, संकल्प तथा मान्यताओं का परिणाम है। वासनाओं के अनुसार तुम्हारी मान्यताएं विकसित होती हैं। मान्यताओं के अनुसार संकल्प तथा संकल्प के अनुसार कर्म होता है। यदि सुख चाहते हो तो कर्म, संकल्प तथा मान्यताओं के बंधन से अपने आप की मुक्त करो। जब तक यह तीनों रहेंगे, तब तक किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं कलह होती रहेगी। तुम बाहर की कलह को देखते हो, अन्तर की कलह को नहीं।"

एक भक्त जो पास बैठा सारी बात सुन रहा था,सोचने लगा, कि कर्म संकल्प तथा मान्यताओं से पीछा छुड़ाना क्या आसान है ? जन्म-जन्मान्तर से यह क्रम चला आ रहा है। जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर प्रयत्न शील रहने पर ही, संभव है मनुष्य इन से कभी छुटकारा पा जाय ! न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी। यह

तो सब ज़बानी बातें हैं।

शील नाथ महाराज- यदि कोई यह सोचे कि यह तो बड़ा कठिन कार्य है, तब तक क्या हम इसी प्रकार दुखी होते रहेंगे, तो ऐसी बात नहीं है। तब तक ईश्वर की शरण ग्रहण कर सकते हो। अपने कर्म, संकल्प तथा मान्यताओं को ईश्वर के चरणों में अर्पण कर सकते हो। तब तुम्हारे कर्म, संकल्प तथा मान्यताएं जब तक रहेगी भी, तब तक भी तुम को दुखी, संतप्त तथा विक्षिप्त नहीं कर पाएंगे।

सुरक्षा व्यवस्था

महाराजश्री ने कहा कि शील नाथ महाराज बड़े शक्ति-संपन्न महापुरुष थे। केवल बातें बना कर ही नहीं रह जाते थे, उन के पास आध्यात्मिक शक्तियों की भी कमी नहीं थी। जंगल में अकेले, रात के समय निर्भय होकर ऐसे ही कोई नहीं रह जाता। उस के पास अपनी सुरक्षा की सशक्त व्यवस्था होती है, तभी कोई ऐसा कर पाता है। शील नाथ महाराज के पास कई विद्वान, पण्डित तथा शास्त्री भी आते थे तथा तर्क और युक्ति से उन्हें परास्त करने का यत्न करते थे किन्तु शील नाथजी के पास अनुभव की शक्ति थी। पण्डित लोग पढ़ी-पढ़ाई बात करते थे तो शील नाथ जी आखों देखी के अनुसार उत्तर देते थे। वे कहते थे, "शास्त्री जी, अध्यात्म को जानना चाहते हो तो पहले बरतन मांजो, अर्थात् अपने चित्त को शुद्ध करो। चित्त-शुद्धि के बिना शास्त्र-ज्ञान प्रकाशित नहीं होता"

कुछ विद्वान लोग इन से द्वेष करनें लगे। शील नाथजी का देवास में रहना उन को अखरने लगा। इन को मार्ग से हटाने की योजनाएं बनाने लगे। उन्हों ने विचार किया कि क्यों न शीलनाथजी को समाप्त ही कर दिया जाए। रात को यहां यह अकेले ही होते हैं। टेकड़ी के आस-पास कोई बस्ती नहीं। मंदिर के पुजारी भी रात को चले जाते हैं। दूर-दूर तक कोई आवाज़ सुनने वाला नहीं। रात के समय इन का काम तमाम किया जा सकता है। बस फिर क्या था, योजना बन गई। वह लोग रात के समय टेकड़ी से ऊपर की तरफ से नीचे उतरने ही वाले थे कि उन्हें कुछ लोग दिखाई दिए। उन्हों ने पूछा कि कौन हो ? इस समय कहां जा रहे हो ? विद्वानों ने उत्तर दिया कि माताजी के दर्शन करने जा रहे हैं। उन लोगों ने कहा, "इस समय मंदिर बंद है, प्रात: काल आना।" विद्वानों ने वापिस जाना ही ठीक समझा।

टेकड़ी का चक्कर लगा कर, वे लोग दूसरी तरफ से आ गए तथा नीचे से ऊपर की ओर चढ़ने लगे। रात अंधेरी थी, रास्ता कोई था नहीं। पत्थरों पर चलते हुए वह टटोल-टटोल कर जा रहे थे। दूर से अंधेरे में धूनि जलती दिखाई दे रही थी। शीलनाथ महाराज उस के पास बैठे थे। किन्तु पहले से भी अधिक लोग लाठियां,

कुल्हाड़ियां तथा तलवारें लिए दिखाई दिए। देखते ही सब के हाथ-पांव फूल गए। पत्थरों पर गिरते-पड़ते उलटे पांव भागे। कइयों को चोटें आईं।

प्रात: काल अपने नित्य नियमानुसार साधन-भजन से निवृत्त हो कर धूनि के पास अपने आसन पर बैठे थे, लोग आने आरंभ हो गए थे। रात वाले लोग भी हिम्मत कर के आ गए थे। कुछ लोगों के पट्टियां बंधी थीं। कोई लंगड़ाता चल रहा था तो कोई किसी का सहारा लिए था। शील नाथ महाराज ने पूछा, "आप लोगों को क्या हुआ ? उत्तर मिला, "महाराज ! आप सब जानते हैं, फिर भी पूछ रहे हैं ! आप की कृपा से हम महान पाप करने से बच गए।" शील नाथ महाराज ने कहा, "कोई बात नहीं। प्रायश्चित सब पापों को जला डालता है। आप विद्वान हैं, इन सब बातों को समझते हैं। संभव है दूसरों को उपदेश भी देते हों। अब भगवान के भजन में मन को लगाएं" पास बैठे दूसरे लोगों को कुछ समझ नहीं आई कि क्या बात हो रही है।

महाराजश्री- देखा तुम ने शील महाराज की सुरक्षा व्यवस्था ! आजकल वी.आई. पी लोगों के साथ सिक्योरिटी रहती है,फिर भी कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है किन्तु शील नाथ महाराज की सिक्योरिटी कहीं अधिक चौकस थी। जिन की बुद्धि अत्यन्त सीमित होती है, महापुरुषों की अपार शक्ति का अनुमान कैसे लगा सकते हैं।

स्थान-निर्माण

यह ऊपर कहा ही जा चुका है भक्तों ने आपस में मिल कर, शील नाथ महाराज के लिए स्थान का निर्माण आरंभ किया था। शीलनाथ जी को न किसी स्थान से कोई लगाव था, तथा न वह किसी को कुछ बनाने के लिए कहते थे। उन के लिए पृथ्वी स्थान थी तथा आकाश छत, किन्तु भक्त लोग अपने संतोष के लिए कर रहे थे। अब स्थान का निर्माण कार्य पूर्ण होने को आया था। पक्का धूनि-स्थान निर्मित किया गया। साधन के लिए गुफा तथा भक्तों के ठहरने के लिए एक धर्मशाला भी बनाई गई। शीलनाथ महाराज सब देखते रहे, कुछ बोले नहीं। स्थान बन कर तैयार हो गया तो शील नाथ जी ने सारे स्थान का चक्कर लगाया, निर्माण कार्य की प्रशंसा की, थोड़ी देर के लिए धूनि-स्थान पर भी जा बैठे। फिर कहने लगे, "आप लोगों की भावना थी, पूरी हुई, किन्तु मैं तो साधु हूं। खुले आकाश में विचरने वाला पंछी हूं। इस कैदखाने में कैद हो कर कैसे प्रसन्न रह सकता हूं। मैं तो यहीं खुले मैदान में अच्छा।"

कुछ भक्त निराश हो गए। कुछ ने शील नाथ महाराज की मौज को शिरोधार्य कर लिया। अन्तत: शील नाथ महाराज की धूनि पर एक टीन शैड डलवाने का

निश्चय किया गया। शील नाथजी वहीं रहे। उन की धूनी पक्के भवन में भी प्रज्वलित कर दी गई। धर्म शाला भक्तों के ठहरने के काम आने लगी।

मैं ने कहा- यह कुछ अजीब सा लगता है। यदि शील नाथ महाराज ने वहां रहना नहीं था तो उन्हों ने भक्तों को पहले क्यों नहीं कह दिया ? व्यर्थ में इतना श्रम, पैसा और समय बरबाद हुआ।

महाराजश्री- संतो का यही तो होता है। न वह किसी की भावना को ठेस पहुंचाते हैं, न अपनी चाल छोड़ते हैं। जीवन के नब्बे वर्ष उन्होंने भ्रमण में निकाल दिए थे। प्रथम बार उन के भक्त उन के नाम पर कोई स्थान खड़ा कर रहे थे। स्वयं उन्हें कोई रुचि नहीं थी, किन्तु उन्हों ने रोका नहीं।

यह बातें देवास के खाली पड़े रेल्वे प्लेट-फार्म पर हो रही थीं मैं ने महाराज जी से पूछा, "शील नाथ महाराज के आप को दर्शन नहीं हो सके। आप के देवास आगमन से कितना समय पूर्व उन्हों ने अपनी इहलीला समाप्त कर ली थी ?"

महाराजश्रीने कहा, "हम १९४५ के आस-पास प्रथम बार देवास आए थे जब कि शील नाथ महाराज ने सन्१९२० में ही अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया था। इस लिए हम उन के जीवनकाल में उन के दर्शनों का लाभ नहीं ले पाए। वैसे शील नाथ महाराज से हमारा संपर्क बना रहा है, अभी भी है। जीवन-मरण, माया का जीवों के साथ खिलवाड़ है। योगी माया के इस कौतुक का आनन्द लेते हैं। वह न जन्म-मरण के दुख से प्रभावित होते हैं, न उसे कोई महत्त्व देते हैं। शील नाथ महाराज के स्तर के महापुरुष सौभाग्य से ही किसी को मिल पाते हैं। देवास का जन-समाज उन सौभाग्य शालियों में ही था। यह दूसरी बात है कि देवास के कितने लोग शील नाथ महाराज के यथार्थ स्वरूप को समझ पाए, अन्यथा अधिकांश लोग तो उन की चमत्कारपूर्ण बातों के कथन-श्रवण से अपने-आप को धन्य मान लेते हैं। आज भी हम देखते हैं कि कितने लोग हैं जिन का लक्ष्य उन के उपदेशों की गहनता, उन के साधन-क्रम एवं उन के आध्यात्मिक आदर्श की ओर है। चमत्कारों की चर्चा ही ऐसे लोगों के लिए सब कुछ है। प्राय: सभी महापुरुषों के साथ ऐसा ही होता है। राम, कृष्ण हों या बुद्ध, महावीर, मोहम्मद हों या क्राइस्ट, बस चमत्कार वर्णन। नानक, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु तथा नरसी के साथ ऐसा ही होता आ रहा है। शील नाथ जी भी उस के अपवाद नहीं।

हम यह नहीं कहते कि महापुरुषों के अलौकिक कृत्यों का आनन्द नहीं लो। इस से महापुरुषों के शक्ति सामर्थ्य का पता चलता है तथा उन के प्रति प्रेम और भाव जाग्रत होता है। किन्तु उन के वचनों के सार को समझने का भी तो प्रयत्न

करो। उन के जीवन के प्रसंगों के रहस्य एवं मर्म को भी हृदयंगम् करो। जिस मार्ग पर वे चले हैं, उस मार्ग को भी अपनाने का प्रयास करो। शील नाथ महाराज ने अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम के लिए कितना आत्म-संघर्ष किया होगा। अपने अभिमान को कुचलने के लिए क्या-क्या कुछ नहीं करना पड़ा होगा? वासना सभी को घुमाती है। मन सभी को उठा-उठा कर पटकता है। माया सभी पर सवारी का प्रयास करती है। शील नाथ जी इन विपरीतताओं का सामना कैसे कर पाए, सोचने का विषय है।

अब तक काफी प्रकाश फैल चुका था। दूर उज्जैन रोड पर मोटर-गाड़ियों का ट्रैफिक भी दिखाई देने लगा था। प्लेट-फार्म पर भी कुछ चहल-पहल नज़र आने लगी थी। हम भी उठ कर आश्रम की ओर चल दिए थे। रास्ते में भी बात-चीत हो ही रही थी।

महाराजश्री- शील नाथ महाराज अपार दैवी शक्तियों के स्वामी थे। सिद्धियां उन के समक्ष आदेश की प्रतीक्षा में उपस्थित रहती थीं, पर वे सिद्धियों के उदय को, साधन के एक पड़ाव से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। वह कहते थे कि सिद्धियों में आसक्त हो जाने का अर्थ है साधन की गाड़ी का चलते-चलते ठहर जाना, तथा सिद्धियों का प्रयोग करने लग जाने का अर्थ है, साधन की गाड़ी का पीछे की ओर हटने लगना। योग-मार्ग में सिद्धियों को जो प्रतिबंधक कहा गया है उस का अभिप्राय सिद्धियों के प्रति आसक्त हो जाने से ही है। साधक के इन के प्रति आसक्त होने की संभावना प्रबल होती है। इन का अभिमान पैदा हो जाने का भय भी रहता ही है। अतः साधक के लिए उचित यही है कि सिद्धियों के प्रति मोहित न हो, इन का अभिमान नहीं करे तथा यथा संभव इन के प्रयोग एवं प्रदर्शन से बच कर रहे।

इसी प्रकार चर्चा करते हम नारायण कुटी पहुंच गए।

टेकड़ी पर आ कर साधनरत् रहे जिन महापुरुषों का यहां वर्णन किया जा रहा है, प्रायः उन की सिद्धावस्था थी। जन्म-जन्मान्तरों से वह साधन करते चले आ रहे थे। भर्तृहरि हों या नागनाथ, चन्द बरदाई हों या शील नाथ महाराज, सभी जन्म के योगी थे। उन का टेकड़ी का निवासकाल साधकों के समक्ष उन का आदर्श उपस्थित करता है। उस में साधक को अपने लिए, कोई मार्ग-दर्शन उपलब्ध नहीं हो पाता। जब कि साधक वासनाओं सें संघर्ष करता दिखाई देता है, मन की उठा-पटक में गिरता-उठता है, कभी चढ़ता तो कभी फिसल जाता है, तो उस की वह संघर्षपूर्ण तथा साधनमय अवस्था साधकों को कुछ सिखाती समझाती है। जैसे चन्द बरदाई में अभी तक महाराजा पृथ्वी राज के प्रति मन में मोह था। उन के इस वृत्तान्त

में साधकों के समझने के लिए बहुत कुछ है। अथचा भर्तृहरि का पिंगला से मोहमुक्त हो कर वैराग्य तथा साधन में प्रवृत्त हो जाने का प्रसंग साधकों के मन को झकझोर देता है। पर सिद्धावस्था में ऐसे प्रसंग बहुत कम होते हैं। साधक चूंकि अपनी प्रारंभिक अवस्था में होता है, पूरी तरह वासनाओं में धंसा हुआ, विषयों में उलझा हुआ, अत: दूसरे साधकों के संघर्षमय प्रसंग उस के लिए विशेष प्रेरणा तथा दिशा-निर्देश के लिए सहायक होते हैं। आदर्श के लिए सिद्धावस्था तथा मार्ग दर्शन और दिशा निर्देश के लिए सिद्धावस्था से पूर्व की अवस्था।

योगी शील नाथ महाराज का आत्म-संघर्षमय जीवन पूर्व जन्मों में व्यतीत हो चुका था, अथवा जीवनके प्रारंभिक काल में भी कुछ शेष था, इस विषय में इतिहास मौन है। इतना स्पष्ट है कि आत्म-संघर्ष के बिना कोई आत्मोन्नति नहीं कर सकता। फिर भी इन महापुरुषों की साधन की निरन्तरता, संसार के प्रति विरति, मन तथा इन्द्रियों पर संयम, ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम तथा समर्पण, मन में उत्साह तथा उमंग, साधक के अन्तर में आध्यात्मिक भूख को जगाने में सहायक तो हैं ही। किसी भी परमार्थ-साधक के लिए यह सब विचारणीय तथा अनुकरणीय है।

शीलनाथ महाराज के दर्शन

मैं जब अपने कमरे में पहुंचा तो शील नाथ महाराज विषयक विचार ही अन्तर में घूम रहे थे। संपन्न परिवार में जन्म लेकर भी उन्हों ने साधनमय कष्टसाध्य जीवन को चुना था। उन के भक्तों में राजाओं तथा धनिकों की कमी नहीं थी, चाहते तो सुविधामय जीवन-यापन कर सकते थे, किन्तु उन्होंने तपोमय जीवन का आश्रय नहीं छोड़ा। अध्यात्म के प्रति ऐसी लगन ! साधन के प्रति ऐसा अनुराग ! क्या ऐसी भावनाएं कभी मेरे मन में भी उभर पाएंगी ? क्या मैं भी कभी गुरुदेव तथा शील नाथ महाराज के चरण-चिन्हों पर चल पाऊंगा ?

इस प्रकार विचार चल रहे थे कि कुछ तन्द्राभिभूत होता हुआ अनुभव किया। सिर तकिए पर टिका दिया। स्वप्न में क्या देखता हूं कि मैं माताजी की टेकड़ी पर चामुण्डा जी के मंदिर के सामने खड़ा हूं। सारी टेकड़ी हरे-भरे वृक्षों से ढकी है (यद्यपि उन दिनों टेकड़ी पर कोई वृक्ष नहीं था) नीचे श्री शीलनाथ धूनि संस्थान दिखाई दे रहा है। संस्थान के बाहर खुले में योगी शील नाथ महाराज धूनि रमाए बैठे नज़र आ रहे हैं। मेरे जीवन में शीलनाथ महाराज के यह प्रथम दर्शन थे। अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। ऊपर से उतर कर मैं शीलनाथजी की ओर ज़ाता हूं। महाराज के चरण स्पर्श कर पास बैठ जाता हूं। धूनि में एक बड़ा लक्कड़ लगा है। सेक काफी

है।

शील नाथ महाराज- शिवोम् ! तुम व्यर्थ में चिन्ता करते हो। तुम्हारे गुरु महाराज इतने समर्थ महात्मा हैं कि यदि कृपा करें तो किसी को कुछ भी बना सकते हैं। जो साधन धीरज पर आधारित होता है, वही साधन है। उसी की निरन्तरता बनी रहती है। मन में अनेकानेक कल्पनाएं-वासनाएं उठा ही करती हैं। यह क्रम अनवरत चलता रहता है। साधक को एक-एक को निरस्त करने के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ता है। कभी-कभी तो एक ही कल्पना को निवृत्त करने में युगों बीत जाते हैं। फिर यह आशा करना कि एक ही दिन में माया की निवृत्ति हो जाएगी क्या उचित है ? मन क्या इतनी जलदी हार मानने वाला है ? वासना-विकार क्या पलक झपकने में निवृत्त हो जाने वाले हैं ? हर एक कल्पना को हटाने के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ती है। एक वासना यदि मन से हट जाती है तो फिर नहीं आती, किन्तु यह मत समझ लेना कि अब मर गई। अब कभी नहीं आएगी। कुछ समय के पश्चात् पुनः प्रकट हो सकती है। किन्तु यदि फिर आए तो उस की आओं-भगत में ही नहीं लग जाना। आसक्ति युक्त कर्मों से उसे और हृष्ट-पुष्ट नहीं करना; वैसे ही उस को जाने देना। उस का रस सूखने देना। उसे अशक्त बनने देना। तभी उसे मरा समझो कि आए ही नहीं, सदैव के लिए।

मैं सुनता जा रहा हूं तथा सोचता जा रहा हूं कि शील नाथ महाराज कैसी अनुभव की बातें कर रहे हैं। वैसे तो पुस्तकों में यह सब पढ़ते ही हैं किन्तु शील नाथ महाराज को इन का अनुभवयुक्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए कितनी कठिन तथा कितनी लम्बी साधना करनी पड़ी होगी ? मन में कितना धीरज धारण किया होगा ? क्या-क्या उतार-चढ़ाव देखे होंगे ? यह जीवन का निचोड़ है।

शील नाथ महाराज कहे जा रहे थे, "एक बात का और ध्यान रखना। आज की बात कल नहीं। बाहर की बात घर में नहीं। किसी बात को मन में खुब कर अपना स्थाई स्थान मत बनाने दो। बात आए तथा वायु के झौंके की तरह निकल जाय। यदि कोई बात मन में बैठ गई तो तुम संसारी, फिर वेष चाहे संन्यासी का हो। मन को हलका रखने का यही उपाय है। रंग चढ़े तो उस को मिटा दो। सीढ़ी पर चढ़ कर सीढ़ी गिरा दो। पार जा कर नाव छोड़ दो। बात हो जाएं तो उस को भूल जाओ अन्यथा अन्तर में कचरा जमा होता जाएगा।

मेरा स्वप्न भंग हो चुका था। निद्रा टूट चुकी थी। शील नाथ महाराज का दर्शन कर मन अत्यधिक प्रसन्न था। मैं ने महाराजश्री को स्वप्न की बात बताई, जो उपदेश मिला था, कह सुनाया। महाराजश्री ने कहा, "यह बड़ा शुभ स्वप्न है। अब स्वप्न में प्राप्त उपदेश को जीवन में उतारना तुम्हारा कर्तव्य है।"

गंगा- प्रेम

महाराजश्री ने कहना आरंभ किया, "शील नाथ महाराज ने एक दिन गंगाजी के बारे में बड़ी भाव पूर्ण बातें कहीं तो एक भक्त ने निवेदन किया, "महाराज ! यदि गंगाजी के प्रति आप को इतना ही प्रेम है तो आप जीवन में इधर-उधर भटकते क्यों रहे ? आप को गंगाजी के किनारे वास करना चाहिए था। यहां देवास में भी गंगाजी कहां है ? आप किस प्रयोजन से यहां रह रहे हैं,"

शील नाथ महाराज- अरे ! यह तुम ने क्या कह दिया ? क्षणमात्र के लिए भी हमारा गंगावास भंग नहीं होता। हम कहीं भी भटकते रहें किन्तु गंगाजी का किनारा हम से कभी भी नहीं छूटता। गंगा जी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होती। गंगाजी प्रत्येक मनुष्य में प्रतिक्षण प्रवाहित रहती है। यदि कोई इधर लक्ष्य करे तो दृष्टि-पथ में आ जाती है। उदासीन रहे तो भी वह अन्तर में बहती ही रहती है। प्रत्येक मनुष्य का वास गंगा-किनारे है। किसी को यह अनुभव होता है, किसी को नहीं। जिस को यह अनुभव होता है वह गंगा जी का जल माथे पर धारण करता है, ग्रहण करता है, गोते लगाता है। जिसे यह अनुभव नहीं होता वह गंगा जी के किनारे खड़ा हो कर भी प्यासा रहता है। गंगाजी चाहे दिखाई दे या नहीं, किन्तु हर जीव में प्रवाहित है। उस का प्रवाहित होते रहना ही जीवन है। जब इस का प्रवाह रुक जाता है तो जीवन मुरझा जाता है।

शील नाथ महाराज की बातें सुन कर भक्त सोच में डूब गया। उस को सूझ नहीं रहा था कि क्या कहे। अन्ततः उस ने कहा, "आप ने तो गंगा जी को आध्यात्मिक रूप दे दिया" शील नाथ महाराज ने कहा, "गंगाजी अध्यात्म का ही प्रतीक है" ऐसा कहते हैं कि शीलनाथ महाराज नित्य रात को गंगा स्नान को जाया करते थे। जब वह आते तो उन के बाल गीले होते थे।

मैं ने कहा कि देवास से गंगा जी तो बहुत दूर है, फिर रोज़ गंगा-स्नान कैसे संभव हो पाता था ?

महाराजश्री- तुम यह भूल रहे हो कि शीलनाथ महाराज सिद्धयोगी थे, तथा योगियों की गति कल्पनातीत सीमा तक तीव्र होती है। शीलनाथ जी कहा करते थे कि प्रकृति के पांचों तत्त्व योगियों के अनुकूल हो जाते हैं। पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश अपना-अपना स्वभाव त्याग कर योगी की सेवा में तत्पर रहते हैं। योगी जब चाहे, जहां चाहे, क्षणमात्र में प्रकट हो सकता है। दूरी उन के लिए कोई समस्या नहीं। योगियों की स्थिति भौतिक वादियों की समझ में नहीं आ सकती। वे भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों की बात करते हैं, किन्तु विज्ञान के नियम योगियों पर

लागू नहीं होते।

जब योगी चलता है तो पृथ्वी अपना ठोसपन का स्वभाव त्याग कर कोमलता धारण कर लेती है। योगी का यह अधिकार होता है कि वह भूगर्भ में गतिशील हो, पृथ्वी के ऊपर चले या आकाश मार्ग से गमन करे। उस की गति मन से भी तीव्र हो सकती है। योगी को कोई पराधीनता नहीं। तत्त्वों का उपयोग करने अथवा नहीं करने में वह पूरी तरह स्वतंत्र है।

यह कहा ही जा चुका है कि शील नाथ महाराज की धूनि खुले में थी। सरदी-गरमी, बरसात, दिन-रात शीलनाथ जी धूनि के पास ही बैठ रहते थे। उन का आसन ऐसा दृढ़ था कि प्रातः चार बजे के करीब बैठ जाते तथा रात के बारह बजे तक प्रायः एक ही आसन में बैठे रहते थे। जब भक्त लोग सतसंग के लिए आते थे तब भी उसी आसन में बैठे ही सतसंग करते थे तथा भक्तों के चले जाने के पश्चात् पुनः ध्यान में चले जाते थे। किसी ने कभी भी उन्हें लेट कर निद्रा लेते नहीं देखा था। संभवतः वह निद्रा भी बैठे-बैठे ही ले लेते थे। एक बात और है। मनुष्य को जितना आराम समाधि में मिलता है, उतना निद्रा में भी नही मिलता। निद्रा अभाव के ज्ञान की वृत्ति है। चित्त में कितनी भी एकाग्रता हो, किन्तु फिर भी चंचलता का कुछ न कुछ अंश रहता ही है। इस लिए निद्रा में भी पूरा आराम नहीं मिल पाता। समाधि में वृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है। न भाव की वृत्ति, न अभाव की कोई वृत्ति, न कोई दृश्य न ध्येय। न कोई विचार, न संकल्प। पूरी तरह निरुद्ध। पूर्ण विश्राम। पूर्ण निवृत्ति। शील नाथ महाराज कभी तो शक्ति की क्रिया में लीन हो जाते थे, तो कभी क्रिया से भी ऊपर उठ कर निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाते थे। उस समय उन्हें पूरा आराम मिल जाता था। अतः उन्हें निद्रा की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

अब तुम समझ गए होगे कि योगियों को निद्रा की आवश्यकता क्यों नहीं पड़ती। इस अवस्था को निद्राजय कहा जाता है। इस का अर्थ यही है कि योगी निद्रा की कमी की पूर्ति समाधि की अवस्था में कर लेते हैं। शील नाथ महाराज सिद्ध पूर्ण योगी थे। संकल्प मात्र से समाधि अवस्था में जा सकते थे। जब तक चाहें उस अवस्था में रह सकते थे। यदि वे सोते नहीं थे तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं। हां, सामान्य जन जो इस बात के मर्म को नहीं जानते, तथा जिन के समीप मनुष्य के लिए निद्रा आवश्यक है, उन के लिए यह अवश्य एक कौतूहल का विषय हो सकता है अथवा उन के लिए यह कोई चमत्कार हो सकता है।

कुण्डलिनी शक्ति

नाथ सम्प्रदाय में कुण्डलिनी जाग्रति का साधन प्रचिलित था, इसी लिए इसे सिद्ध सम्प्रदाय कहा जाता है। महाराजश्री नेकहा, "गोरक्ष नाथ विरचित सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति के अनुसार कुण्डलिनी अप्रबुद्धा तथा प्रबुद्धा, दो प्रकार की है। अप्रबुद्धा अचेतन रूपा स्वभाव से कई प्रकार के चिन्तामूलक व्यापारों से युक्त कुटिल स्वरूपा प्रसुप्त शक्ति है। इस स्तर पर शक्ति इन्द्रियों से अभिन्न हो कर कार्यशील होती है। कुण्डलिनी का दूसरा प्रकार प्रबुद्धा है जो योगियों के विकारों को निर्मल बना कर उर्ध्वगमिनी अवस्था है तथा इन्द्रियों से भिन्न प्रतिभासित होती है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी योगियों के प्रबोध का कारण है। शक्तिपात का प्रयोजन कुण्डलिनी को अप्रबुद्ध अवस्था से प्रबुद्ध-अवस्था में लाना है।

नाथ सम्प्रदाय में कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति पर विशेष बल दिया जाता रहा है किन्तु उन्हों ने सर्व साधारण के लिए इस विद्या को यथा संभव गुप्त ही रखा। उन का लक्ष्य शिष्यों की संख्या वृद्धि की अपेक्षा उन में गुणात्मक योग्यता के निर्माण की ओर अधिक रहा है। जो जिस साधन का अधिकारी होता था उसे वैसा ही साधन दिया जाता था तथा योग्यता सिद्ध हो जाने पर उच्चतर साधन प्रदान किया जाता था। शक्तिपात् से पूर्व वह साधकों से विभिन्न प्रकार के साधन कराते थे जैसे हठयोग का अभ्यास, जप, गुरुसेवा, ध्यान, भक्ति आदि। परिपक्व अवस्था हो जाने पर ही शक्तिपात् का प्रयोग करते थे। परिणामतः नाथ सम्प्रदाय में बड़े-बड़े सिद्ध महापुरुष हुए जिन्हों ने अपने साधन, सिद्धिबल तथा व्यक्तिगत विकास से जनता को पर्याप्ति प्रभावित किया। शक्तिपात् के क्षेत्र में नाथ-सम्प्रदाय के जोड़ का दूसरा सम्प्रदाय नहीं। इस क्षेत्र में उन का योगदान अद्वितीय है। ऐसे ही सम्प्रदाय में शील नाथ महाराज ज्योत्सना फैलाते चन्द्र के समान प्रकट हुए। अपनी सतत् साधना से सभी को आह्लादित कर दिया। अपनी सीधी- सादी किन्तु प्रबुद्ध वाणी से विद्वानों तथा पण्डितों को भी चुप करा दिया तथा उन का घमण्ड चकनाचूर कर दिया। अन्तर से कोमल तथा बाहर से कड़क व्यवहार से सब को अनुशासित रखा।

महाराजश्री शीलनाथ महाराज के जीवन की एक घटना का वर्णन करते हुए कहा, "एक बार शील नाथ महाराज धूनि के पास बैठे थे। धूनि से उठने वाली लपटें रात के अंधेरे को चीरते हुए चारों ओर प्रकाश फैला रही थीं। एक दम सुनसान निर्जन वन था। पक्षी भी अपने घौंसलों में दुबके आराम कर रहे थे। एक दम क्रियाहीनता, स्तब्धता तथा शान्तता का वातावरण था। स्तब्धता ऐसी कि दिल की धड़कन भी सुनाई देती थी। दूर एक वृक्ष की शाखा पर एक उल्लु बैठा अपनी

स्थिर आंखों से अंधेरे में अपना शिखर तलाश रहा था।

ऐसे में आकाश मार्ग से उड़ता हुआ एक सिद्धयोगी उधर से निकला। उस समय वह जगत को अपने से बहुत हीन समझता हुआ उड़ता आ रहा था। उस जंगल की निर्जनता में एक धूनि प्रज्वलित दिखाई दी। उत्सुकता वश वह धूनि की ओर बढ़ा। धूनि के ऊपर आते ही उस की गति अवरुद्ध हो गई। त्रिशंकु की भांति अधर में ही स्थिर हो कर रह गया। नीचे देखा तो धूनि के पास एक महात्मा बैठे दिखाई दिए। योगी समझ गया कि इस महात्मा ने मेरी गति अवरूद्ध कर दी है। आकाश में एक आवाज़ प्रतिध्वनित हुई, "मैं अपने रास्ते जा रहा था। आप की मैं ने कोई हानि नहीं की, फिर मेरी गति अवरुद्ध कर देने का क्या कारण है।"

शील नाथ महाराज- इतने लम्बे अन्तराल के पश्चात् किसी सिद्ध योगी को इस प्रकार आकाश में उन्मुक्त विचरण करते देखा है। हम तो आप के दर्शनों के लालायित हैं। थोड़ी देर हमारे पास विश्राम कीजिए, थोड़ा सतसंग कीजिए, फिर चले जाइए ।

योगी समझ गया कि कोई सिद्ध-पुरुष है, सिद्धों का भी सिद्ध है। इस की इच्छा का अनादर करना न उचित है, न ही संभव है। उस ने मन में विचार किया कि उस का उतरना भी कैसे संभव हो सकता है जब कि उस की गति अवरुद्ध हो चुकी है।

इस पर शील नाथ महाराज बड़े ज़ोर से हंसे, "किस ने कहा है कि आप की गति अवरुद्ध है ? इतना कहना था कि योगी उड़ता हुआ नीचे उतर आया। शील नाथ जी ने उसे प्रणाम किया।

शील नाथ महाराज- श्री चरण कहां से पधारे हैं ?

योगी- चंबल के किनारे से। मैं प्रायः वही वास करता हूं। चार छः साधु मेरे साथ और बने रहते हैं। नर्मदा मैया की दर्शन की इच्छा हुई तो इधर चला आया।

शील नाथ महाराज- आप के दर्शन कर अतीव आनन्दित हूं। कई दिनों के पश्चात् किसी सिद्ध योगी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

योगी- आप के दर्शनों से धन्य तो मैं हो गया। हम अपने आप को बड़ा सिद्ध समझते थे किन्तु आप ने मेरी गति को अवरुद्ध कर के मेरा अभिमान तोड़ दिया है। अब आप एक कृपा और करें कि मेरी सिद्धि लौटा दें। गति-हीनता से मैं तो पंगु हो कर रह जाऊंगा।

शील नाथ महाराज- आप चिन्ता न करें। साधु से किस बात का भय ? साधु किसी का अमंगल नहीं कर सकता। फिर आप की परिश्रम से कमाई हुई सिद्धि को कोई कैसे छीन सकता है ?

फिर दोनों में काफी देर तक सतसंग हुआ। परस्पर परिचय हुआ। भविष्य में मिलते रहने की बात हुई। साधन संबंधी चर्चा हुई। योगी ने कहा, "आप के विषय में कई महात्माओं से सुनता आ रहा था। आज दर्शन पा कर कृतार्थ हुआ।

तब योगी का शरीर आकाश में उठा। दोनों ने एक दूसरे को प्रणाम किया तथा योगी अपने गंतव्य की ओर बढ़ गया। सिद्धि को निष्फल कर देना भी कोई सिद्धि है ?

महाराज श्री- प्रत्येक सिद्धि का कुछ वैज्ञानिक आधार है। उस आधार को खिसकाया भी जा सकता है किन्तु शीलनाथ महाराज का प्रयोजन किसी की सिद्धि के आधार को खिसकाना नहीं था, वे केवल सतसंग के लिए अवसर चाहते थे। वे स्वयं एक साधु थे, तपस्वी थे। तप के परिश्रम को समझते थे। उन का उद्देश्य अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं था। साधु का यही लक्षण होता है।

महाराजश्री ने आगे कहा, "अब शीलनाथ महाराज की सिद्धि की एक घटना सुनाता हूं। एक बार कोई सिद्ध महापुरुष शीलनाथ महाराज के संबंध में कई लोगों से, कई दिनों से सुनते आ रहे थे। मन में दर्शन करने की लालसा जागी तथा मन में शक्ति-परीक्षण का भी विचार आया। चल दिए शीलनाथ महाराज की ओर।

शीलनाथ जी अपने आसन पर बैठे थे। दर्शनार्थियों की भी भीड़ लगी थी। स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-विरक्त, सभी पंक्ति में लगे थे। एक-एक आता, दर्शन-प्रणाम कर, प्रसाद ले कर चला जाता था। सिद्ध-पुरुष भी अपने हाथ में एक छोटी सी लुटिया लिए पंक्ति में लगे थे। जब उन की बारी आई तथा उन्हों ने प्रणाम किया तो शीलनाथ महाराज ने भी महात्मा जान कर उन्हें प्रणाम किया तथा पूछा कि महाराज ! कैसे पधारना हुआ ?

सिद्ध पुरुष- आप का बहुत गुणगान सुना तो दर्शनों की लालसा खेंच कर यहां ले आई।

शीलनाथ महाराज- हमारे योग्य कोई सेवा हो तो कहिए।

सिद्ध पुरुष- हमें थोड़े दूध की आवश्यकता है, बस यह लुटिया भर। यदि आप के यहां से भिक्षा मिल सके तो !

शीलनाथ महाराज ने एक व्यक्ति को दूध का एक लोटा ले आने को कहा। जब दूध आ गया तो शील नाथ महाराज ने कहा, "हमारी सेवा ग्रहण कीजिए"

सिद्ध पुरुष ने लुटिया आगे कर दी तथा शीलनाथ महाराज ने उस मे दूध उंडेलना आरंभ किया। आश्चर्य जनक घटना घटी। न लुटिया भरी जा रही थी, न दूध की धारा बंद हो रही थी। बड़ी देर तक यह कौतुक चलता रहा। देखने वाले सब

लोग चकित। दोनों महापुरुष मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। कितने मन दूध उस छोटी सी लुटिया में समा चुका था किन्तु अब भी ग्रहण किए जा रही थी। शीलनाथजी का भण्डार भी अखण्ड था, धारा बहे जा रही थी। अन्ततः दोनों ने हाथ के पात्र फैंक दिए तथा गले मिल गए

सिद्ध महापुरुष- जैसा यश सुना था वैसा ही पाया।

शीलनाथ महाराज- भगवती की लीला किसी अधिकारी पुरुष के माध्यम से ही प्रकट होती है। आप की कृपा से आज आप के दर्शन हुए।

महाराजश्री- देखा महापुरुषों का कौतुक! किन्तु सामान्यतः शील-नाथजी सिद्धियों के प्रदर्शन के विरुद्ध थे, पर सिद्धमहापुरुष जी ने एक प्रकार से शीलनाथ महाराज को अपनी शक्ति का प्रयोग करने पर विवश कर दिया था। जिस प्रकार योगी की गति अवरुद्ध कर के शीलनाथ महाराज ने उसे नीचे उतारा था, उस समय वहां अन्य कोई उपस्थित नहीं था इस लिए प्रदर्शन का प्रश्न ही नहीं। वह कहा करते थे कि साधु सिद्धियों के अधीन हो कर नहीं रहता, उन के प्रति उदासीन रहता है। अवसर आने पर यदि स्वाभाविक रूप से सिद्धियां कार्यशील हो जाए, बिना उस के कहे ही उस की कार्य-सिद्धि करने लगे, तो साधु पर इस का कोई उत्तरदायित्व नहीं। साधु तो अपनी मस्ती में रहता है।

शीलनाथ महाराज के अलौकिक चरित्र को शब्दों में व्यक्त कर पाना असंभव है। भक्त एवं साधक दिव्य-लीलामृत का पान करते हैं, उन के जीवन प्रसंगों को कहते-सुनते हैं तथा अन्तर में आनन्दानुभव करते हैं। इस चरित्र को पूरी तरह जानने-समझने के लिए शीलनाथ महाराज के समान ही सिद्धपुरुष की आवश्यकता है। अज्ञानी जीव तो उस की तनिक सी सुगंध ले के ही मौन रह जाते हैं।

हम बार-बार इस बात को कहते आ रहे हैं कि शीलनाथ महाराज की साधन-लीला केवल इसी जन्म की ही नहीं थी, अपितु कई जन्मों से अध्यात्म-पथ पर आरुढ़ चले आ रहे थे, जिस से उन्हें जन्म से ही सिद्धावस्था प्राप्त हो गई थी। त्याग, तपस्या एवं वैराग्य ने मानो मूर्तिमान स्वरूप धारण कर, अपने-आप को शीलनाथ महाराज के रूप में प्रकट कर दिया था। आप में संचय-वृत्ति नाम को भी नहीं थी। एक कौपीन शरीर पर, तथा दूसरी कंधे पर, हाथ में धूनि की लकड़ी, चलते समय यही उन की संपत्ति थी। संसार का सारा अपरिग्रह उन में आ कर समा गया था। जब शीलनाथ महाराज ने महाराज मल्हार राव की प्रार्थना पर देवास में रहना स्वीकार कर लिया, तो महाराजा ने लाखों रुपए की लागत से शीलनाथ धूनि संस्थान के नाम से स्थान का निर्माण करा दिया। किन्तु जब शीलनाथ महाराज का अन्तिम समय निकट आया, तथा शरीर त्याग के लिए गंगा-किनारे प्रस्थान किया

तो आप ने महाराजा से कहा, "मल्हार राव ! जब आए थे तो एक कौपीन शरीर पर, तथा एक कंधे पर थी, अब जा रहे हैं तो देख लो ! कौपीन के अतिरिक्त हमारे पास कुछ नहीं। साधु जीते जी सब कुछ त्याग देता है। वह किसी वस्तु को अपना मानता ही नहीं। यदि अपना मान ले तो त्याग करते समय दुख होता है।"

महाराजश्री ने कहा, "इस पर गोंदवलेकर महाराज की एक घटना याद आ रही है। महाराज नंगे पांव जा रहे थे, पीछे चलता ब्रह्मचारी चप्पल पहने था। वह सोचने लगा कि गुरु महाराज नंगे पांव चल रहे हैं तथा मैं चप्पल पहने हूं।" यह सोच कर उस ने चप्पल उतारी तथा बग़ल में दबा ली। जब गोंदवलेकर महाराज ने पीछे घूम कर देखा तो उन का शिष्य नंगे पांव, चप्पल बग़ल में दबाए था। पूछा कि चप्पल है तो पहन क्यों नहीं लेते। उत्तर मिला कि आप नंगे पांव चल रहे हैं, मैं चप्पल कैसे पहनूं ? पूछा कि चप्पल का क्या करोगे ? उत्तर मिला कि किसी अधिकारी को दे दूंगा। गुरु जी फिर चलने लगे। थोड़ी देर के पश्चात रुक कर बोले, "देख अभी तू ने मन से चप्पल का त्याग नहीं किया। अभी उस के प्रति अपनत्व का भाव है। त्याग तो तब होता जब मन में यह भाव होता कि अब चप्पल का चाहे जो हो, मुझे अब कोई प्रयोजन नहीं। अधिकारी ले जाय या कोई अनधिकारी,या धूप-वर्षा में सूखती-सड़ती रहे, मुझे क्या ? मैं ने तो त्याग ही दी है। अब ऐसा कह कर चप्पल को यहां छोड़ दे, फिर उस का जो हो सो हो"

शील नाथ महाराज का वैराग्य इसी स्तर का था। किसी वस्तु में अपनत्व का भाव नहीं था। यहां तक कि वह शरीर की चिन्ता भी नहीं करते थे। यश-अपयश के प्रति भी उन्हें कोई लगाव नहीं था कौपीन तथा धूनि उन की सारी संपत्ति थी किन्तु उस में भी उन का मोह नहीं था। निर्जन एकान्त तथा भयानक वनों में, पहाड़ों की कंदराओं में, रेत भरे मैदानों में, नदियों के सुरम्य शान्त तटों पर, वर्षा, सरदी या धूप सहन करते हुए तपस्यारत् रहते थे। भय उन के मन को छू तक नहीं पाया था। उन्हें संसार का कोई भी प्रलोभन, कोई भी आकर्षण, अथवा कोई भी रसात्मक पदार्थ कभी भी प्रभावित नहीं कर पाया था। किसी भी सुविधा का अभाव कभी खला नहीं था। किसी का ठाठ-बाठमय जीवन देख कर मन ललचाया नहीं था।

महाराजश्री शीलनाथ महाराज के संबंध में कहते जा रहे थे, "शीलनाथ ने जीवन के नब्बे वर्ष पैदल भ्रमण में ही व्यतीत किए। भारत भर का भ्रमण तो किया ही, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत, चीन, ब्रह्म देश की घाटियों, वादियों, पहाड़ों, रेगिस्तानों तथा दुर्गम रास्तों को भी पैदल ही नाप डाला। निरन्तर भ्रमण तथा निरन्तर साधन, यह ताल-मेल बिठाना कितना कठिन है ? किन्तु आप ने भ्रमणशील

जीवन को भी अपनाया तथा निरन्तर साधन का क्रम भी चलाया। आप भ्रम मिटाने के लिए निरन्तर भ्रमणशीलता को निश्चित उपाय मानते थे। भ्रमण से उदारता तथा सहन शीलता आती है। भ्रमण कूप माण्डूक्य वृत्ति का नाशक है। इस से भगवती की विविधता भरी लीलाओं का दर्शन होता है। साधक नाना संस्कृतियों, भाषाओं, रीति रिवाज़ो, पहरावों एवं साधना-पद्धतियों से परिचत होता है। इन सब में मनुष्य भ्रमण भी करता रहता है, तथा अपने आप को इन सब से पृथक भी अनुभव करता है। किन्तु साधक इस से लाभ तभी उठा पाता है जब भ्रमण के साथ साधन का क्रम भी चलता रहे।

मैं ने कहा- महाराजजी। भ्रमण में साधन की निरन्तरता बना कर रख पाना अत्यन्त कठिन है। नित्य नया नगर, नया वातावरण, नए लोग। कुछ पता नहीं कि आज कहां रहना है ? कहां खाना है ?

महाराजश्री- जिस को रहने-खाने की चिन्ता हो उस के लिए वास्तव में ही कठिन है किन्तु शीलनाथ महाराज रहने-खाने की चिन्ता से मुक्त थे। नगर से दूर, किसी वृक्ष के नीचे, किसी गिरि कन्दरा, कहीं नदी तट पर, जंगल एकान्त में उन का वास होता था। किसी के घर ठहरने की उन की कोई कामना नहीं थी। जंगल के फल-मूल उपलब्ध न हों तो कई दिन भूखा रहने का उन को अच्छा अभ्यास था। फिर रहने-खाने की चिन्ता वह क्यों करने लगे ? उन का साधन निरन्तर चलता रहता था।

यह तो शारीरिक साधनमय वृत्ति की बात है। मानसिक साधन-मय वृत्ति बना कर रखना और भी अधिक कठिन है जब कोई क्रोध से उत्तेजित हो उठता है, परनिन्दा तथा परदोष-दर्शन में रत् रहता है, लोभ मोह आसक्ति की भावनाएं तरंगित होती रहती हों, तो साधक साधन से कट जाता है। वह भ्रमण करे अथवा नहीं, किन्तु उस का मन गिरता चला जाता है। शीलनाथजी ने अपने आप को इन विकारों से सदैव बचाए रखता है। वे अपने मन को इतना अवसर देते ही नहीं थे कि वे बेकार की उछल-कूद करता रहे। अपने मन को साधन रूपी अमृत कुण्ड में डुबोए रखते थे।

मैं ने पूछा- आप शीलनाथ महाराज के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् देवास आए, इस लिए उन का दर्शन लाभ नहीं कर सके।

महाराजश्री- हां, उन के जीवन काल में मैं उन के दर्शन नहीं किए, किन्तु यह कहना भी सही नहीं होगा कि मैं ने उन के दर्शन नहीं किए। उन्हें एक बार धूनि के पास बैठे देखा था, तब उन से कोई बात नहीं हुई थी। अभी थोड़े ही दिन पहले की बात है। मैं आराम करने के पश्चात् अपने कमरे में बैठा था, कुछ ध्यान की सी अवस्था थी। आंखे आधी खुलीं थी कि इतने में शीलनाथ जी ने कमरे में प्रवेश

किया। कुछ देर तो मैं समझ ही नहीं पाया कि यह क्या हो रहा है, फिर जल्दी ही शीलनाथ जी को पहचान लिया। मैं उठ कर खड़ा हो गया। प्रणाम किया।

शीलनाथ महाराज- आप के दर्शन करने आया हूं। आप ने देवास में आध्यात्मिकता की ज्योति को जलाए रखा है। आज का मायामय युग स्वार्थ तथा आडम्बर से भरा है। आप के समान महापुरुष उड़ती रेत से भरे मरुस्थल में शीतल जलयुक्त हरियाली के समान है जहां आ कर दुखी जीव अपनी प्यास बुझा सकते हैं।

महाराजश्री- मैं तो आप के समक्ष छोटे बालक की तरह हूं। आपने जिस तपस्वी जीवन का जगत के सामने, उदाहरण प्रस्तुत किया है उस के समक्ष हम जैसे लोग भला कहां ठहर सकते हैं (फिर थोड़ा रुक कर) आप खड़े क्यों हैं, आसन ग्रहण करें।

फिर मैं ने उन्हें अपने आसन पर विराजमान कराया तथा स्वयं नीचे बैठ गया।

शीलनाथ महाराज- आप ने शक्तिपात को जन-जन तक पहुंचाया। शक्तिपात् की परम्परा तो नाथ सम्प्रदाय में भी रही है किन्तु उस को इतना व्यापक रूप कभी नहीं दिया गया। कुछ अधिकारी शिष्यों पर ही शक्ति का प्रयोग किया जाता था। हमारा समय आते-आते इस प्रयोग का क्षेत्र और भी सीमित हो गया क्योंकि अधिकारी शिष्य मिलने दुर्लभ हो गए थे। शिष्यों में आध्यात्मिकता के प्रति गंभीरता का अभाव होता जा रहा था।

महाराजश्री- इसी लिए आप जगत के सामने इतने महापुरुष प्रस्तुत कर सके। हम ने जन-जन तक इस विद्या का प्रसार अवश्य किया है किन्तु आप के जैसा स्तर हम बना कर नहीं रख पाए।

शीलनाथ महाराज जाने के लिए उठ खड़े हुए। उन का राजपूती शरीर, छाती पर बंधी दाढ़ी, उलझी हुई केश-राशि, शरीर पर केवल कौपीन, आज भी आंखों के सामने है।

मैं ने पूछा कि यह कितने दिन पहले की बात है ?

महाराजश्री- कोई दस दिन पहले की बात है

मैं ने कहा- आप ने मुझे तो नहीं बताया।

महाराजश्री- मैं अपने सारे अनुभव कहां बताता हूं। बताना भी नहीं चाहिए। यह तो इस विषय पर बात चल निकली, तो इतना भी कह दिया

मैं ने पूछा - क्या शीलनाथ महाराज अभी वर्तमान हैं। उन्होने तो देह का त्याग कर दिया था।

महाराजश्री - महापुरुष कभी नहीं मरते, केवल अदृश्य हो जाते हैं। जिस

पर कृपा करते हैं उसे दर्शन देते हैं। शीलनाथ महाराज भौतिक दृश्य तथा नाशवान देह त्याग कर अपने चिन्मय स्वरूप में अभी भी विराजमान है जहां से अपने भक्तों तथा अन्य अध्यात्म प्रेमियों पर कृपा करने में पूरी तरह सक्षम हैं।

धूनि-साधना

महाराजश्री का दो दिन के लिए भोपाल जाने का कार्यक्रम बना। सेवा में मैं साथ था। वहां सायं तथा प्रातः लोगों का आना होता था। दोपहर के समय महाराजश्री के पास मैं अकेला होता था। शीलनाथ महाराज का विषय यहां भी चलता रहा।

महाराजश्री- शीलनाथ महाराज का ध्यान करते ही, उन की प्रज्वलित धूनि आखों के सामने आ जाती है। साधनकाल के प्रारंभ से ही उन्हों ने धूनि का व्रत ले लिया था तथा उसे नब्बे वर्ष की आयु तक प्राणपण से निभाया। वह धूनि का जलती ज्वालाओं के एकदम पास बैठा करते। वास्तव में यह धूनि अन्तर में जलती आध्यात्मिक अग्नि का प्रतीक थी। बाहर की अग्नि से बाह्य-भौतिक शरीर को तपाना, तथा अन्तर में जल रही अग्नि सें मन को, वासना को, विकारों को, संस्कारों को तपाना। शीलनाथ जी के अन्तर् में वासनादि काफी कुछ जल चुके थे, किन्तु बचे-खुचे विकारादि भी जब तक शेष नहीं हो जाते, तब तक असावधान कैसे हुआ जा सकता था। जब धूनि में ज्वालाएं प्रचन्ड रूप धारण करती थीं तो अन्तर की अग्नि भी भड़क उठती थी, तब शक्ति की क्रियाशीलता अत्यन्त वेगवान हो जाती थी। शीलनाथ महाराज धूनि के पास बैठे-बैठे अन्तर-बाह्य तपश का आनन्द लेते रहते थे। देखने वालों को शीलनाथ महाराज का शरीर धूनि के ताप को सहन करते तो दिखाई देता था किन्तु उन के अन्तर में क्या हो रहा है यह अदृश्य ही रह जाता था। न शीलनाथ जी को किसी को कुछ बताने की आवश्यकता ही थी।

नब्बे वर्ष की आयु होने पर शीलनाथ महाराज ने अनुभव किया कि अन्तर् की अग्नि प्रचण्डता के स्थान पर सौम्यता धारण कर चुकी है। बची-खुची वासनाएं भी जल कर भस्म हो चुकी हैं। अब बाह्य धूनि की आवश्यकता भी नहीं रह गई अतः उन्हों ने धूनि का अपना व्रत त्याग दिया। जहां वह बैठते थे वहां धूनि तो प्रज्वलित कर ही जाती थी किन्तु चलते-फिरते धूनि की जलती लकड़ी ले कर चलने का नियम छोड़ दिया था।

अन्तर् के संस्कार एवं वासनाएं जल जाने पर शीलनाथ महाराज में या तो प्रज्ञा के संस्कार थे अथवा माया का क्षीण सा आवरण था जो शक्ति की सौम्यता का विषय था। रजोगुण तथा तमोगुण की क्लिष्टता पूरी तरह निवृत्त हो चुकी थी। एक दिन माता ने ध्यान में आ कर कहा, "शीलनाथ! अब मेरा सत्य तथा यथार्थ स्वरूप तुम पर प्रकट होने में थोड़ी ही देर है। तुम्हारे जैसा सच्ची लगन वाला युगों में कोई

एक होता है। अब जगत का तुम्हारे मन को प्रभावित करने का समय निकल चुका है। तुम माया के बंधन से मुक्त हो गए हो। माया भी मेरी शक्ति है। तुम्हारे लिए मैं ने अपनी माया रूपी शक्ति को समेट लिया है।"

शीलनाथ महाराज ने चामुण्डा माता के मंदिर की ओर देखते हुए दोनो हाथ जोड़े तथा साष्टांग प्रणाम किया। बोले, "मां, तेरा ही आसरा है। तू ही बंधन में डालती है तू ही मुक्त करती है। दास पर कृपा बनी रहे। "शीलनाथ महाराज कितनी ही देर साष्टांग प्रणाम की मुद्रा में पड़े रहे।

आसन का महत्त्व

महाराजश्री ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "योग-मार्ग में आसन-सिद्धि का साधन में विशेष स्थान है, इसी लिए एक अंग के रूप में आसन को साष्टांग योग के साधन-क्रम में सम्मिलित किया गया है। यह ठीक है कि शक्तिपात् के पश्चात् साधन में पहले क्रियाएं होती हैं, जिस में एक आसन स्थिर रख पाना कठिन होता है, तथा न ही ऐसा प्रयत्न करने का निर्देश दिया जाता है। किन्तु साधन की परिपक्वता हो जाने पर, क्रियाओं के सौम्य हो जाने से, आसन-सिद्धि होने लगती है। शीलनाथ महाराज साधन की प्रारंभावस्था से बहुत आगे निकल चुके थे। उन के काषाय बहुत कुछ निवृत्त हो गए थे। वह साधन की चरम अवस्था के समीप पहुंचते जा रहे थे। वास्तव में उन्हों ने अधिकांश कार्य पूर्व जन्मों में ही कर लिया था, जिस कारण उन की आसन-सिद्धि में आश्चर्य जनक विकास था।

आसन की स्थिरता के साथ मन की निश्चलता तथा एकाग्रता का भी विकास होता जाता है। एकाग्रावस्था को योग में संयम कहा है। यही संयम की स्थिति ही सिद्धियों की प्रदाता है। शीलनाथ महाराज को कई सिद्धियां प्राप्त थीं जिस का अर्थ है कि वह संयम की स्थिति को पार कर चुके थे। योगी जो कुछ भी प्राप्त करता है, आसन की स्थिरता में ही करता है। अष्टांग योग आसन के साथ-साथ चलता है। आसन स्थिर होना चाहिए तथा सुखकर भी। सिद्धासन, पद्मासन अथवा सुखासन कोई सा भी आसन लिया जा सकता है, किन्तु अविचल तथा निश्चल अवस्था होना आवश्यक है। उस के लिए दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक साधन की आवश्यकता है।

शीलनाथ महाराज जितने धूनि के पक्के थे, उतने आसन के भी पक्के थे। दिन भर एक आसन, सिद्धासन पर बैठे ही कोई आ जाय तो उस से संक्षिप्त सी बात कर लेते थे, तदनन्तर वृत्ति को अन्तर की ओर मोड़ लेते थे। निरन्तर आसन लगाए रखने से वृत्ति भी उन के अनुकूल हो गई थी। आसन तथा वृत्ति का गहरा संबंध है।

इसी लिए योग-मार्ग में आसन को इतना महत्त्व दिया गया है।

महाराजश्री कहते चले गए, "योगमार्ग में वर्णित पांच नियमों में से एक नियम सत्य है। सत्य विचार, सत्य व्यवहार, सत्य आचार एवं सत्य सम्भाषण। सत्य को योग का आधार कहा जा सकता है। जो व्यक्ति असत्य का आचरण करता है वह सत्य स्वरूप परमात्मा में कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। हमारे प्राचीन कालीन सभी ऋषि सत्य-भाषी थे। यदि उन के मुख से कोई असत्य बात निकल भी जाती थी, तो वह सत्य हो जाती थी। योग-दर्शन में सत्य में प्रतिष्ठित हो जाने का फल सत्यनिष्ठ योगक्रिया तथा फल का आश्रय बन जाना कहा गया है। योग अहिंसा प्रधान-मार्ग है। योगी किसी का अनिष्ट सोच ही नहीं सकता। हां, किसी को वरदान अवश्य दे सकता है।

तपस्याकाल के प्रारंभिक चालीस वर्ष शीलनाथ महाराज ने मौन धारण किए रखा। इस बीच न बोले, न लिख कर बात की तथा न संकेत से ही अपने अन्तर की बात को व्यक्त किया। इस अवधि में उन्हों ने पर्याप्त चिन्तन-मनन किया, अपने अन्तर को टटोला, अपने दोषों को तलाशा तथा शुद्ध-स्वर्ग की भांति प्रकट हुए। मौन-काल में तो असत्य-भाषण का प्रश्न ही नहीं था। जब उन्हों ने मौन तोड़ा तो सत्य में प्रतिष्ठित हो चुके थे उन में वाक्-सिद्धि उदय हो चुकी थी किन्तु उस के प्रयोग से वे सदैव बचते रहे। शीलनाथ महाराज स्वयं सत्यवादी थे, तथा दूसरों से सत्य आचरण की अपेक्षा रखते थे। उन्हों ने कभी किसी के साथ अपने को वचन-बद्ध नहीं किया, किसी को मिथ्या आश्वासन नहीं दिया। इस विषय में वह बड़े सतर्क थे।

दूसरे दिन दोपहर में फिर एकान्त मिल गया। महाराजश्री ने कल के विषय को आगे बढ़ाया।

महाराजश्री- आज कल महात्माओं में मुक्तहस्त आशीर्वाद बाटने की प्रथा सामान्य बात है। आशीर्वाद फलीभूत न हो तो उस के लिए सौ बहाने बनाए जा सकते हैं। झूठा आशीर्वाद देना भी असत्य का आचरण ही है। शीलनाथ महाराज इस विषय में बहुत सतर्क थे। आशीर्वाद तो दूर रहा, उन्हों ने किसी को अपने हाथ से प्रसाद भी नहीं दिया। कुछ लोग प्रसाद को ही आशीर्वाद मान लेते हैं तथा इस से मनोवांछित फल प्राप्त नहीं होने पर महात्माजी को ही झूठा मान लेते हैं। शीलनाथ महाराज यदि किसी को कुछ बोल देते थे तो कैसा भी संकट आ जाए उस पर अटल रहते थे।

बड़े-बड़े पण्डित, शास्त्री, वकील, पी-एच-डी, बोलने में बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु हृदय को प्रभावित नहीं कर सकते। उन की बातों में आध्यात्मिकता तथा अनुभव का लेष भी नहीं होता। बुद्धि से बोलते हैं, हृदय तो खुलता ही नहीं। रसहीन शुष्क भाषा। इस के विपरीत कोई ऐसा अनुभवी होता है, जिस ने अधिक पठन-पाठन नहीं किया, किन्तु उस की बातों में गहराई है। सीधी-सादी गंवारू भाषा में बात करता है, कुछ आध्यात्मिक संदेश होता है, अनुभवों का आधार होता है। वे केवल वाणी विलास नहीं करता। उस की वाणी हृदय से हृदय को जोड़ती है। मन में प्रेमभाव पैदा करती है। अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ करती है।

शीलनाथ महाराज ने छोटी आयु में ही गृह त्याग कर दिया, इस लिए उन की विधिवत् कोई शिक्षा नहीं। वह आरंभ से ही साधन तथा अध्यात्म की ओर मुड़ गए। उन्हों ने ज्ञान-संचय नहीं किया अपितु अन्तर से प्रकट किया। उन में नीति, विवेक तथा अनुभूतियों की परिपक्वता थी। वे अधिक लम्बी बात नहीं करते थे पर दो एक वाक्यों में ही किसी प्रकाण्ड विद्वान को निरुत्तर कर देते थे। यद्यपि वे ईरान चीन आदि विदेशों में भी भ्रमण शील रहे किन्तु उन्हों ने ग्रामीण हरियाणवी बोली का परित्याग नहीं किया। मालवा में घूमते तथा देवास में रहते भी अपनी मूल भाषा का ही प्रयोग करते रहे। उन का ध्यान करते ही कबीर तथा रविदास का स्मरण हो आता है। अपने पारंपरिक धंधों का प्रशिक्षण ही उन की प्रारंभिक शिक्षा थी। उन्हों ने कभी पाठशाला का द्वार नहीं लांघा, व्याकरण एवं साहित्य की बारीकियों में नहीं उलझे, किन्तु उन के साहित्य पर आज अनेकों लोग पी-एच-डी कर रहे हैं। कुछ बात थी जिस ने उन्हें इतना ऊंचा उठा दिया। मन की निर्मलता, विषयों के प्रति विरति, ईश्वर के प्रति अनुराग तथा साधना के प्रति निरन्तरता एवं गंभीरता ने उन्हें अध्यात्म के उच्च शिखर पर आसीन कर दिया। वे संसार की दृष्टि से निर्धनतम व्यक्ति होते हुए भी, पारमार्थिक धन से माला-माल थे। इस अध्यात्म निधि ने उन की वाणी में तेजस्विता, मधुरता, विनम्रता एवं प्रेम भर दिया था। अन्तर् की अनुभूतियां, हृदय से प्रस्फुटित हो कर, वाणी के माध्यम से सारे संसार में सर्वत्र प्रसारित हो उठीं। उन की भाषा में व्याकरण के जोड़तोड़ नहीं थे, सुंदर शब्दों का सुरुचिपूर्ण चयन नहीं था, फिर भी जन-मानस पर उन का गहरा प्रभाव था।

शीलनाथ महाराज भी उसी कोटि के महापुरुष थे। उन की भाषा में साहित्य सौन्दर्य का अभाव था। अलंकारों तथा समासों के प्रयोग की ओर से उदासीन, सीधी-सादी अक्खड़ भाषा, किन्तु प्रभाव ऐसा कि सीधी हृदय में उतर जाय। वह अन्तर श्रृगांर करने में लगे रहे, वाणी के श्रृंगार की ओर उन का ध्यान नहीं था। वह जो भी बात करते थे, केवल मुंह से नहीं, हृदय से करते थे। ऐसे महापुरुषों की

अपरिष्कृत वाणी ही शास्त्र-रूपा होती है। वह शास्त्र पढ़ कर बात नहीं करते, हृदय तथा अनुभव से करते हैं।

हाज़िर-जवाबी शीलनाथ महाराज की विशेषता थी। एक बार एक मुसलमान सज्जन आए। कहने लगे, "हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कुछ भी समान नहीं। हर एक बात एक दूसरे के विपरीत है। इन दोनों का आपस में कैसे जम सकता है।" शील नाथ महाराज ने कहा, "दोनों खाते तो मुंह से, तथा चलते पावों से हैं, इस बात में तो जम जायगा"

इन की बातों से प्रभावित हो कर, कई लोग, नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित हो कर, वैराग्य-वृत्ति अपनाने की बात करते थे, तो शीलनाथ महाराज कहते, यह क्षणिक वैराग्य मेरे वचनों के कारण है, तुम्हारे चित्त की स्थाई-स्वाभाविक अवस्था नहीं। क्षणिक वैराग्य के आवेश में घर-बार का त्याग कर दोगे, तो पछताना पड़ेगा वैराग्य-वृत्ति को परिपक्व होने दो"

महाराजश्री- हिंसा तथा भय, देखने में दो शब्द हे किन्तु इन का परस्पर गहरा संबंध है। शीलनाथ महाराज रात के अंधेरे में, जंगलों-पहाड़ों पर अकेले विचरण करते थे, शत्रु सामने तलवार लिए खड़ा हो तो भी भयभीत नहीं होते थे। इस के दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि उन को कुछ ऐसी सिद्धियां प्राप्त हों जो निरन्तर उन की रक्षा करती रहें जैसा कि एक बार माताजी की टेकड़ी पर धूनि संस्थान में हुआ था, जब कुछ लोग आप को मारने के लिए आए तथा वहां उन्हें कई लोग दिखाई दिए तथा वह डर कर भाग गए थे। इस अवस्था में साधक में भय तो होता है किन्तु सुरक्षा-कवच के कारण निर्भय बना रहता है। दूसरी अवस्था में साधक की अहिंसा-सिद्धि हो जाती है। उस के प्रभा-मण्डल में आने वाले हिंसक-पशु तथा दुर्दान्त शत्रु भी वैरभाव का त्याग कर शान्त हो जाते हैं। जैसे शीलनाथ महाराज अंधेरे जंगल में घूमते थे तो विषैले सर्पादि भी वहीं रहते थे। कई बार उन की जटाओं में भी सांप उलझे हुए पाए गए अर्थात् इन के प्रभा-मण्डल में आ कर सर्पादि अपनी हिंसक वृत्ति भूल जाते थे। अंहिसा सिद्ध होते ही भय भाग खड़ा होता है। मनुष्य अपने मन के भय के कारण ही किसी से भयभीत होता है या प्राण बचाने के लिए भाग खड़ा होता है अथवा भयाक्रान्त होने पर उस में हिंसक-वृत्ति जाग उठती है तथा इस प्रकार किसी का वध कर देने की ओर प्रवृत्त होता है हिंसा तथा भय के भावों के चित्त से निकल जाने तथा दूसरों के भी वैरभाव त्याग देने से मनुष्य में निर्भयता आ जाती है। तब वह निर्भय होकर रात के अंधेरे में जंगलों में विचर सकता है। हिंसा पर उतारु भीड़ में निर्भय होकर प्रवेश कर सकता है, सामने शत्रु को देख कर भी उस के मन का संतुलन नहीं डोलता। योग में उन्नति के लिए इस

स्थिति का होना नितान्त आवश्यक है।

अधिक संभावना यह है कि शीलनाथ महाराज को अहिंसा सिद्धि तथा सुरक्षा-कवच दोनों प्राप्त थे। यह उन की मौज के आश्रित था कि किस सिद्धि का प्रयोग करें। वैसे वे तो यह कहते थे कि वे किसी भी सिद्धि का प्रयोग नहीं करते। शक्ति अपने-आप जब चाहे, तथा जिस सिद्धि का प्रयोग उचित समझे, कर लेती है। मैं इन अनावश्यक तथा साधन-विरोधी सिद्धियों के प्रयोग में नही पड़ता।

एक प्रश्न फिर भी उभर कर आता है कि जब शीलनाथ महाराज का अहिंसा सिद्ध था तो उन्हें सुरक्षा कवच की क्या आवश्यकता थी ? यहां यह बात स्मरण करवा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शीलनाथ महाराज ने किसी सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधन नहीं किया। उन्हें प्राप्त सभी सिद्धियां अकल्पिता थीं, साधन में स्वयंमेव प्रकट हुई थी अत: यह प्रश्न निरर्थक है। इस बात को भी महापुरुष ही ठीक तरह से जान सकते हैं कि संसार को कब कैसा अनुभव कराना चाहते हैं। यह भी हो सकता है कि आक्रमणकारी शीलनाथ महाराज के पास आ कर वैरभाव का त्याग कर देते। शीलनाथ महाराज ने दूसरा मार्ग चुना तथा उन्हें अपने पास आने से पूर्व ही, सुरक्षा-पंक्ति दिखा कर, भगा दिया। कब क्या तथा क्यों करते हैं ? इस बात को महापुरुष ही जान सकते हैं।

अब रही बात अहिंसा की।अहिंसा सिद्धि का प्रभाव काफी व्यापक है। ऐसा साधक ऐसा कोई कर्म नहीं कर सकता जिस में किसी की हिंसा हो, न कोई ऐसी बात कह सकता है जिस से किसी के मन को कष्ट हो। वह किसी को दुख देने की बात मन में सोच भी नहीं सकता। उस से अनजाने में भी किसी को कष्ट पहुंच जाए तो उसे बहुत पश्चाताप् होता है। तत्काल जा कर क्षमा मांग लेता है। शीलनाथ महाराज का सारा व्यवहार अहिंसापूर्ण था। वे हिंसा प्राणी-मात्र में ईश्वर को कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न मानते थे। यदि कोई उन का कोई अपकार भी कर देता तो उसे मन से क्षमा कर देते थे। क्षमाशीलता के बिना अहिंसा, कोरी बातों का विषय हैं। संसार अहिंसा के साधक के मनोभावों को समझ नहीं पाता। उसे झूठा, पाखण्डी तथा धूर्त समझता है। साधक सब सहन करता है किन्तु अपनी ओर से किसी को मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट नहीं पहुंचाता। यह सहनशीलता उस का साधन का अंग होती है। क्षमाशीलता के समान ही सहन शीलता भी अहिंसा-सिद्धि के लिए आवश्यक है। मन की उदारता भी अनिवार्य है। दीन-दुखियों को देख कर मन में दया की तरंगे उठने लगें। इस प्रकार अहिंसा के साथ ही क्षमाशीलता, सहनशीलता, उदारता तथा दयाभाव आदि की सिद्धि भी हो जाती है।

शीलनाथ महाराज की मन वचन तथा वाणी की अहिंसा पराकाष्ठा की

थी। वह मनुष्य मात्र से ही नहीं पशु-पक्षियों से भी अगाध प्रेम करते थे। किसी को कोई कष्ट हो तो उन का मन दया से भर उठता था। अपने प्रति कितनी भी बड़ी गलती हो, उसे उदारता से क्षमा कर देते थे। यह कोई ऐसा व्यक्ति ही कर सकता है, जिस की अहिंसा सिद्ध हो चुकी हो।

महाराजश्री, शीलनाथ महाराज की बात करते-करते भाव-विभोर हुए जा रहे थे। महात्माओं में भी एक दूसरे के प्रति द्वेष होता है। किसी की कोई प्रशंसा करे तो उन से सहन नहीं होती। किन्तु शीलनाथ महाराज के बारे में महाराजश्री जो भाव व्यक्त कर रहे थे, जिस प्रकार व्यक्त कर रहे थे, उस से महाराजश्री के हृदय की उदारता का परिचय मिलता है। महाराजश्री में शीलनाथ महाराज की प्रतिछाया दिखाई देने लगी थी। थोड़े ही अन्तराल से दोनों महापुरुषों का समय पास-पास था। शीलनाथ महाराज का जन्म तो राजस्थान में हुआ, किन्तु उन की पहचान देवास में स्थापित हुई।

मैं तथा महाराजश्री दोनों उठ कर घूमने के लिए बाहर निकल गए थे। शाम का समय होने का आ रहा था। पहले तो भीड़-भाड़ वाले बाज़ार में से हो कर चलते रहे, फिर खुली सड़क आ गई थी। पास में ही पार्क था, हम दोनों एक बैंच पर जा बैठे। बातों का विषय शीलनाथ महाराज ही थे। महाराज श्री कहते जा रहे थे।

महाराजश्री - शीलनाथ महाराज जीवन के नब्बे वर्ष भ्रमणशील रहे, जब कि उन्हों ने देवास में स्थाई निवास बनाया। भ्रमणकाल में उन का आसन प्राय: जंगलों, पहाड़ों, बियाबानों में ही रहा, किन्तु उन्हों ने कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारा। कई जगह तो उन्हें जंगली फल उपलब्ध हो जाते, किन्तु वह सब स्थानों पर सुलभ नहीं थे। कई बार आस-पास के गांव वालों को ज्ञात ही नहीं हो पाता था कि जंगल में कोई साधु भूखा बैठा है। अत: शीलनाथ महाराज को कई बार, कई-कई दिन भूखे ही काटने पड़ते थे किन्तु वह कमण्डल उठा कर कभी भी किसी गांव में भिक्षा मांगने नहीं गए। भिक्षा मांगने को वह ईश्वर पर अविश्वास मानते थे। जब साधु में समर्पण की कमी होती है तभी वह भिक्षा के लिए गांव की ओर भागता है। ईश्वर सब जानता है कि कोई कहां बैठा है। वह इस बात से भी अवगत है कि कोई भूखा है। यदि उस की कृपा होगी, तो कहीं से भी व्यवस्था कर देगा। यदि वह नहीं करता है तो उस की इच्छा है कि आप भूखे रहो। उस की इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न करना साधु का कर्तव्य नहीं।

प्रत्यक्ष मांगने के साथ-साथ शीलनाथ महाराज, मन में कहीं से भिक्षा की आशा करने को भी मांगने के समान ही मानते थे। मांगना भी तो मन की आशा को व्यक्त करना ही है। मांगने को सामान्यतया अभिमान को कुचलने का साधन कहा

जाता है, किन्तु उन में अभिमान था ही नहीं, इसलिए कुचलना किसे ? शीलनाथ महाराज के अनुसार मांगना मन की गिरावट का कारण है तथा गिरा हुआ मन ईश्वर से दूर हो जाता है। यदि आशा करोगे तो क्या आशा के संस्कार संचित हो कर चित्त पर आवरण रूप नहीं होंगे ? आवरणों का विकास ही चित्त की गिरावट है।

शीलनाथ महाराज भ्रमण काल में एक बार ऋषिकेश गए। जंगल में आसन लगा था। ऋषिकेश में भिक्षा-क्षेत्रों का प्रचलन सामान्य बात है। हज़ारों साधु इन क्षेत्रों से भिक्षा पाते हैं। जब भिक्षा का समय हुआ तो एक साधु ने आप से कहा कि भिक्षा लेने चलो। आप ने कहा कि मैं किसी के द्वार पर भिक्षा के लिए कभी गया नहीं। साधु ने कहा कि किस को पता है कि तुम यहां बैठे हो तथा तुम्हें भिक्षा ला कर दे देगा ? आप ने कहा कि कोई बात नहीं भूखे रह कर निर्वाह कर लेंगे। उस साधु को पता नहीं क्या सूझी कि उस ने शीलनाथ महाराज की भिक्षा ला कर दे दी। शीलनाथजी ने कहा, "देखा भगवान ने कैसी व्यवस्था कर दी।"

देवास में आ कर भिक्षा मांगने का प्रश्न ही नहीं था। इतने भक्त थे, बिना मांगे ही भिक्षा आती रहती थी। इस प्रकार साधु हो कर भी शीलनाथ महाराज ने किसी के सामने भिक्षा की याचना नहीं की। किसी ने कुछ दिया तो रख लिया, नहीं तो भूखे पड़े रहे। इस में उन का अभिमान का भाव नहीं था, ईश्वर पर विश्वास था। आजकल साधु बैंक बैलेंस, शिष्यों की मासिक सेवा एवं पैन्शन आदि का सहारा लेते हैं, शीलनाथ महाराज को केवल ईश्वर का सहारा था। वर्तमान साधुओं को यदि आप के साथ खड़ा किया जाय तो कितने साथ खड़े होने की पात्रता रखते हैं।

बातें करते-करते काफी देर हो गई थी। महाराजश्री धारा प्रवाह बोले जा रहे थे। उस समय वह पूर्णतया शीलनाथ महाराज के रंग में रंगे थे। जब थोड़ी देर के लिए उन का वाक्-प्रवाह रुका, तो मैं ने निवेदन किया, "महाराजश्री ! काफी समय हो गया है। दर्शनार्थी आ कर आप की प्रतीक्षा में बैठे होंगे, इसलिए अब चलना चाहिए।"

महाराजश्री अपनी छड़ी संभालते हुए उठे तथा आश्रम की ओर चल दिए। लोग बैठे ही थे। कहने लगे, "आजकल स्वामी जी के साथ शीलनाथ महाराज के विषय में चर्चा चल रही है। शीलनाथ महाराज साधु-धर्म का मूर्तिमान स्वरूप थे। मनोनिग्रह तथा इन्द्रिय निग्रह को उन्हों ने पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया था। उन्हों ने पूर्णरूप से अपने-आप को ईश्वर के प्रति समर्पित कर रखा था। ऐसे साधुओं से ही साधु समाज जीवित है।

एक भक्त- ईश्वर की भक्ति करने के लिए क्या साधक का विरक्त होना आवश्यक है ?

महाराजश्री- विरक्त से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? विरक्ति किसी वेष-विशेष का नाम नहीं। यह मन का विषय है, मन की अवस्था है। यदि तुम्हारा भाव मन की विरक्ति से है, तो वह साधन के लिए एकदम आवश्यक है किन्तु आज के प्रचलित अर्थ में गृह त्यागी को विरक्त कहा जाता है, फिर मन में वह चाहे कितनी भी वासनाएं लिए बैठा हो। ऐसा विरक्त साधन के लिए एकदम अनावश्यक है। संसार का व्यवहार त्याग, तथा व्यवहार में रहते हुए, विरक्ति दोनों प्रकार से संभव है। विरक्ति मन का विषय होने से, विरक्त तथा गृहस्थ, दोनों में एक समान है किन्तु दोनों प्रकार की विरक्तियों के स्वरूप में कुछ अन्तर आ जाता है। दोनों प्रकार की विरक्तियों में कुछ सुविधाएं भी हैं, तो कुछ कठिनाइयां भी। दोनों प्रकार का साधन सरल भी है, तथा दुष्कर भी। अपनी चित्त-स्थिति, परिस्थितियों तथा स्वभाव के अनुसार किसी को गृहस्थ अच्छा लगता है, तो किसी को विरक्त। अपने-अपने स्थान पर दोनों ठीक हैं। शीलनाथ महाराज को आरंभ से ही जगत त्याग में रुचि थी इस लिए उन्होंने घर छोड़ दिया तथा आजीवन विरक्त-धर्म का पालन किया, उस में आत्म संयम, अपरिग्रह तथा सहनशीलता मुख्य हैं। अन्तर्शक्ति की जाग्रति दोनों प्रकार के साधनों में आवश्यक, मुख्य तथा सहायक है। देर रात तक सतसंग चलता रहा।

जन्म से सिद्धावस्था

हम देवास लौट आए थे। महाराजश्री का कार्यक्रम पूर्ववत् चलने लगा था। प्रातः भ्रमण भी आरंभ हो गया था। तथा उस के साथ ही शीलनाथ महाराज विषयक चर्चा भी।

महाराजश्री- अभी तक हम ने शीलनाथ महाराज की बाह्य-चर्चा ही की है। यद्यपि बाह्य प्रवाहित वृत्तियों को देख कर बहुत कुछ आन्तरिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु यह केवल अनुमान ही कहा जा सकता है। यह कई बार कहा जा चुका है कि शीलनाथ महाराज जन्म-जन्मान्तर के योगी थे। परमार्थ साधन में लगे व्यक्ति को यह बड़ा लाभ होता है कि उसे एक के पश्चात् एक मनुष्य-जन्म मिलता रहता है जिस कारण उस का साधन-क्रम निरन्तर चलता रहता है। शीलनाथ महाराज जन्म से ही योगी थे। जिस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े तपस्वी लालायित रहते हैं, वह अवस्था शीलनाथ महाराज को जन्म से ही प्राप्त थी। वैराग्य उन का सहज स्वभाव था। इस जन्म में उन्हें वैराग्य-प्राप्ति के लिए कुछ नहीं करना पड़ा क्योंकि वैराग्य को साथ ले कर ही, इस संसार में आए थे।

तुम जानते ही हो कि साधन की चार अवस्थाएं होती हैं, - प्रांरभावस्था,

घटावस्था, परिचय अवस्था तथा निष्पत्ति या सिद्धावस्था। शीलनाथ महाराज, प्रथम तीन अवस्थाएं पूर्व जन्मों में ही पार कर चुके थे, तथा इस जन्म में सिद्धावस्था में आए थे। इसी को जन्म-सिद्ध कहा जाता है। सिद्धावस्था में योगी आत्म-ज्ञान रूपी महासिद्धि में अवस्थित होता है। इस अवस्था में जगत की सृष्टि तथा उस का लय स्वयं आत्मा से ही साधित होता अनुभव होता है। उस अवस्था में योगी अपने जीवत्व का त्याग कर शिवत्व प्राप्त करता है तथा कुण्डलिनी भी अपना पृथक अस्तित्व त्याग कर, अपने आधार शिव में विलीन हो जाता है। यही योगी की जीवन-मुक्त अवस्था है। तब वह जीवन-मुक्त अवस्था-प्राप्त योगी परम शिव, जो सृष्टि तथा संहार के कर्ता हैं, अभेद रूप में एकत्व प्राप्त करता है तथा अपने आत्मा में ही जगत की सृष्टि तथा उस का लय अनुभव करता है। ऐसा योगी कुण्डलिनी शक्ति को शिव में लय करने की सामर्थ्य रखता है अर्थात् वह सहज ही कुण्डलिनी शक्ति का शिव में लय कर लेता है।

ऐसी अवस्था थी शीलनाथ महाराज की। इस जन्म में उन्हें साधन की प्रारंभावस्था की कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा क्योंकि पूर्व जन्मों में वह भोग कर समाप्त कर आए थे। शीलनाथ महाराज ऐसे योगी थे जिन्हें संसार भगवती की केवल लीला दिखाई देता था। वह विषयों के प्रति आकर्षित नहीं होते थे, लीला के प्रति नतमस्तक होते थे। उन का जड़-चेतन की ग्रन्थि का भेदन हो चुका था जिस कारण जगत के प्रति उन की भ्रान्ति निवृत्त हो चुकी थी। वह आत्मा के रंग में रंगे रह कर, जीवन-यापन करने वाले योगी थे। योग के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता तथा ज्ञान के बिना जीवत्व का आत्मा में विलय नहीं होता। शीलनाथ महाराज का भी यही सिद्धान्त था।

अन्तर्शक्ति जाग्रत होने पर पहले स्थूल आधार पर स्थूल कियाएं घटित होती हैं। साधन करते-करते, धीरे-धीरे क्रियाओं में सूक्ष्मता-सौम्यता आ जाने पर अत्यन्त सूक्ष्म क्रियाएं जैसे नादश्रवण, ज्योति-दर्शन, प्रकाश आदि क्रियाएं होने लगती हैं। शीलनाथ महाराज, पूर्व जन्मों में की गई उन्नति के कारण, इस जन्म में आरंभ से ही,नाद-श्रवण की अत्यन्त सूक्ष्म क्रियाओं में प्रतिष्ठित हो गए थे। इसी लिए उन्हें बाल्य काल से ही अन्तर् अनाहत् नाद सुनाई देने लगा था। नादश्रवण के रूप में साधन का ऐसा सशक्त संबल उन की पकड़ में आ गया था, जिस के सहारे आगे बढ़ते हुए वे अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर सकते थे। वह गांव के बाहर किसी एकान्त स्थान में, किसी वृक्ष के नीचे आंखें बंद कर के बैठ जाते तथा नाद-श्रवण किया करते थे। नाद धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया, आनन्द बढ़ता गया, वृत्ति अधिकाधिक अन्तर्मुखी होती गई। अन्तर् के आवरण उतरते गए, प्रकाश

फैलने लगा, रुचि बढ़ती गई।

अब बालक शीलनाथ (इन का बचपन का नाम क्या था ? किसी को ज्ञात नहीं क्योंकि आप अपने पूर्वाश्रम के बारे में कभी चर्चा करना पसन्द नहीं करते थे) को संसार के भोगों में रस समाप्त होता जा रहा था। जब बड़े आनन्द का स्त्रोत हाथ लग गया था तो छोटे से गंदे नाले के आनन्द के पीछे कोई अपना समय बरबाद क्यों करे ? जगत के प्रति आप की उदासीनता देख कर आप के घर के लोग घबरा गए थे। कभी डाक्टरों के पास, कभी मांत्रिकों के दरबार में। अन्त में आप को आप के पिताजी ने बगीचे में एक छोटा सा मकान बना कर दे दिया गया ताकि जंगल में जाने के स्थान पर यहीं बैठ कर जो कुछ करना हो, कर लिया करें।

इष्ट के प्रति ऐसी लगन ? जगत के प्रति ऐसी उपरामता ? और वह भी बचपन में ! यह तब तक संभव नहीं, जब तक कोई जन्म-सिद्ध न हो। घर वालों को इन की जन्म-सिद्धि से क्या प्रयोजन ? वह चाहते थे कि बहु घर में आए। ब्रच्चे आंगन में किल्कारियां मारे। बस फिर क्या था ? शादी की बात चल निकली। उन दिनों राजस्थान में छोटी आयु में शादी का रिवाज था। इतने में आप की माताजी का देहान्त हो गया, जिसे आप ने प्रभु की कृपा समझा तथा तीसरे ही दिन घर से भाग खड़े हुए। कहते हैं कि विरक्ति कब अपनानी चाहिए ? जब वैराग्य परिपक्व हो जाय। किन्तु आप तो जन्म से वैराग्य सिद्ध थे। यदि कोई कहे कि बच्चे की बुद्धि ही कितनी होती है ? इस आयु में काहे का वैराग्य ! तो यह वह वैराग्य था जिसे शीलनाथ महाराज आजीवन निभा ले गए। कच्चा वैराग्य होता तो कहीं भी लुढ़क जाते। किन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ को कौन हिला सकता है ? यह दीपक की वह लौ थी जो तेज़ तूफानों को भी झेल गई। क्या परिपक्व वैराग्य के अभाव में कोई यम-नियम के पालन में अडिग रह सकता है ? यदि कोई बुद्धि की अपरिपक्वता की बात करे तो ज्ञानेश्वर महाराज ने चौदह वर्ष की आयु में ज्ञानेश्वरी जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना कैसे कर ली ? यदि शंकराचार्य भी छोटी आयु में ही वैराग्याभिभूत हो गए थे। आज भी छोटे-छोटे बच्चे रामायण पर धारा प्रवाह प्रवचन करते देखे जा सकते हैं। अन्ततः यही मानना पड़ता है कि शीलनाथ महाराज जन्म-सिद्ध थे, जिन्हें ज्ञान-वैराग्य सहज ही प्राप्त था।

देवास भारत का एकमात्र ऐसा नगर था जो दो रियासतों की राजधानी था। नगर आधा-आधा बटा हुआ था। टेकड़ी भी दो भागों में विभक्त थी। देवास सीनियर(बड़ी पाती) तथा देवास जूनियर(छोटी पाती) से विख्यात यह एक छोटा सा नगर था। शीलनाथ महाराज का धूनि संस्थान तथा चामुण्डा माताजी का मंदिर

देवास सीनियर में पड़ता था, जब कि मल्हार राव महाराज देवास जूनियर के महाराजा थे। जब मल्हार राव महाराज ने शीलनाथ महाराज से देवास में स्थाई निवास रखने की आग्रहपूर्वक प्रार्थना की, तो शीलनाथ महाराज ने भी उसे स्वीकार कर लिया, तब मल्हार राव महाराज ने टेकड़ी से एक मील दूर, देवास नगर के दूसरी ओर, देवास जूनियर की सीमा में शीलनाथ धूनि संस्थान निर्माण करा दिया। शीलनाथ महाराज सन् १९०१ से १९२१ तक निरन्तर यहीं बने रहे। जिस ने जीवन के लगभग सौ वर्ष घूमते हुए निकाल दिए, उस का २० वर्ष एक स्थान पर सतत् बने रहना आश्चर्य जनक है। यहीं से उन्हों ने अन्तिम समाधि के लिए प्रस्थान किया।

महाराजश्री भाव-विभोर हो कर शीलनाथ महाराज के चरित्र का वर्णन कर रहे थे।

महाराजश्री- शीलनाथ महाराज कहा करते थे कि जहां जा कर मन लय हो जाय वहां प्राण तथा अनाहत नाद की भी गति नहीं। वह स्थान मन से भी सूक्ष्म है। वहां जा कर मन पूर्ण रूप से अपना अस्तित्व समाप्त करता है।

उस स्थिति के बारे में कोई क्या कल्पना कर सकता है ? शास्त्र के अवलोकन तथा चिन्तन-मनन से उसे कैसे जाना जा सकता है ? जब कि वहां तक इन सब की पहुंच ही नहीं है। क्या पूजा-पाठ तथा भजन-कीर्तन वहां पहुंच सकते हैं। उस स्थिति का ध्यान भी कैसे किया जा सकता है जब कि उस का कोई आकार ही नहीं।

मैं ने कहा- महाराज जी ! आप की कृपा से जहां तक मैं समझा हूं, वहां तक जाने का रास्ता साफ करना है। प्रतिवंधकों एव विध्नों को हटाना है। भ्रान्तियों, संशयों एवं पूर्वाग्रहों को मिटाना है। यही सब जीव का रास्ता रोके खड़े हैं। यह साधनाएं तो रास्ता साफ करने वाले श्रमिकों के समान हैं।

महाराजश्री- ठीक समझा तुम ने। किन्तु यह साधनाएं रास्ता साफ करने के स्थान पर प्राय: अधिक व्यवधान खड़ा करने का कारण बन जाती हैं। यदि यह साधनाएं स्वाभाविक हों, तभी मार्ग साफ कर पाती हैं, किन्तु यदि अभिमान इन की स्वाभाविकता को नष्ट कर, अस्वाभाविकता उत्पन्न कर देता है तो यह साधनाएं स्वयं विघ्न रूप हो जाती हैं। अन्तर्शक्ति की इन साधनाओं से अभिमान का अंश निकाल कर पहले इन्हें शुद्ध करती है, फिर यह शुद्धिकरण का कार्य कर सकती हैं।

मैं ने कहा- तब तो इन साधनाओं का रूप क्रिया हो गया।

महाराजश्री- हां ! यहीं मेरा भाव है। शीलनाथ महाराज का कथन यही दर्शाता है कि या तो वह यह स्थिति प्राप्त कर चुके थे, या उस के समीप थे।

शीलनाथ महाराज कहा करते थे कि जगत को मिथ्या-मिथ्या कहने से ही वह मिथ्या नहीं हो जाता। यदि मन में जगत के प्रति सत्यता का भाव है तो मिथ्या

कह देने से ही वह मिथ्या नहीं हो जाता। उस के लिए मिथ्यात्व की प्रत्यक्ष अनुभूति आवश्यक है। मिथ्यात्व का भाव का अभाव चित्तवत् प्रभावित करता रहता है। जीव का मन कभी विक्षिप्त होता है तो कभी उत्तेजित। कभी लोभ-मोह में अंधा हो जाता है तो कभी काम उसे अपने अधीन कर लेता है। मन से भ्रान्ति के निकाले बिना जगत का मिथ्यात्व प्रकट नहीं होता। योग का प्रयोजन ही भ्रम का नाश कर के, जगत का मिथ्यात्व प्रकाशित करना है।

मैं ने कहा- शीलनाथ महाराज़ तो ऐसे बातें कर रहे हैं जैसे उन्हों ने खूब शास्त्र-ज्ञान-संचय किया हो।

महाराजश्री- शीलनाथ महाराज ने उतना ही शास्त्र अध्ययन किया था जितना कबीर अथवा रविदास ने। बिना पढ़े ही इन के अन्तर् में ज्ञान का प्रकाश होता था। इन्होंने शास्त्र-ज्ञान-संचय का मार्ग नहीं अपनाया अपितु साधन के द्वारा अन्तर् के प्रकाश पर पड़े आवरण को हटाया। तब अन्तर से ही ज्ञान का प्रकाश फैलने लगा।

मैं ने कहा- यह बात तो ठीक है। महात्मा लोग जगत के मिथ्यात्व का प्रचार करते हैं, लम्बी-चौड़ी हांकते हैं किन्तु आश्रमों के स्वामित्व को ले कर मुकदमें बाज़ी करते हैं। उस समय जगत सत्य हो जाता है।

महाराजश्री- संसार में दंभ और पाखण्ड का बोल-बाला है। लोग कही-सुनी बातों पर विश्वास कर लेते हैं तथा उसे दोहराते रहते हैं। जगत के मिथ्यात्व के सिद्धान्त के साथ भी यही हो रहा है। लोगों को संसार की यथार्थताका अनुभव लेने का कोई प्रयोजन नहीं। यदि मिथ्यात्व सिद्ध करेंगे भी तो केवल बातों से, तर्क से, अथवा युक्ति से, क्रियात्मक रूप में नहीं।

शीलनाथ महाराज अनेकों उपदेशात्मक वचन बोला करते थे। वह कहते थे कि मन का जगत के रूप में फैल जाना ही दुख का कारण है। यदि मन को स्थिर कर लिया जाए तो यही सुख का कारण हो जाता है। मन की स्थिरता को यदि पकड़े रहोगे तो एक दिन अन्तर में प्रकाश हो जायगा।

महाराजश्री- मन का ही सारा खेल है। यही बंधन का कारण है, यही मोक्ष का। मन ही हँसाता है, मन ही रुलाता है। मन से ही संतुष्टि है, मन ही असंतुष्ट है। मन जितना फैलता है, जगत का विस्तार होता जाता है, उतना ही दुख अधिक उपजता है। मन के स्थिर होने पर मन सिकुड़ने लगता है, तथा जगत भी सिमटता जाता है। उतना ही दुख कम होता जाता है। अतः साधकों का कर्तव्य है कि मन को स्थिर कर, उसे पकड़े रखें तो एक दिन जगत भी विलीन हो जायगा, मन का अस्तित्व भी समाप्त हो जायगा, अन्तर् में ज्ञान-प्रकाश भी उदय हो उठे गा।

मैं ने पूछा- किन्तु शीलनाथ महाराज ने यह नहीं बताया कि मन को कैसे समेटना है। केवल सिद्धान्त की बात कही है।

महाराजश्री- उस का मार्ग भी वह कई बार बताते थे। केवल सिद्धान्त की बातें करने से क्या लाभ ? एक बार उन्हों ने कहा था कि योग का मार्ग सब के लिए खुला है। गुरु वचनों के अनुसार मन को डांट कर मिटाना-हटाना है। जब तक यह कष्ट नहीं करोगे, आत्मानन्द कैसे प्राप्त होगा ?

मन को वश में करने के कई उपाय हैं,- समझा के, मना के, पुचकार, डांट के, दबा के, भगवान के सामने गिड़गिड़ा के। शीलनाथ महाराज योगी थे। मन के उपद्रवों का डट कर सामना करने में विश्वास करते थे, अतः वह बार-बार मन को डाटने की ही बात करते थे। गुरु वचनों का उल्लेख कर के उन्होंने शक्तिपात् का संकेत दिया है। शक्तिपात् दृष्टि, वाणी, स्पर्श अथवा संकल्प, किसी भी प्रकार किया जा सकता है। साथ में यह गुरु वचन भी रहते हैं कि अब क्रियाओं के अवलोकन से, संकल्प-विकल्प का कारण-स्वरूप वासना को क्षय करो। शक्तिपात् ही भक्ति-योग है, शक्तिपात् ही ज्ञान-साधन है।

महाराजश्री की आंखे शीलनाथ महाराज के ध्यान में बंद थीं। किन्तु उन की वाणी का प्रवाह चल रहा था। इतने में दो दर्शनार्थी आ गए थे जिस के कारण विषय को यहीं विश्राम दे दिया गया। मैं भी उठ कर बाहर चला गया था।

उत्कट वैराग्य

ऐसा लगता था कि महाराजश्री शीलनाथ महाराज की चरित्र-लीला में पूरी तरह समाते जा रहे थे। उन दिनों कोई भी अन्य बात उन्हें अच्छी नहीं लगती थी। सतसंग के बीच में कोई दर्शनार्थी आ जाता था तथा उन को अपनी बात बंद करनी पड़ती थी, तो मन मसोस कर रह जाते थे

दूसरे दिन हम प्रातः काल रेल्वे स्टेशन की ओर बढ़े जा रहे थे। आज महाराजश्री की चाल अपेक्षाकृत कुछ अधिक तीव्र थी। संभवतः अन्तर् में शीलनाथ महाराज विषयक विचारों का प्रवाह उमड़ रहा था, जिस कारण चाल में भी तीव्रता आ गई थी। प्लेट फार्म पर पहुंच कर एक बैंच पर बैठ गए, छड़ी एक ओर रख दी तथा कहने लगे-

महाराजश्री- वाह ! शीलनाथ महाराज का कैसा चरित्र है ? आजीवन वैराग्य से अभिभूत रहे। यह नहीं कि कभी नदी में बाढ़ आ गई तो अगले ही क्षण पानी के स्थान पर बालू और पत्थर दिखाई देने लगे। श्मशान में जा कर तो सभी वैराग्यवान हो जाते हैं। पत्नी के मर जाने पर किस के अंदर वैराग्य नहीं भर उठता। कोई क्षणिक कारण हो जाने पर सभी को क्षणिक वैराग्य का आवेश आ जाता है।

किन्तु जो कभी आए तो कभी जाए, वह कैसा वैराग्य ? वैराग्य तो एक ऐसा नशा है जो यदि एक बार चढ़ जाए तो बढ़ता ही जाय, नित्य नया रंग निकलता आए। वैराग्य नींव का ऐसा पत्थर है जो स्वयं सदा भूमि में दबा अदृश्य रहता है तथा साधन रूपी विशाल भवन का बोझ उठाए रखता है। एक ऐसा वफादार रक्षक है जो साधन रूपी धन की सुरक्षा में तत्पर बना रहता है। एक ऐसी सुदृढ़ नाव के समान है जो साधक रूपी यात्रियों को बिठा कर परले पार ले जाती है। वैराग्य के बिना साधन की कल्पना करना, साधन को तथा अपने आप को धोखा देना है। शीलनाथ महाराज ने अपने साथ साधन के साथ पूरा-पूरा न्याय किया।

शीलनाथ महाराज ने जीवन में यह कभी घोषित नहीं किया कि वह बड़े वैरागी है किन्तु अपने आचरण में वैराग्य को उतार कर क्रियात्मक दिग्दर्शन करा दिया। यदि योग मार्ग के यम नियम के दसों अंगों को एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वह है वैराग्य,क्रियात्मक वैराग्य,अनुभवगम्य वैराग्य। साधक बातें नहीं बनाता अपितु अन्तर की ओर देख कर वैराग्य को धारण करने का यत्न करता है। मन में विषयों के प्रति थोड़ा सा आकर्षण भी साधक को विचलित कर देता है। बातें बनाने का उस के पास न समय होता है न वृत्ति। व्यर्थ की बकवाद करने वाले को कैसा वैराग्य।

मैं ने कहा, "गुरु जी ! एक प्रश्न मन में कई बार उठ खड़ा होता है। शीलनाथ महाराज ने अपने आश्रम के लिए अपना कोई उत्तराधिकारी क्यों नहीं बनाया

महाराजश्री- उत्तराधिकारी बनाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। आश्रम का कार्य सुचारू रूप से चलता रहे इस के लिए उपयुक्त व्यक्ति को यह कार्यभार सौंप दिया जाता है। इस परम्परा में गुरु की प्रधानता बनी रहती है।

किन्तु शीलनाथ महाराज का सोचने का अपना ढंग था। वे आश्रम में रहते अवश्य थे, आदेश भी उन का चलता था। किन्तु उन्हों ने आश्रम के प्रति अपनत्व को मन में स्थान नहीं दिया। जिन्हों ने आश्रम बनवाया है यह उन को पता होगा कि किस का है। उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अर्थ यह होता कि आश्रम में उन का कुछ अधिकार है तथा वह उस का प्रयोग कर रहे हैं जब कि साधु का कहीं कोई अधिकार उपाधि है, अधिकार बंधन है। अधिकार का भी नशा होता है। अधिकार कई कुकर्मों का कारण है। सब अधिकार त्याग कर ही कोई साधु बनता है। संसार के अधिकारों का त्याग कर के, आश्रम के अधिकार में उलझ जाना, अपने लक्ष्य से पीछे हटना है। इस लिए उन्हों ने न कभी इस अधिकार को अपना समझा, न उस का उपयोग किया, तथा न उत्तराधिकारी नियुक्त किया। आश्रम छोड़ते समय उन्हें

किसी प्रकार का मानसिक क्लेश नहीं हुआ। एक कौपीन शरीर पर तथा एक कंधे पर ले कर चल दिए। न कोई अधिकार, न कोई उत्तराधिकारी। जैसे आए थे, वैसे चल दिए, अकेले, निश्शंक, निरासक्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व।

विकार परीक्षा

शीलनाथ महाराज कहा करते थे कि जब कोई जंगल में नितान्त अकेला हो, चारों ओर कालिमा पसरी हो, वृक्ष भी खड़े भूतों का आभास देते हों, हिंसक पशुओं की आवाज़ें बार-बार कानों से टकरा कर दिल दहला रही हों, पहाडियों की उभरी चट्टाने भी आक्रमण की मुद्रा में प्रतीत हो रही हों, ऐसे में ही भय की परीक्षा होती हैं। जब जंगली लुटेरे डाकू, हथियारों से लैस हो कर कुटिया में घुस आएं, जंगली हिंसक जातियां शराब के नशे में चूर हो कर आप के आंगन में आ कर उपद्रव करें, कोई सिंह बाघ कुटिया के सामने आ कर ऊंची आवाज़ में दहाड़ने लगे, ऐसे में भय की परीक्षा होती है। जब मूसलाधार वर्षा हो रही हो, तूफानी तेज़ हवाएं चल रहीं हो, सब दूर पानी ही पानी भरा हो, रास्ते भी पानी में डूब चुके हों, ऐसे में कोई भयानक सांप सुरक्षित आश्रय की तलाश में कुटिया में घुस आए, ऐसे में भय की परीक्षा होती है। जब आस-पास के गांव से किसी कारण भिक्षा न आ सके, जंगल के फल भी उपलब्ध न हों, पेट में चूहे कूद रहे हों किन्तु आप के पास खाने के लिए कुछ भी नहीं हो, ऐंसे में आप की भूख सहन करने के सामर्थ्य की परीक्षा होती है। जब वातावरण में चारों ओर भय व्याप्त हो, किसी भी समय किसी संकट की आशंका हो, पेट भी क्षुधा के लिए कुलबुला रहा हो, ऐसे में भी आप निश्चिन्त नींद का आनन्द ले सकते हैं कि नहीं, यह परीक्षा हो जाती है। आप ने साधन के द्वारा कैसी चित्त स्थिति अर्जित की है, आप कहां तक अपने मन को संभाल पाते हैं, ऐसे ही समय में पता चलता है। शीलनाथ महाराज को ऐसी परिस्थितियों का अनेकों बार, बड़े समीप से सामना करने का अवसर प्राप्त हुआ था। वास्तव में तो वे ऐसे अवसरों को आमंत्रित करते थे क्योंकि ऐसे ही समय में व्यक्तित्व का विकास हो पाता है। इन अनुभवों से उन्हें अपार निर्भीकता एवं अदभ्य सहन शक्ति प्राप्त हो गई थी।

ऐसे अनुभव जंगल में एकान्त वास करने पर ही हो पाने संभव हैं। जब जन-समाज का निकट संपर्क हो, व्यवहारिकता में समय व्यतीत हो रहा हो, कदम-कदम पर विषयों का आकर्षण तथा गिरने की संभावना हो, तो भिन्न प्रकार की अनुभूतियां होती हैं। जब कोई किसी सजी-धजी युवती के साथ अकेला हो, युवती भी अपने हाव-भाव से आकर्षित करने का प्रयत्न करे, वासना-पूर्ती की सभी अनुकूलताएं उपलब्ध हों; तो आप के काम का आक्रमण सहन कर पाने की क्षमता की परीक्षा हो जाती है। जब कोई आप का अनादर करे, आप का कोई काम बिगाड़े,

आप के किसी आदेश की अवहेलना करे अथवा आप की इच्छा के विपरीत कुछ घटित हो तो सहन शक्ति तथा क्रोध की परीक्षा होती है। इसी प्रकार व्यवहार में कई अवसर ऐसे आते हैं जब लोभ, मद्,मत्सर, उदारता, क्षमाशीलता आदि को परीक्षा के द्वार में से होकर निकलना पड़ता है। अतः साधक के लिए जहां एकान्तवास आवश्यक हैं, वहीं जन-संपर्क भी अनिवार्य है अन्यथा उस में अधूरापन रह जाता है।

शीलनाथ महाराज ने जीवन में कई प्रयोग कर के, अपने-आप को परीक्षा की कसौटी पर कसा। उन का कथन था कि साधक को सदैव सावधान बने रहना चाहिए। परीक्षणों, असफलताओं, कठिनाइयों से घबरा कर अपने मार्ग से पलायन नहीं कर देना चाहिए। तेल कोल्हू से निकल कर ही प्राप्त होता है। असफलताएं उत्साह भंग करने के लिए नहीं, उत्साह वर्धन के लिए आती हैं

कवित्व का आधार

शीलनाथ महाराज ने स्वयं तो कोई काव्य रचना नहीं की, किन्तु आप छोटे-छोटे कवित्वों के आधार पर अपनी बात कहने के बहुत अभ्यस्थ थे जिस से बात में सरसता भी आ जाती थी तथा समझ पाने में भी सरलता होती थी।

अडसठ तीर्थ हैं घट भीतर, वही में मन मल न्हाऊं ॥

तीर्थों में मारा-मारा क्यों फिरता है। समय,धन तथा श्रम बरबाद करता है जब कि वास्तविक सभी तीर्थ तेरे अन्तर में है। अन्तर की तीर्थों में शरीर को नहीं, मन को स्नान कराया जाता है। इन तीर्थों में चेतन रूपी जल भरा है। सभी नदियां और संगम, सभी देवी-देवता, सभी पूजनीय एवं अनुकरणीय आदर्श एवं स्थल अन्तर् में ही अवस्थित हैं। सभी विरोधी शक्तियां भी अन्तर में ही है जिन्हें समाप्त करने के लिए अन्तर स्नान की ही आवश्यकता है। अतः हे मानव ! तू अन्तर चेतन रूपी जल में ही स्नान कर।

भजत जोर लागे नहीं यम का, रख अलख गुरु अपना ॥

तेरा जन्म होता है मृत्यु के लिए। जन्म तथा मृत्यु के बीच की अवधि जीवन है। जीवन भर तुझे मृत्यु का भय सताता रहता है अर्थात् जीवन भर तुम पर मौत की छाया रहती है। तेरा जन्म भी मृत्यु है, तेरा जीवन भी मृत्यु है तथा तेरा अन्त भी मृत्यु है। तू मृत्यु के हाथ का खिलौना है। वह तुम्हें प्रकट करती है, सताती, रुलाती और नचाती-भगाती है। वही तुम्हें अपना ग्रास बना लेती है। इस प्रकार अब तक तू खाता है, किन्तु यह नहीं समझता कि तू स्वयं मृत्यु का भोजन है। थाली उस के सामने है। जब चाहे उठा कर मुंह में रख ले। वह खाती है और खिलखिलाती है। तेरा आवागमन का चक्र मृत्यु का मनोरंजन है।

इस चक्र से निकलने का उपाय भी तेरे पास ही है। अपने अन्तर्गुरु पर लक्ष्य रख। उस गुरु को देखा नहीं जा सकता किन्तु उस की कृपा से उसे अनुभव किया जा सकता है। अन्तर्गुरु ही जगत का आधार है। उसी के आधार पर मृत्यु का ताण्डव होता है तथा उसी के आधार पर उस ताण्डव की परिसमाप्ति। अन्तर्गुरु तमाधंकार का हर्ता एवं ज्ञान-प्रकाश का प्रदाता है। वही माया का प्रसार करता है, वही समेटता है। उसी की शरण ग्रहण कर। उस के लिए कुछ भी असंभव नहीं। उस की कृपा हो जाय तो तेरा आवागमन का चक्र पल भर में टूट जाय। फिर मृत्यु कितना भी ज़ोर लगा ले, किन्तु उस की कोई भी शक्ति कार्य नहीं करती। वह असहाय होकर देखती रह जाती है तथा तू अपने अन्तर्गुरु के साथ परम-धाम में वास करता है।

कांटे बिन कांटा न निकसे, कूची बिना न ताला

जब कांटा चुभ जाता है तो दूसरे कांटे की सहायता से ही उसे निकाला जा सकता है। क्या चाबी के बिना ताला खुल सकता है ?

शक्ति की क्रियाशीलता ही जगत का विस्तार करती है तो क्रियाशीलता ही विस्तार को समेटती भी है। क्रिया ही मन को मलीन करती है तो क्रिया ही मलीनता को दूर कर निर्मलता प्रदान करती है। जल के आधार पर ही लहर उभरती है तथा जल के आधार पर ही विलीन होती है। यदि क्रियाशीलता को हटा दिया जाय तो न विस्तार तथा न उस का सिमटना, न मलीनता न निर्मलता। क्रियाशीलता ही जगत है, क्रियाशीलता ही प्रलय। जगत की कर्ता क्रिया से ही, जगत रूपी विस्तार को समेट पाना संभव है। चाबी पास में न हो, तो खड़े हैं बाहर, ताला नहीं खुल रहा। पता किया कि चाबी किस के पास है ? पता चला कि गुरु के पास। ताला खोलने के लिए वही चाबी प्रदान कर सकता है, तो गुरु के द्वार पर उपस्थित हुए, "महाराज ! घर में प्रवेश नहीं कर पा रहे हैं, ताला बंद है। क्रियारूपी चाबी की कृपा करें" यहीं से गुरु-शिष्य परम्परा प्रारंभ हो गई।

कई लोगों का गुरु का महत्त्व ज्ञात हुआ तो गुरु के नाम पर व्यापार होने लगा। गुरु गली-गली घूमने लगे। चिल्ला कर कहने लगे, "हम बंद ताले खोलते हैं। जिस को खुलवाना हो, हमारे पास आए" सावधान ! गुरु का अर्थ है पूर्ण गुरु, सद्गुरु, जिस का चेतन रूपी गुरु से परिचय हो तथा क्रिया रूपी चाबी पास हो। सिद्धगुरु की कृपा के बिना साधक कैसा ? सिद्धगुरु की कृपा के बिना अन्तर में ज्ञान का उजाला कैसे संभव है ?

जल परमाने माछली, कुल परमाने बुद्धि।
जा को जैसा गुरु मिले, ताको तैसी सुद्धि ॥

जल के आधार पर ही मछली जीवन धारण करती है पर व्यक्ति को अपने कुल से जैसे संस्कार मिलते हैं वैसा ही उस की बुद्धि का विकास होता है। जिस को जैसागुरु मिलता है वैसा ही वह मन की शुद्धि रूपी फल पाता है।

इस कवित्व में मछली के लिए जल, सद्बुद्धि के लिए कुल, एवं शिष्य के चित्त की निर्मलता के लिए गुरु का महत्त्व दर्शाया गया है। मृग तृष्णा जल की पर्याय नहीं हो सकती। क्या मृग तृष्णा में जल की मछलियां जीवित रह सकती हैं। कितना भी संस्कारशील कुल हो, किन्तु उस का अभिमान मनुष्य को ले डूबता है। गुरु की सामर्थ्य क्या है ? तथा शिष्य का गुरु के प्रति भाव कैसा है ? इस से पता चलता है कि शिष्य को कैसी तथा कितनी निर्मलता मिलने वाली है। इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शिष्य के अपने प्रयास तथा साधन का कोई महत्त्व नहीं। शिष्य के उत्थान में मुख्य भूमिका गुरु प्रदत्त साधन की ही है, गुरु के सामर्थ्य के महत्त्व की ओर इंगित किया गया है।

कहे कबीर पुकारि के तू दोय बात सुन लेय।
कर साहिब की बन्दगी, कै भूखों का कछु देय ॥

शीलनाथ महाराज कबीर का यह दोहा प्राय: दोहराया करते थे। कबीर ने मनुष्य के लिए दो बातों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। पहली यह कि ईश्वर का भजन करे, तथा दूसरी यह कि मन में दया भाव हो। भूखों को भोजन देना दयाभाव का प्रतीत है भजन कोई करे अथवा नहीं, किन्तु भजन के महत्त्व को जगत स्वीकार करता है परदयाभाव को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। जितने का कि यह अधिकारी है।

दयाभाव में कई भाव छिपे हैं। मनुष्य दूसरे जीवों में परमात्मा के दर्शन करे अथवा नहीं, किन्तु दयाभाव मन में यह संवेदना तो पैदा कर ही देता है कि सभी जीवों में आत्म तत्त्व विद्यमान है। दयाभाव हृदय को कोमलता प्रदान करता है, मन में उदारता विकसित करता है तथा मन को ईश्वर के निकट सानिध्य के प्रति उन्मुख कर देता है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

मन का ही तो सारा खेल है। मन में शिथिलता आते ही, सारा शरीर शिथिल होने लगता है, जब कि मन के प्रबल होने पर अशक्त शरीर में भी शक्ति जाग उठती है। मन प्रबल हो तो कोई भी कार्य असाध्य नहीं। मन की प्रबलता ने हारे हुए युद्धों को भी जीत में बदल दिया है। पंगु एवं रोगी को भी शिखर पर पहुंचा दिया है। आध्यात्मिक साधनाओं के लिए प्रबल मन आवश्यक है क्योंकि यह एक अत्यन्त लम्बी एवं कठिन यात्रा है। मन के गिर जाने के पग-पग पर अनेकों अवसर आते हैं।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते एक-दम पांव खिसक-फिसल जाता है, उस समय यदि मन भयभीत हो जाए, हिम्मत हार बैठे, मानसिक बल जवाब दे जाय तो साधक, साधना से ही विरत होने लगता है। सब किया-कराया चौपट हो जाता है।

तहां मूल न जाइए, जहां न चोखा चित्त ।।

जिन के चित्त में प्रभु का प्रेम नहीं, दयाक्षमा तथा उदारता नहीं, जो चित्त रागद्वेष, ईर्षा-घृणा तथा क्रोध-लोभ से दूषित है, संकुचित एवं अनुदार है, यदि वहां कोई साधक-भक्त चला जाए तो उस के मन पर भी दूषित-चित्त के संस्कारों के पड़ने की प्रत्येक् संभावना है। महात्मा हो या दुरात्मा, कुएं में उतरेगा तो गीला हो गा ही। इस से बचने का उपाय यही है कि कुएं में उतरने से ही संकोच किया जाय। यदि कभी ऐसे चित्त के संपर्क में आया भी जाए तो यथा संभव यथाशीघ्र वहां से हट जाने का प्रयत्न किया जाय।

बुद्धि की सूक्ष्मता, जीवन के साधनामय अनुभवों, भाषा की सरलता, हृदय की उदारता एवं जन कल्याण की भावना ने, शीलनाथ महाराज की वाणी को सरसता, मधुरता एवं प्रभावोदकता प्रदान कर दी थी। सीधी-सादी किन्तु अन्तर्तल से निकली, अनुभव पर आधारित आप की भावाभिव्यक्ति श्रोता के हृदय में तरंगें पैदा कर, उसे प्रभावित करती। आप के आस-पास आध्यात्मिकता का वातावरण निर्मित करती थी।

अन्तिम यात्रा

टेकड़ी वाले स्थान से, शीलनाथ धूनि संस्थान पर जाने से पहले शीलनाथ महाराज माताजी के दरबार में उपस्थित हुए, बोले, "एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण हो रहा है। जीवन में यही अनुभव किया है कि तू हर जगह विराजमान है, इस आश्रम में भी, उस आश्रम में भी, तथा आश्रमों से बाहर भी, हर रोम में, हर मन में। तेरी कृपा सर्वव्यापक है। फिर तुम से दूर जाने का प्रश्न ही नहीं। बस ! इसी प्रकार कृपा बनी रहे।"

जीवन के नब्बे वर्ष जंगलों में बेसहारा भटकने वाला,अब राजसी आश्रम का निवासी था। चारों ओर सुविधाएं बिखरी थी। हर समय सेवक, सेवा में उपस्थित थे। बात मुंह से निकलते ही पूरी हो जाती थी। किन्तु शीलनाथ महाराज इस सारे सुविधा-संपन्न वातावरण में रहते हुए भी इस से अलिप्त थे। वही एक कौपीन शरीर पर, वही साधारण भोजन। न कोई कामना न इच्छा। न स्थान का कोई अभिमान, न दंभ। उन का अधिकांश समय अब भी धूनि के समीप ही व्यतीत होता था। अन्तर्विहार में ही लीन, जगत से उदासीन थे। आश्रम के प्रति ममत्व का भाव

तो कभी आया ही नहीं

इस प्रकार बीस वर्ष बीत गए। ऋतुएं बदलती रहीं, दिन-रात आते जाते रहे, आश्रम में निर्माण भी चलता रहा। गृहस्थों-विरक्तों की टोलिया आतीं, भण्डारे चलते, उत्सव मनाए जाते। शीलनाथ महाराज या तो साक्षीभाव से देखते रहते, अथवा ध्यान अवस्था में स्थित रहते। उन का भौतिक देह अवश्य आश्रम में था किन्तु उन का लक्ष्य सदैव ईश्वर पर स्थिर बना रहता। उन्हों ने अपनी समस्त कामनाओं को जला डाला था, चित्त अडोल अवस्था में स्थित बना रहता।

अन्ततः वह दिन आ गया जिस का एक दिन सभी के जीवन में आना निश्चित है। उन्हों ने महाराजा मल्हार राव से कहा, "अब हमारा जाने का समय निकट है। हम यथा संभव भगवान के स्मरण-भजन में अपना समय व्यतीत करते हुए, संसार से जा रहे हैं। संसार में जो भी आया, उस का एक दिन जाना निश्चित है, यह संसार का नियम है। आप में से भी, कोई इस नियम से बाहर नहीं। जिस-जिस का अभिनय पूरा होता जायगा वह रंग मंच से हटता जायगा। यदि विचार कर के देखा जाय तो जीव के पास समय बहुत कम है। यह भी कोई नहीं जानता कि कितना समय है। कितना भी समय हो, पलक झपकते ही निकल जायगा। फिर होंगे आप तथा यम की यातनाएं। प्रत्येक जन्म में आप यह यातनाएं सहन करते आए हो, फिर भी इन यातनाओं की व्यवस्था करने में ही जीवन खपा देते हो। अब बहुत हो गया। अब ऐसी व्यवस्था करने में लग जाओं कि आप को इन यातनाओं से मुक्ति मिले। प्रारब्ध आप के वश में नहीं किन्तु कर्म आप के पास है। अपने कर्मों को सुधार लोगे तो प्रारब्ध अपने-आप सुधर जायगा। केवल अपने आप को सुधारने की बात है।"

वातावरण अत्यन्त गंभीर हो था। कई भक्तों की आंखों में आंसु थे। शीलनाथ महाराज के जाने की कल्पना ही उन के लिए असह्य थी। उन का मन बार-बार चीख पड़ने को होता था किन्तु अपने-आप पर नियंत्रण बनाए हुए थे।

एक भक्त- महाराज ! हमें ज्ञात है कि हम लोग आप के आदेशों-उपदेशों के अनुसार जीवन का विकास नहीं कर पाए। संभवतः इस कारण आप के मन पर निराशा के बादल छाए हों तथा आप ने जाने का निश्चय कर लिया हो।

शीलनाथ महाराज- यह सही है कि आप लोगों ने मेरे समझाने के अनुसार आचरण नहीं किया किन्तु इस में निराश होने की कोई बात नहीं सब की अपनी-अपनी चित्त-स्थिति है, अपनी-अपनी आध्यात्मिक यात्रा है। कोई आगे, कोई पीछे। मेरे जाने का कारण यह है कि मेरा जाने का समय आ गया है। ऐसा विचार किया गया है कि गंगा किनारे जा कर शरीर त्याग किया जाय।"

यह सुन कर भक्तों ने रोना आरंभ कर दिया।

शीलनाथ महाराज- देखो भई! रोना-धोना तो करो नहीं। अभी तो मैं भला-चंगा आप के सामने बैठा हूं। जब इस का समय होगा तो देखा जायगा। वैसे में आप लोगों को एक आश्वासन दे सकता हूं कि यदि आप साधन-भजन में लगे रहे तो आप को मेरे दर्शन भी होते रहेंगे तथा मार्गदर्शन भी मिलता रहेगा।

उन दिनों देवास हो कर, इन्दौर उज्जैन के बीच रेल्वे की बड़ी लाईन नहीं थी। या तो छोटी लाईन से उज्जैन से नागदा जाओ, या इन्दौर आ कर पहले रतलाम जाओ।आप देवास से पहले इन्दौर आए तथा वहां से रतलाम गए और वहां से भी हरिद्वार चले गए। साथ में महाराजा मल्हार राव तथा अनेकों दूसरे लोग भी थे। हरिद्वार से शीलनाथ महाराज ऋषिकेश चले गए जहां मुनि की रेती में, गंगाजी के ठीक किनारे पर अपने भौतिक देह का त्याग कर परमगति में समा गए।

इस प्रकार राजस्थान में निकला चांद, भारत तथा अन्य देशों की परिक्रमा करते हुए, देवास में ज्योत्सना फैला कर अस्त हो गया।

स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज

चामुण्डा माताजी की टेकड़ी से संबधित सिद्ध महापुरुषों में, स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज पाचवीं तथा अन्तिम कड़ी थे। महाराजश्री ने भर्तृहरि, योगी नागनाथ, चन्द बरदाई, तथा योगी शीलनाथ महाराज के वृत्तान्त तो कह सुनाए किन्तु अपने विषय में कुछ नहीं कहा। कह भी नहीं सकते थे। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना किसी अध्यात्म-प्रेमी महापुरुष से अपेक्षित भी नहीं। अत: महाराजश्री को जैसे कुछ भी मैं समझ पाया, अपनी ओर से लिखने का प्रयत्न करता हूं। वैसे किसी महापुरुष को समझ-जान पाने में मेरी बुद्धि बहुत अल्प है, फिर भी प्रयास तो किया ही जा सकता है।

शीलनाथ महाराज के ब्रह्मलीन होने के कोई पच्चीस वर्ष पश्चात् स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज का देवास में पदार्पण हुआ। इस बीच देवास तथा माताजी की टेकड़ी में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था, सिवाए इस के कि टेकड़ी के वृक्ष कटते-कटते टेकड़ी भूखण्ड के एक उभरे हुए बंजर टुकड़े के समान रह गई थी। महाराजश्री पहले देवास नगर में, फिर शीलनाथ महाराज धूनि संस्थान एवं तत्पश्चात् मार्तण्ड कार्यालय में रहे। वहीं से नारायण कुटी में निवास के लिए आ गए।

नारायण कुटी पर पहले एक महात्मा स्वामी नारायणानन्द सरस्वती रहा करते थे। उस समय कुटी में एक रहने का कमरा, लोगों से मिलने के लिए एक थोड़ा बड़ा कमरा, एक छोटा सा देवघर तथा एक छोटी सी रसोई, बस इतना ही था। नारायण कुटी टेकड़ी पर होने से सभी ढलवान था। जिसे बाद में काट-काट कर कई सीढ़िनुमा समतल आंगन बना दिए गए थे। महाराजश्री दो-चार बार स्वामी नारायणानन्द सरस्वती से मिले भी थे। उन्हों ने महाराजश्री से कहा भी था, "आप कहां जगह ढूंढते फिर रहे हैं। यहीं आ जाइए, दोनों रह लेंगे" महाराजश्री ने कहा था, "कुटिया में इतनी जगह ही कहां है जो मैं भी यहां आ कर रहने लगूं"

किन्तु जो होना होता है, हो कर रहता है। एक दिन देवास नगर में यह समाचार ज़ोरों से फैला कि स्वामी नारायणानन्द सरस्वती नहीं रहे। उस समय तक भी यह बात किसी के मन में नहीं थी कि महाराजश्री कुटी में जा कर निवास करेंगे। नारायण कुटी को देवास की नगर पालिका ने अपने अधिकार में ले लिया, तथा उस की देख-रेख के लिए एक कमेटी बना कर नारायण कुटी उसे सौंप दी। उस कमेटी में महाराजश्री के एक शिष्य भी थे, बाकी सभी सदस्य भी धार्मिक वृत्ति के थे। उन्हों ने महाराजश्री की स्वीकृति ले कर नगर पालिका में प्रयत्न आरंभ कर दिया। अन्ततः नगर पालिका ने एक प्रस्ताव पारित कर के नारायण कुटी महाराजश्री के अधिकार

में दे दी। इस प्रकार महाराजश्री कुटी में पहुंच गए।

मैं जब सन् १९५९ में प्रथम बार देवास पहुंचा, उस समय महाराजश्री नेपाल गए हुए थे। उस समय तक देवास सीनियर तथा देवास जूनियर, दोनों रियासतों का भारत में विलय हो चुका था तथा दोनों रियासतों को मिला कर, देवास एक ज़िला बन चुका था। महाराजश्री कोई दो महीने के पश्चात् देवास लौटे थे। तब तक मैं, उन की प्रतीक्षा में, आश्रम पर रहा था।

वैसे मैं महाराजश्री के गाज़ियाबाद में दर्शन कर चुका था। फिर जब महाराजश्री नांगल (पंजाब) पधारे तो अकेले थे। मैं तीन दिन उन की व्यक्तिगत् सेवा में रहा था। उन दिनों की स्मृतियों को ले कर मेरा मन तरंगित बना रहता था। कितनी सादगी थी महाराजश्री में, बच्चों जैसा स्वभाव, न कोई बनावट न दिखावा। किन्तु जब कभी ज्ञान की खिड़की खुल जाती थी तो जैसे महाराजश्री का व्यक्तित्व निखार पर आ जाता था। नांगल के निवास में मैं ने देखा था कि रात को जब भी मेरी नींद खुली महाराजश्री को साधन में बैठे पाया। वह सब स्मृतियां महाराजश्री की प्रतीक्षा करने में मेरी सहायक थीं। साधकों को गुफा में साधन करते मैं देख तो नहीं पाता था किन्तु साधन में उदय होने वाली उन की स्वाभाविक आवाज़े सुन कर, साधन का कुछ परिचय अवश्य प्राप्त हो गया था। गुरु क्या कर सकते हैं, उस की कुछ-कुछ अनुभूति होने लगी थी।

मैं जब नांगल में था तो मेरे गुरु-विरोधी विचार थे। मैं दीक्षा लेने अवश्य आ गया था किन्तु अभी तक भी मन में कई संशय लिए बैठा था पर नारायण कुटी का वातावरण एक दम गुरुमय था। लोगों के मन में महाराजश्री के प्रति कैसी अटूट श्रद्धा थी ? महाराजश्री के आने से पूर्व ही मेरा मन गुरु-रंग में रंग चुका था।

अब तक आश्रम के लिए खरीद-दारी का काम मेरे पास आ चुका था। मैं बाज़ार जा रहा था किन्तु मन में महाराजश्री की स्मृतियां ही घूम रही थीं। कभी नांगल में सतसंग में कहे उन के शब्द कानों में गूजने लगते। कभी सतलज के किनारे के घूमने का दृश्य आखों में उभरने लगता। कैसा भोलापन था उन के चेहरे पर, हर समय खिला हुआ। मन की शान्ति उन के मुख-मण्डल पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। न कोई चिन्ता, न उत्तेजना। एक दम सौम्यता। मैं खरीद-दारी कर के आश्रम लौटा तो महाराजश्री को वराण्डे में कुरसी पर बैठे पाया। उन के मुख पर यात्रा की थकान के कोई लक्षण नहीं थे। उन्हों ने मुझे एकदम पहचान लिया। मैं ने प्रणाम किया तो बोले, "तुम्हें लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी। मुझे कुछ ज्यादा ही समय लग गया" फिर कुछ देर ठहर कर कहा, "किन्तु प्रतीक्षा में भी एक आनन्द है नज़र निरन्तर द्वार पर ही टिकी रहती है। अब आए कि अब आए। बिना प्रयत्न के ही एकाग्रता का अभ्यास

होता रहता है। प्रतीक्षा करना ही तो भक्ति है। भगवान के प्रकट होने की प्रतीक्षा, मन-निर्मलता की प्रतीक्षा, जगत से उपरामता की प्रतीक्षा। यही तो भक्ति है।

मैं मौन धारे खड़ा था। महाराजश्री के आने की इतनी प्रसन्नता थी कि मुंह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। महाराजश्री ने मेरे मन की स्थिति को भांप लिया। बोले, "यहां पहुचने में कोई असुविधा तो नही हुई ?"

अब मुझे बोलना ही था, "नहीं, महाराजजी"

उस से आगे महाराजश्री ने कोई बात नहीं की। मैं भी रसोई घर में जा कर अपने काम में व्यस्त हो गया। मुझे अनुभव हो रहा था कि महाराजश्री के आ जाने से मेरे पांव में स्फूर्ति आ रही है मन में उत्साह दुगना हो गया था

दूसरे दिन मुझे कहा गया कि महाराजश्री घूमने के लिए जा रहे हैं। तुम ज़रा साथ चले जाओ। महाराजश्री के साथ प्रातः भ्रमण में जाने का क्रम प्रथम दिवस से ही चल निकला। तथा तब तक चलता रहा जब तक कि सन् १९६८ में उन का शरीर अस्वस्थ नहीं हो गया महाराजश्री का नित्य भ्रमण करना तथा मेरा साथ होना, मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इस तरह श्री चरणों के निकट सानिध्य के लाभ का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय महाराजश्री उन्मुक्त भाव में होते थे। रोक-टोक करने वाला कोई होता नहीं था। कभी किसी ग्रन्थ पर बात चल निकलती, तो कभी किसी अनुभव का विष्लेषण होने लगता। तो कभी किसी महापुरुष का कोई प्रसंग विशेष। उस समय वे कई ऐसी बातें भी कह जाते थे जिन्हें जन समाज में करने से संकोच करते थे। भ्रमण के समय उन की जो स्वाभाविकता, निस्संकोचता, उन्मुक्तता, निश्छलता एवं निर्भीकता दिखाई देती थी, उस पर आश्रम में जा कर पतला सा आवरण ओढ़ लेते थे। कारण मैं नहीं जानता, कभी जानने का प्रयास भी नहीं किया। मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था कि मुझे महाराजश्री के प्रातः भ्रमण के समय का आनन्द मिल रहा था।

घूमने का पहला दिन। महाराजश्री का कमण्डल लिए मैं, महाराजश्री के पीछे-पीछे टेकड़ी पर चढ़ता जा रहा था। जीवन में पहली बार किसी महापुरुष के साथ अकेला घूमने निकला था। अन्तर में कभी उत्सुकता, कभी प्रसन्नता, कभी संकोच तो कभी मन में छिपा भय, चित्त में ऊपर-नीचे आ-जा रहे थे। ऐसा कहीं सुन रखा था कि यदि किसी महापुरुष के साथ कहीं जाने का प्रसंग आ जाए तो उन के आगे-आगे नहीं चलना चाहिए। उन के साथ-साथ भी नहीं चलना चाहिए, अपितु उन के पीछे-पीछे चलना ही कर्तव्य है। तो मैं इस बात की सावधानी बरतते हुए जा रहा था कि मेरा कदम कहीं महाराजश्री के बराबर न चला जाए।

टेकड़ी के ऊपर पहुंच कर महाराजश्री थोड़ी देर के लिए एक दीवार पर बैठ

गए थे। मैं कमण्डल लिए पास खड़ा था।

महाराजश्री- कैसा लगा देवास ?

पता नहीं कहां से मुझ में बात करने की शिंष्टता उभर आई थी। मैं ने कहां, "जहां आप हैं वहां तो अच्छा ही लगेगा।

महाराजश्री- मैं जब नेपाल में था उस समय देवास कैसा लगता था ?

मैं ने कहा- उस समय आप की याद साथ थी। आप की याद के झीने आवरण में से देवास को देखता था इस लिए वह भी सुंदर दिखाई देता था।

महाराजश्री अपनी छड़ी संभालते हुए उठ कर चल दिए थे। मैं पूर्ववत् पीछे चल रहा था। महाराजश्री के अन्तर्तल में झांक पाने की सूझ-बूझ उस समय मुझ में एकदम नहीं थी। कैसे चलते हैं ? कैसे बोलते हैं ? कैसे खाते हैं ? इन्हीं बातों को देखने तक ही अपनी पहुंच थी। महाराजश्री की कृपा से ही यह समझ धीरे-धीरे विकसित होती गई अथवा ऐसा समझिए कि महाराजश्री ने स्वयं ही अपना यथार्थ स्वरूप धीरे-धीरे उजागर करना आरंभ कर दिया। उस दिन अधिक बात न हो सकी। पूछा, "कहां रहते थे ? क्या साधना करते थे ? तुम्हारे मित्र कौन थे ? तुम्हें हमारा पता कैसे लगा ? इत्यादि।

आश्रम में लौट कर महाराजश्री अपनी कुटिया में चले गए थे। उन के पास रहने वाले ब्रह्मचारीजी भी उन की सेवा में अंदर ही थे मैं ने झोला उठाया तथा साग-भाजी लेने बाज़ार चला गया।

मुझे लोगों से बातचीत में यह पता चल ही चुका था कि महाराजश्री का जन्म झझर (हरियाणा) में हुआ था, पूर्व नाम मुनि लाल था, पहले गाज़ियाबाद में वकालत करते थे। कांग्रेस के कार्यकर्ता भी रहे। किन्तु यह सारी जानकारी केवल सांसारिक थी। मैं यह भी जानता था कि इन के गुरु योगानन्द जी महाराज ऋषिकेश में रहते थे तथा उन्हों ने अभी-अभी अपने भौतिक देह का त्याग किया था। शक्तिपात् का शब्द भी बार-बार मेरे कानों से आ कर टकराता रहता, किन्तु शक्तिपात् क्या है ? उस का प्रभाव क्या है ? शक्ति किस प्रकार कार्य करती है ? शक्ति जाग्रति का क्या अर्थ है ? आदि विषयों से अनभिज्ञ था। देवास आ कर, साधन में बैठे लोगों की आवाजें सुन-सुन कर, तथा लोगों से सतसंग कर के, कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त कर पाया था। जब मैं दिल्ली में था तो किसी ने महायोग विज्ञान मुझे पढ़ने को दिया था जिसे उस समय मैं समझ नहीं पाया था, तथा पुस्तक वापिस कर दी थी। नांगल में भी देवात्म शक्ति पढ़ने का अवसर मिला था किन्तु विषय ऊपर-ऊपर से ही निकल गया था।

शाम को महाराजश्री कुटिया के सामने वाले आंगन में कुरसी पर बैठे थे।

सामने दरी बिछाए भक्तगण जमे थे। मैं भी डरता-झिझकता सब लोगों के पीछे जा कर बैठ गया था।

एक भक्त- महाराजजी ! यदि कोई साधक बैठ कर अपने अन्तर् में घटित होने वाली घटनाओं, विचारों तथा भावनाओं को देखता रहे तो क्या यह साधन नहीं है ? फिर शक्तिपात् तथा गुरु की क्या आवश्यकता है ? क्या यह व्यर्थ की कवायद नहीं जिसे गुरुओं ने अपना महत्त्व दर्शाने के लिए ओढ़ रखा है ?

मैं ज़रा आगे खिसक कर बैठ गया था क्योंकि यह प्रश्न मेरी रुचि का भी था। शक्तिपात् की कुछ उड़ती-उड़ती जानकारी ही मेरे पास थी, इस लिए ऐसी शंकाओं का मन में उभरना स्वाभाविक था।

महाराजश्री- तुम्हारा प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है। किन्तु यह कहना कि गुरुओं ने अपना महत्त्व दर्शाने के लिए शक्तिपात का विषय खड़ा कर रखा है, उचित नहीं। जो केवल जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर ही यह कार्य करते हैं उन पर वही व्यक्ति ऐसा आक्षेप कर सकता है जिस का हर बात में कोई न कोई स्वार्थ ढूंढने का स्वाभाव हो। किसी बात को सोचे-समझे बिना कह देना नादानी है।

यह ठीक है कि शरीर में सभी क्रियाएं शक्ति द्वारा ही घटित होती हैं। इन क्रियाओं का अवलोकन दो प्रकार से हो सकता है। क्रियाओं को अपने से भिन्न अनुभव करते हुए अथवा इन क्रियाओं से अभिन्न हो कर। द्रष्टाभाव में स्थित हो कर अथवा कर्ताभाव से गर्वित हो कर। शरीर में घटित होने वाली क्रियाओं में अपने से भिन्नता की अनुभूति तथा द्रष्टाभाव का उदय शक्तिपात् की अपेक्षा रखता है। यह लक्षण तभी प्रकट होते हैं जब शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत हो जाय, अर्थात् साधक के लिए अन्तर्क्रियाओं का अवलोकन ही पर्याप्त नहीं है। क्रियाओं से भिन्नत्व का भाव एवं साक्षित्व होना भी आवश्यक है जो कि शक्तिपात् के बिना संभव नहीं। शक्तिपात् कोई व्यापार नहीं जिस में स्वार्थ का समावेश हो। यह कोई दिखावे की वस्तु नहीं जिस में दंभ हो, कोई धन-सम्पत्ति नहीं जिस में मोह हो। यह भौतिकता एवं स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की विद्या है, जिस में गुरु-शिष्य दोनों को स्वार्थ, दंभ, तथा मोह का त्याग कर, साधन तत्परता आवश्यकता है।

आज कल कुछ लोगों ने गुरुकार्य तथा शक्तिपात को व्यापार बना लिया है, किन्तु जहां व्यापार होता है वहां शक्तिपात् नहीं होता। बाहर बोर्ड अवश्य शक्तिपात् का ही लगा होता है।

यह सब सुन कर मैं सोच में पड़ गया। उस समय बुद्धि तर्क का सहारा अधिक लेती थी। अनुभव कुछ था नहीं, "यह कैसे संभव हो सकता है ? क्रिया भी करो तथा क्रिया को अपने से भिन्नता का अनुभव भी करो। कर्ता हो कर भी साक्षी

बने रहो। गुफा में से जो आवाज़े आती हैं क्या यह सभी साधक उन के केवल साक्षी हैं। इस तर्क को कोई अदालत कैसे स्वीकार कर सकती है ? चोरी मैं ने नहीं की, मेरे शरीर ने की है, मैं तो केवल साक्षी था।

मेरे अन्तर् में चल रही उथल-पुथल का महाराजश्री को कैसे भान हो गया ? बोले, "दुनियादारी, लेन-देन, कोर्ट-कचहरी का यह विषय ही नहीं। शरीर द्वारा किए गए कर्म के लिए अदालत शरीर को ही दोषी मानेगी। शरीर के अन्तर में बैठा साक्षी, अदालत की परिधि में नहीं आता। वह यह समझ ही नहीं सकते कि शरीर के द्वारा किए गए कर्मों का, शरीर केवल माध्यम है, अन्तर् के साक्षी से उन्हें कोई संबंध नहीं। कानून की किसी पुस्तक में नहीं लिखा कि शरीर केवल माध्यम है। उन के अनुसार दोषी के शरीर को सूली पर चढ़ा दिया जाता है।

मैं विचार करने लगा कि मेरे तथा महाराजश्री के दृष्टिकोण में इतना अन्तर क्यों है ? काफी चिन्तन मनन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुंचा कि मेरे दृष्टिकोण के विकास का आधार केवल शाब्दिक ज्ञान है। कोई पुस्तक पढ़ी, जैसा समझ में आया, दृष्टिकोण बना लिया। किन्तु महाराजश्री के सोचने का आधार पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ निजी अनुभव भी है। इसी लिए उन की विचार-शैली में स्वतंत्रता एवं मौलिकता है। महाराजश्री के अनुभवों को केवल तर्कों के आधार पर नहीं कसा जा सकता अपितु उन के आधार पर तर्क स्थापित किए जा सकते हैं।

मैं ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि जब तक मुझे महाराजश्री जैसे अनुभव प्राप्त नहीं होते, मैं उन की बात को पूरी तरह नहीं समझ सकता। जिस दृश्य को देख कर वह बात कर रहे हैं, वह दृश्य मेरे समक्ष भी होना चाहिए। महाराजश्री के कथनानुसार उस के लिए शक्ति की क्रिया की, अपने से भिन्नता एवं साक्षीभाव का उदय आवश्यक है। संभवतः गुरु इस अनुभव का आरंभ करा देते हैं। उन की इस प्रक्रिया का नाम ही शक्तिपात् है। यही पारस को छू कर सोना बन जाना है, क्योंकि गुरु के समान ही शिष्य में भी बंद पड़े अन्तरालोक के पट खुल जाते हैं।

महाराजश्री- अभी तुम्हें हमारी बातों की पूरी तरह समझ नहीं आ सकती क्यों कि जिस ऊंचाई पर तथा जिस कोण पर खड़े होकर हम जैसा दृश्य देख रहे हैं वह सब तुम्हें उपलब्ध नहीं है। तुम्हारी शक्ति का अन्तर्मुखी प्रवाह अभी आरंभ नहीं हुआ। अन्तर्शक्ति क्या है ? तुम्हें अभी इस की कल्पना नहीं। शक्ति की जाग्रति के पश्चात् की क्रियाएं अभी तुम्हारे सामने नहीं। तर्क एक बात को समझने का प्रयत्न तो कर सकता है, किन्तु अनुभव नहीं करा सकता। अनुभव शक्तिपात् का विषय है। जब तुम्हारी दीक्षा हो जायगी तो तुम बिना समझाए समझ जाओगे।

और वास्तव में हुआ भी वैसा ही। कोई डेढ़ महीने के पश्चात् आज वह शुभ

घड़ी थी जब मैं प्रातकाल चार बजे, स्नानादि के अनन्तर, दो अन्य दीक्षार्थियों के साथ गुफा में, महाराजश्री के समक्ष था। उन के सिर पर हाथ रखते ही शरीर झनझना उठा था। ज़ोर से उछला तथा धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा था। अपने अन्तर् में, अपने से भिन्न क्रियाओं का अनुभव, प्रथम अनुभव। मैं क्रियाओं का केवल साक्षी था दूसरा अनुभव। क्रिया में मेरी इच्छा अथवा संकल्प कोई हस्तक्षेप नहीं, तीसरा अनुभव। इन क्रियाओं के लिए शरीर तथा इन्द्रियां केवल आधार थीं, चौथा अनुभव। यह बातें समझने-जानने के लिए अब मुझे किसी प्रवचन की आवश्यकता नहीं थी पठन-पाठन अथवा चिन्तन-मनन भी बेकार हो कर रह गया था। यह सभी अनुभूतियां जैसे महाराजश्री के एक संकेत की प्रतीक्षा में थीं।

जब साधन के पश्चात् प्रणाम करने महाराजश्री की कुटिया में गया, तो बोले, "क्या अब भी तुम्हारे पुराने प्रश्न पहले की तरह मन में जमे है।" मैं धराशायी हो गया। गुरु क्या है ? यह आप ने बताया नहीं, कर के दिखा दिया। शरीर मात्र पुतली है, इस का क्रियात्मक दिग्दर्शन करा दिया। आप की शरण ग्रहण करना सार्थक हो गया।"

महाराजश्री- इस में मैं ने कुछ नहीं किया। यह सब भगवती क्रियाशक्ति की लीलाएं हैं। अन्तर्गुरु की कृपा शीलता है। आज के पश्चात् तुम्हारे साधन का सारा क्रम बदल गया है। अब तुम साधक की मिथ्या उपाधि से मुक्त हो कर केवल द्रष्टा रह गए हो। द्रष्टा बने रहना ही तुम्हारा साधन है। कुछ नहीं करना ही तुम्हारा प्रयत्न है। जो करना होगा, भगवती करेगी, देखते रहो।" फिर कहा, "अब सूत्र तुम्हारे हाथ में आ गया है। पकड़े रहो, चलते रहो।"

मैं ने कहा- "गुरुदेव ! अब तक सुनते आए थे कि मौन ही उपदेश है, किन्तु आज प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि मौन ही यथार्थ उपदेश है। न कोई शब्द, न वाणी, किन्तु शिष्य के संशय छिन्न-भिन्न होते जा रहे थे।

मैं उठ कर भोजन करने चला गया था किन्तु मन में महाराजश्री विषयक विचार ही घूम रहे थे। "यदि महाराजश्री ने मुझे साधन-पथ पर आरूढ़ कर दिया है, तो उन की अपनी आन्तरिक स्थिति क्या होगी ? कितनी गहराई तक अन्तर् में प्रवेश होगा ? उन की अन्तरानुभूतियां कितनी महान होंगी ? जगत उन्हें कैसा भासित होता होगा ? आदि-आदि विचार अन्तर में छाए रहे।

मैं दस वर्षों से कुछ अधिक महाराजश्री के अत्यन्त निकट सानिध्य में निरन्तर रहा। मैं ने ऐसा अनुभव किया कि ऐसा महात्मा दूसरा मैं ने नहीं देखा। ऐसी दया तथा ईश्वर के प्रति ऐसा अनुराग ? योगियों में योगी, भक्तों में भक्त तथा ज्ञानियों में ज्ञानी। शास्त्र ज्ञान में भी पारंगत, व्यवहार में भी अति कुशल। जैसे एक ही पात्र में

विभिन्न रंगो तथा आकृतियों के विभिन्न रत्न भर दिए गए हों। बीच-बीच में शंका भी सिर उठाती रही किन्तु महाराजश्री के साधन, ज्ञान, व्यवहार तथा व्यक्तित्व के प्रभाव से स्वयं ही निरस्त भी होती रही।

एक बार मैं महाराजश्री के पास बैठा था। एक भक्त आया, प्रणाम किया, तथा सौ रुपए भेंट स्वरूप भेंट किए। उस समय सौ रुपए बहुत होते थे। महाराजश्रीने पूछा "तुम्हें कितनी पगार मिलती है ?"

भक्त- पांच सौ प्रति मास के लगभग।

महाराजश्री- तुम्हारे घर के कितने सदस्य हैं ?

भक्त- आठ

महाराजश्री- क्या खर्चा पूरा हो जाता है या कुछ कठिनाई आती है ?

भक्त- कठिनाई तो रहती है।

इस पर महाराज उस पर बहुत नाराज़ हुए। बोले, फिर सौ रुपए हमें कैसे दे रहे हो। हम गुरु इस लिए नहीं बने कि तुम्हारा खून चूस लें। देखो ! हम संन्यासी हैं। ईश्वर-कृपा से हमारा काम चलता रहता है। आप गृहस्थ हैं। आप के उत्तरदायित्व हैं। आप की कठिनाइयां हैं। पहले उधर ध्यान देना आप का कर्तव्य है तथा यही हमारी सेवा भी है। यह सौ का नोट उठा लो। ग्यारह रुपए हमें दे दो।

एक मिस्त्री ने कई वर्ष तक आश्रम में निर्माण कार्य किया था। अब दो वर्ष उसे आश्रम का काम छोड़े हो गए थे किन्तु कभी-कभी महाराजश्री के दर्शन करने चला आता था। उस के यहां चोरी हो गई जिस में, उस की स्थिति के अनुपात से काफी नुकसान हो गया था। दूसरे जिस जगह वह काम कर रहा था, वहां पर मचान टूट जाने से वह गिर गया था तथा उसे काफी चोटें आईं थी। महाराजश्री ने सुना, तो हृदय दया से भर उठा। मुझे बुला कर कहा, "कुछ रुपए उस मिस्त्री के घर जा कर दे आना। हमारे यहां जो आदमी दूध देने आता है उसे कहना कि हमारे हिसाब में एक सेर दूध रोज़ उस मिस्त्री के घर दे दिया करे। तुम्हारे पास नए कपड़े बहुत रखे हैं, कुछ कपड़े भी उसे दे आना। उसे कहना कि कोई आवश्यकता हो तो हमें कहे।"

महाराजश्री की दयालुता देख कर मैं भाव विभोर हो उठा। वर्तमान स्वार्थमय युग में ऐसा दयालु तथा उदार व्यक्तित्व मिलना कठिन है। गुरु महाराज के हृदय का भाव मैं कुछ-कुछ समझने लगा था। यह भी स्पष्ट होता जा रहा था कि गुरु सब से बड़ा देवता क्यों है ? गुरु सब को देता है, बांटता ही चला जाता है किन्तु लेता कुछ नहीं। तभी विचार आया कि फिर गुरुसेवा का इतना गुणगान क्यों किया जाता है। उत्तर आया कि वह शिष्य का कर्तव्य है। गुरु यदि कुछ लेते हैं तो शिष्यों के रहने खाने पर ही खर्च कर देते हैं। जिस गुरु में स्वार्थ तथा लोभ उभर आता है वह गुरुत्व

से गिर जाता है।

महाराजश्री का दयाभाव केवल मनुष्यों के प्रति ही नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों के प्रति भी था। कोई वृक्ष काटने के तो वे एकदम विरोधी थे। छोटे बच्चों के साथ अत्यन्त प्रेम करते थे। मातृशक्ति के प्रति अगाध आदर था। मैं यह सारी बातें इस लिए नहीं कह रहा कि वे मेरे गुरुदेव थे वरन् इस लिए कह रहा हूं कि यह उन के स्वाभाविक गुण थे। उन से प्रेम प्राप्त करने में जितना आनन्द था, उस से अधिक उन की डांट खाना आनन्ददायक था क्योंकि तब स्नेह का भाव अधिक मुखर हो उठता था। बस इतना कहना ही पर्याप्त है कि महाराजश्री अपना उदाहरण आप थे।

भगवती विषयक उद्‌गार

टेकड़ी के विषय में चर्चा करते हुए महाराजश्री ने एक बार कहा था, "ऐसा लगता है कि टेकड़ी के साथ हमारा पूर्व जन्मों का कुछ संबंध है। जब हम प्रथम बार यहां आए थे तो ऐसा आभास हुआ था मानो यहां के दृश्यों तथा वातावरण से हमारा कुछ पूर्व परिचय है। इन पत्थरों भरे रास्तों की हम पहले भी फांदते रहे हैं। जब माताजी की गुफा के हम ने पहली बार दर्शन किए थे तो हम विस्मित हो कर देखते रह गए थे क्योंकि यहां की जो कल्पना, जो दृश्यावली, एवं माताजी की जैसी भावना ले कर आए थे, वह हमारी धारणाओं, भावनाओं तथा विचारों से पूर्णतया मेल खाती थी। इस स्थान के प्रति मन में विशेष प्रकार का आकर्षण हुआ, किन्तु उस समय तक यहां आ कर रहने की बात नहीं सूझी थी। प्रथम बार मुझे यहां जैसे अनुभव हुए थे वह मैं पहले कह ही चुका हूं। यही कहा जा सकता है कि हम जो यहां आ कर रह रहे हैं, इस में हमारा अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, सब माताजी की कृपा है। उन्हीं ने बुलाया, हम आ गए।

आश्रम के आंगन में महाराजश्री ने माता जी को प्रणाम करते हुए कहा, "मनुष्य के प्रयत्न से होता भी क्या है ? इस का कदापि यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को प्रयत्न करना ही नहीं चाहिए। प्रयत्न उस का आजीवन उत्तरदायित्व है किन्तु परिणाम भगवती के हाथ में है। वह चाहे तो बिना किसी पुरुषार्थ के कुछ भी प्रदान कर दे। चाहे तो जीव कितने भी हाथ-पैर पटके, कैसे भी माथे घिसे, किन्तु उस की कोई भी मनोकामना पूरी नहीं करे।"

इस पर एक भक्त ने प्रश्न किया, "भगवती के कई स्वरूप हैं। कौन सा स्वरूप सर्वाधिक कल्याणकारी है?"

इस महाराजश्री ने कहा, "भगवती एक ही है। जैसी भक्त की श्रद्धा होती है उसी रूप में भगवती की उपासना करता है। पुराणों में भगवान तथा भगवती के

विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है तथा प्रत्येक स्वरूप को सृष्टि का कर्ता-हर्ता बताया गया है। स्पष्ट है कि सृष्टि के कई कर्ता-हर्ता नहीं हो सकते। किन्तु कई भगवानों तथा कई भगवतियों की किसी के मन में उलझन हो भी, तो वह तभी तक है जब तक भगवती भक्त के अन्तर में अपना स्वरूप या क्रियाशीलता प्रकट नहीं कर देती। अन्तर् में भगवती की क्रियाशीलता, जगत में भगवती के कई स्वरूपों की समस्या का समाधान कर देती है।

उदारता

आज आश्रम पर बाहर से एक दम्पति आए थे। उन के साथ उन का एक नौकर भी था। काफी सुविधा-संपन्न ज्ञात होते थे। महाराजश्री को भेंट करने के लिए फलों के टोकड़े, मिठाइयों के डिब्बे, ठण्डे-गरम कपड़े और न जाने क्या-क्या साथ लाए थे। इतना सामान लाते पहले मैं ने किसी को नहीं देखा था। एक डिब्बे मे कुछ विशेष अच्छी मिठाई दिखाई दे रही थी। सोचा कि यह डिब्बा महाराजश्री के लिए रख लेंगे। साथ में अपने को भी अच्छी मिठाई चखने को मिल जाएगी। किन्तु महाराजश्री ने वही डिब्बा सब से पहले हाथ में लिया और प्रसाद बाटना आरंभ कर दिया। मेहमानों, आश्रम वासियों, दर्शनार्थियों, सब को बुला-बुला कर फल तथा मिठाइयां लुटाने लगे। सब डिब्बे खाली हो गए। सब फल बट गए, केवल एक डिब्बा बच गया। महाराजश्री ने मुझे कहा, “शाम को पुजारी जी आएं तो यह डिब्बा भगवान के नैवेद्य के लिए दे देना” मैं मन मार कर रह गया था। महाराजश्री तथा मेरे लिए मिठाई का एक टुकड़ा तक नहीं बचा था।

इस एक ही उदाहरण से महाराजश्री की चित्तस्थिति के कितने ही लक्षण प्रकट हो जाते हैं। वह मन के अत्यन्त उदार थे। दूसरों को खिला कर उन्हे सुख मिलता था। तभी तो सारा प्रसाद बांट दिया। अपने लिए मिठाई का एक टुकड़ा भी नहीं रखा। उन्हें अपनी जुबान के चसके पर कितना नियन्त्रण था ? वे निस्वार्थी थे। एक छोटी सी घटना ने उन की आन्तरिक स्थिति को कहां तक प्रकाशित कर दिया था। मैं सोचता रहा। आश्रम पर अनेकों लोगों का आना-जाना था। उन के व्यवहार से उन की चित्त स्थिति का पता चल जाता था। मेरी अपनी चित्त की अवस्था भी मेरे सामने थी। महाराजश्री के विशाल व्यक्तित्व के सामने सब कितने बौने थे। इन्हीं गुणों के कारण महाराजश्री सब के वन्दनीय थे।

साधन का कोई भी मार्ग हो, कैसा भी सिद्धान्त हो, यम-नियमों का पालन सब के लिए आवश्यक है जब कि यम-नियम पालन के प्रति प्राय: साधक उदासीन रहते हैं, किन्तु महाराजश्री को इन का पालन करने के लिए किसी प्रकार के विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि स्वभावत: ही यह अवस्था प्राप्त थी। कितना

भी बड़ा प्रलोभन हो किन्तु उन का मन प्रभावित होते कभी नहीं देखा गया।

एक बार महाराजश्री भ्रमण में थे। सेवा में मैं साथ था। एक स्थान पर गाड़ी से उतर कर उसी शाम को दूसरी गाड़ी पकड़ कर, अन्यत्र चले जाने का कार्यक्रम था अर्थात् वहां एक ही समय का भोजन करना था। जिन के पास हम ठहरे थे वह बड़े सेठ जी थे। बड़ा व्यापार, बड़ा मकान, नौकर-चाकर,कार-सवारी सभी कुछ। उन्हों ने पूछा, "महाराजजी ! भोजन में क्या बनवा दूं ?" महाराजश्री ने उत्तर दिया, "भोजन तो करना ही है। जो बनेगा, वही ठीक है" सेठ जी व्यवस्था के लिए अन्दर चले गए।

उसी नगर का एक अन्य व्यक्ति जो कि महाराजश्री का दीक्षित था किन्तु आर्थिक दृष्टि से बहुत ही कमज़ोर था, वह भी पास बैठा था। उस ने कहा, "इच्छा तो हमारी भी बहुत होती है कि हमारें यहां भी आप पधार कर हमारे घर पवित्र करें किन्तु अभी तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह सौभाग्य हमारे भाग्य में नहीं है "

महाराजश्री दो क्षण के लिए उस की ओर देखते रहे, फिर कहने लगे, "निराश होने की कोई बात नहीं। यह समय सदैव ऐसा ही रहने वाला नहीं है। बाकी रही बात तुम्हारे यहां जाने की, तो आज का भोजन हम तुम्हारे यहां ही करेंगे। तुम घर जा कर व्यवस्था कर आओ।" सेठ जी को बुलाया और कहा, "अन्दर जा कर हमारे लिए भोजन बनाने का मना कर दो। आज का भोजन हम इन के यहां करेंगे।"

सेठ सुन कर हैरान रह गए, "इन के यहां भोजन ?" क्योंकि सेठ जी उस की निर्धनता से भली भांति अवगत थे। उस व्यक्ति का भी, महाराजश्री की बात सुन कर, मुंह खुले का खुला रह गया। निवेदन किया,"यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आप ने मेरे घर पधारने की बात कही किन्तु मैं संभवत: आप की यथायोग्य सेवा नहीं कर पाऊंगा।" महाराजश्री ने कहा, "तुम्हारे पास यदि धन नहीं है तो भावना, श्रद्धा तथा प्रेम का धन तो है। तुम जैसी भी सेवा करोगे हमें स्वीकार है। तुम घर जा कर व्यवस्था संभालो।" वह व्यक्ति घर चला गया।

सेठजी- महाराजजी ! मैं उस की आर्थिक स्थिति से भली प्रकार परिचित हूं। कुछ भी व्यवस्था कर पाने में उसे असुविधा ही होगी। मैं ने कभी जा कर उस का घर देखा तो नहीं किन्तु अनुमान है कि बहुत छोटा तथा गंदा होगा। उन के घर में आप के लिए ढंग का एक आसन तक नहीं होगा।"

महाराजश्री- तब तो उस के घर हमारा जाना और भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में उस के अपने भी पराये हो गए होंगे। हमारे जाने से उस को कितना मानसिक संतोष होगा ?

कुछ देर के पश्चात् वह व्यक्ति महाराजश्री को लिवाले जाने के लिए आ गया। उस के चेहरे पर प्रसन्नता, उत्तेजना तथा संकोच के भाव एक साथ प्रकट हो रहे थे। जब महाराजश्री चलने लगे तो वहां बैठे कुछ अन्य लोग भी साथ जाने के लिए तैयार हो गए। महाराजश्री ने कहा, "केवल हम दोनो ही जाएंगे।"

सेठजी- महाराजश्री ! थोड़ी देर रुक जायं, ड्राईवर आता ही होगा।

महाराजश्री- आप चिन्ता न करें। हम चले जायंगे।

महाराजश्री तथा मैं उस व्यक्ति के साथ पैदल ही चल दिए। उस का घर वहां से कोई एक मील दूर होगा। वहां पहुंच कर पहली ही नज़र में उस की स्थिति प्रकट हो गई। खपरैल की टूटी छत, बिना प्लस्तर के दीवारें एक ही कमरे में घर की सारी व्यवस्था, न कोई सामान न फर्नीचर, टूटे-फूटे दस-पांच बरतन, नहाय धोए साफ सुथरे बच्चे किन्तु कपड़ों के नाम पर चीथड़े, फटी-पुरानी साड़ी में किसी तरह अपने शील को संभाल हुए पत्नी। कच्चे फर्श पर एक ओर महाराजश्री के बैठने के लिए मैले से कम्बल का एक आसन लगा था। महाराजश्री को आसन पर पधरा कर पति-पत्नी दोनों ने प्रणाम किया। पूजा सामग्री के नाम पर केवल थोड़ी सी भस्म। दोनों की आंखों में प्रसन्नता, हताशा तथा विवशता के मिश्रित आंसू थे। रोते हुए उस सज्जन ने कहा, "हमें स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि कभी आप को अपने घर में विराजमान देखें गे, किन्तु आप की कृपा से ही यह असंभव संभव हो पाया है। पर दुख इस बात का है कि हम आप को कुछ भी भेंट कर पाने में असमर्थ हैं।"

महाराजश्री- आप के यह प्रेमाश्रु किसी भी अन्य भेंट की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। अब आप प्रसन्न हो जाइए।

जब भोजन परोसा गया तो सूखी रोटी और नमक। महाराजश्री संभवतः इसी प्रकार के भोजन के लिए तैयार हो कर आए थे। उस दिन उन्हें प्रेमपूर्वक भोजन करते देखा

जब चलने को हुए तो महाराजश्री ने मुझ से कहा, "दस रूपए देना।" मैं ने अपने झोले में से दस रुपए का नोट निकाल कर दिया तो बच्चे के हाथ में थमा दिया। वह सज्जन बोले, "महाराज ! आप यह क्या कर रहे हैं ? उलटी गंगा" महाराजश्री ने कहा, "आप को नहीं, इस बच्चे को।"और महाराजश्री चल दिए।

मैं रास्ते भर महाराजश्री के हृदय की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करता रहा। लौट कर जब महाराज श्री अकेले हुए तो मैं ने बात छेड़ी, "आज नमक के साथ रोटी कैसे लगी ?"

महाराजश्री- प्रश्न रोटी-नमक या पकवान का नहीं। वह निर्धन अवश्य है किन्तु प्रेम का धनी है। किसी धनिक में यदि प्रेम होता भी है तो उस के साथ धन

के अभिमान का मिश्रणं भी रहता है। इस लिए उस का प्रेम दूषित हो जाता है। निर्धन के प्रेम के साथ दीनता का मिश्रण होता है जो प्रेम और भी अधिक निखार प्रदान कर देता है। गुरु धनिकों तथा निर्धनो दोनों का गुरु होता है। किसी के यहां वह केवल इस लिए नहीं जाए कि निर्धन है, तो यह बात गुरु की मर्यादा के विपरीत है तथा उस भक्त के प्रेम का अनादर है।

मैंने कहा- किन्तु कई महात्मा ऐसी भी होते हैं जो प्रत्येक्कार्य के लिए धन का प्रमाण निश्चित कर देते हैं। पादुका पूजन के इतने पैसे, भोजन करने के इतने पैसे इत्यादि।

महाराजश्री- यह उन की अपनी सोच है। उन का सारा व्यवहार धन के आधार पर चलता है। किन्तु हमारे विचार में यह आधार भाव का होना चाहिए। किसी का धन हमें खीचं कर नहीं ले जाता, उस का भाव या प्रेम ले जाता है। धन का आधार जगत व्यवहार में उचित हो सकता है, अध्यात्म के क्षेत्र में नहीं।

मैं ने कहा- किन्तु आश्रम तो धन के आधार पर ही चलता है।

महाराजश्री- केवल धन ही उस का आधार नहीं है। जहां प्रेम का आधार मुख्य होता है वहां धन की व्यवस्था अपने आप होती रहती है। मुख्य प्रेम या भाव है, धन गौण है। यदि धन को मुख्य मान लिया जाय तो यह शुद्ध व्यापार हो जाता है तथा कालान्तर में विकारों के पनप जाने का कारण होता है।

ऐसा था महाराजश्री का दृष्टिकोण तथा ऐसा था उन का व्यवहार। किन्तु सांसारिक दृष्टिकोण को अपना कर महाराजश्री को समझ पाना असंभव था। यह तो स्पष्ट ही है कि यह विचार-व्यवहार उन की चित्त-स्थिति की स्वाभाविकता का प्रकटीकरण है जब कि संयम करने में प्रयत्न करना पड़ता है जिस में चित्त की वास्तविक अवस्था व्यक्त नहीं हो पाती।

अब रही बात दूसरों को खिला कर प्रसन्न होने की तो इस का अनुभव मुझे महाराजश्री के नित्य के व्यवहार में होता ही रहता था। वे अपने पूर्वाश्रम की घटना सुनाते हुए कहते थे, "तब मैं दिल्ली में रहता था। एक दिन घूमते हुए चान्दनी चौक से निकल रहा था कि हलवाई की दुकान के सामने एक आदमी खड़ा दिखाई दिया। उसे देख कर ऐसा आभास हुआ कि वह कुछ खाना चाहता है। किन्तु धन के अभाव में विवश है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि हरियाणा के हिसार ज़िले का रहने वाला है। उस से पूछा कि क्या कुछ खाओगे ? तो उस ने कहा कि खिलाओगे तो अवश्य खाऊंगा। मैं ने हलवाई से कहां कि ये जो खाएं इन्हें खिला दो। उस व्यक्ति ने कलाकंद की ओर इशारा कर दिया। हलवाई ने तराजू उठाते हुए कहा, "कितनी तोल दूं ?"

वह व्यक्ति- तोलना क्या है। थाल ही इधर सरका दो।

हलवाई- (पहले थाल की ओर तथा फिर मेरी ओर देखते हुए) अढ़ाई सेर के करीब होगी।

जब मैं ने हां में सिर हिला दिया तो हलवाई ने थाल आगे सरका दिया। वह व्यक्ति पावों के बल बैठ गया और कलाकंद खाने लगा। आधा खा चुका तो उस ने मेरी ओर देखा। मैं ने पूछा, "और क्या चाहिए ?"

वह व्यक्ति- अब यह दही मांगता है।

मैं ने हलवाई से कहा कि जितना मांगे इन्हें दही दे दो। हलवाई ने उस व्यक्ति की ओर देखा तो वह बोला, "कूण्डा मेरी ओर सरका दो। "इस प्रकार बचा हुआ कलाकंद तथा दही का एक कूंडा खा कर वह व्यक्ति उठ खड़ा हुआ। मैं ने पूछा, "और कुछ ?" तो उस ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, तृप्त हो गया"

महाराजश्री कहते थे कि आजकल न वैसे खाने वाले रहे हैं, न ही वैसे खिलाने वाले।

यह है महाराजश्री की आन्तरिक स्थिति की बाह्य झलक। किसी को दुखी देख कर वह व्याकुल हो उठते थे। छोटे बच्चों को देख कर उन्हें कुछ खाने के लिए देने का मन कर उठता था। विद्वानों से सौम्यता तथा आदर का व्यवहार करते। कोई अतिथि आ जाय तथा खाने का समय हो तो उन का प्रयत्न होता था कि खाए बिना नहीं जाए। उन का कहना था कि नम्रता, उदारता तथा क्षमाशीलता के बिना साधन केवल बुद्धिविलास है। उन में संचय वृत्ति थी ही नहीं। किसी की निन्दा कभी की नहीं। किसी बात को सुनते ही वह एक दम उत्तेजित नहीं हो उठते थे। कोई गृहस्थ हो अथवा विरक्त, किन्तु यदि साधक है तो इन लक्षणों को धारण करना अनिवार्य है अन्यथा अध्यात्म विनोद का विषय बन कर रह जाता है। उन के शिष्यों में राजा भी थे तो अत्यन्त दीन-हीन सामान्य जन भी। लौकिक दृष्टि से बड़े लोगों के सामने, घर में स्थान अत्यधिक उपलब्ध होने से यह समस्या होती थी कि महाराजश्री को कहां बिठाएं ? तो सामान्य जन स्थान के अभाव में यह सोचने लगता कि महाराजश्री को कहां बिठाएं ? जो हो किन्तु महाराजश्री स्वयं सामान्य जनों के घरों में अधिक सहज अनुभव करते थे।

महाराजश्री में लोकेषणा नाम को भी नहीं थी। चित्त की आन्तरिक अवस्था की बात तो मैं नहीं जानता किन्तु व्यवहार में यही परिलक्षित होता था। बड़े महात्मा या बड़े लेखक के रूप में प्रसिद्धि कभी भी उन के जीवन का लक्ष्य नहीं रहा। किसी ने कहा, "महाराजश्री ! आप की लिखी पुस्तकों की बिक्री को सुव्यवस्थित करने की इच्छा है" तो आप ने कहां, "हम ने पुस्तक कर के कुछ नहीं लिखा। जो कुछ

लिखा है वह किसी ग्रन्थ या विषय को समझने, या अपने आप को जानने के प्रयास में लिखा है किन्तु लोगों ने उसे पुस्तकाकार छपवा दिया तथा हमें लेखक बना दिया। आप पुस्तकों के ऊपर से हमारा नाम हटा दो, तथा बिकरी सुव्यवस्थित कर लो।

भक्त- उन पुस्तकों का महत्त्व इसी लिए है कि उन के ऊपर लेखक के रुप में आप का नाम है। यदि नाम हटा दिया जाय तो पुस्तक कौन लेगा ?

महाराजश्री - तो यह कहो कि तुम पुस्तकों की बिक्री को नहीं, हमारे नाम की बिक्री को सुव्यवस्थित करना चाहते हो। हमारा नाम बिकाऊ नहीं है।

इस पर वह सज्जन चुप रह गए

यह सब बतलाने का भाव यह है कि यदि महाराजश्री का बाह्य व्यवहार इतना, शुद्ध,मधुर तथा कोमल था तो उन की आन्तरिक स्थिति की सहज ही कल्पना की जा सकती है। आन्तरिक पवित्रता-अपवित्रता बाह्यक्रियाओं पर अपना रंग बिखेरती है। यदि कोई अन्दर के भावों को दबा कर बाहर दंभ करे तो वह अधिक देर चल नहीं सकता तथा कहीं न कहीं अन्तर्भाव व्यक्त हो ही जाता है। दीर्घकाल तक महाराजश्री के सानिध्य में सतत् सेवारत् रहने के उपरान्त भी मैं, व्यवहार में कभी भी,कहीं भी, भाव की न्यूनता का कोई भी लक्षण नहीं देख पाया।

अलौकिक अनुभव

एक बार योग श्री पीठ ऋषिकेश में मैं, रात को सोने का प्रयत्न कर रहा था। मेरा सोने का कमरा महाराजश्री के कमरे से लगा हुआ था। दोनों कमरों का एक दरवाज़े से मिला दिया गया था तथा वह दरवाज़ा रात को भी खुला रहता था। मुझें नींद तो नहीं आ रही थी, अपनी दयनीय स्थिति पर विचार मंथन चल रहा था। मैं अनायास ही उठा तथा देखा कि महाराजश्री आसन पर ध्यान लगाए बैठे हैं। मैं सोचने लगा कि मैं अनावश्यक विचार-चक्र में घूमने के स्थान पर महाराजश्री की तरह साधन में क्यों नहीं बैठ गया। अनावश्यक विचार-प्रवाह से मन और कैसे आनन्द में बैठे हैं।

सहसा मैं ने क्या देखा कि महाराज श्री के शरीर से पूर्णिमा की ज्योत्सना जैसा प्रकाश फूट कर चारों दिशाओं में फैलने लगा। मै दरवाज़े की ओट में खड़ा हो कर, यह अलौकिक दृश्य आश्चर्य चकित हो कर देख रहा था। प्रकाश बढ़ता गया तथा सारे कमरे में फैल गया। फिर मैं ने क्या देखा कि महाराजश्री के शरीर से उसी प्रकाश की एक घनीभूत किन्तु पारदर्शी आकृति उभर कर ऊपर की ओर उठी। यह आकृति एक दम महाराजश्री की प्रतिछाया थी। आकृति ने कमरे की छत तक ऊपर उठ कर चक्कर लगाने आरंभ कर दिए। महाराजश्री अपने ध्यान में निमग्न बैठे थे तथा कौतूहलवश, आश्चर्य का मूर्मिमान स्वरूप बना इस दिव्य घटना को निहार

रहा था। कुछ देर चक्कर लगाने के पश्चात् आकृति अधर में विलीन हो गई।

मेरी नींद उड़ चुकी थी। महाराजश्री ध्यान में थे। उन के शरीर से निकलने वाला चन्द्रमा का शीतल प्रकाश भी विलीन हो चुका था। मैं थोड़ा खांसा, दरवाज़े की सांकल बजाई, कुछ वस्तुओं को ज़ोर से उठाया-रखा ताकि थोड़ी आवाज़ हो, किन्तु फिर भी महाराजश्री बाह्य-ज्ञान-शून्य अवस्था में ही स्थिर बने रहे। सभी आवाज़े उन के कानों के बाहरी परदे से टकरा कर ही लौट आती थीं। महाराजश्री निश्चल थे। मैं बाहर का दरवाज़ा खोल कर वराण्डे में जा बैठा था। वराण्डे की ओर महाराजश्री के कमरे में एक खिड़की थी जो रात को भी खुली रहती थी। मैं उसी खिड़की के पास बैठा महाराजश्री को देख रहा था। ध्यान रहे कि महाराजश्री का कमरा और आगे-पीछे का वराण्डा मिला कर, अब एक बड़ा हाल कर दिया गया है, इस लिए उस समय का दृश्य अभी उपलब्ध नहीं है।

बाहर का सारा दृश्य चान्दनी में स्नान करते हुए बड़ा सुन्दर लग रहा था। सामने के पहाड़, गंगा जी, गीता भवन आदि सभी चान्दनी रूपी शीतल जल में अठखेलियां करते से प्रतीत हो रहे थे। आकाश साफ था किन्तु कभी-कभी बादल का कोई टुकड़ा पता नहीं कहां से आ कर अपनी ओट में छिपा लेता था। सभी आश्रमवासी नींद का सुख ले रहे थे। केवल मैं ही वराण्डे में बैठा जाग रहा था।

मैं कभी महाराजश्री को खिड़की में से निहारने लगता था, तो कभी सामने का दृश्य देखने लग जाता, तो कभी चन्द्रमा की शीतल ज्योत्सना में अपने आप को भीगा हुआ अनुभव करने लगता कि सहसा आकाश में, महाराजश्री के शरीर से निकली हुई ज्योत्सनामयी आकृति अपनी ओर आती दिखाई दी। मैं उत्सुक बना अभी देख ही रहा था कि तीव्र गति से आ कर आकृति महाराजश्री के शरीर में प्रवेश कर गई। कमरे में मध्यम प्रकाश था तथा वराण्डे में अंधेरा, इस लिए वराण्डे में बैठा व्यक्ति अन्दर से दिखाई नहीं देता था। मैं खिड़की से सटा अंदर घटित होने वाली सभी गतिविधियां देखता रहा। थोड़ी देर में महाराजश्री सामान्य अवस्था में लौट आए। उन्हों ने पानी का एक गिलास पिया। फिर लेट गए।

मैं थोड़ी देर वराण्डे में बैठा रहा। फिर धीरे से दरवाज़ा खोल कर अपने बिस्तर पर जा लेटा। अभी जो घटना देखी थी उस ने मेरे मन-मस्तिष्क को झकझोर कर रख दिया था। प्रात: काल इस विषय में महाराजश्री से चर्चा करने का विचार बार-बार उठता। घड़ी देखी तो रात के दो बजे थे।

मेरे मन में एक भय था कि यदि आज घूमने के लिए कोई साथ चल दिया तो रात वाली बात नहीं हो पाएगी, किन्तु भगवान की ऐसी कृपा हुई कि उस दिन कोई भी साथ नहीं आया। सड़क पर पहुंच कर मैं ने अपनी बात आरंभ की, "महाराज

जी ! रात को मैं ने देखा कि आप के शरीर से चन्द्रमा का शीतल प्रकाश फैल रहा है। फिर आप के शरीर से आप की ही एक आकृति उदय हुई और अदृश्य में विलीन हो गई। मैं जा कर बाहर वराण्डे में बैठ गया। थोड़ी देर में वही आकृति पहले आकाश में दिखाई दी, फिर आप के शरीर में समा गई। यह सब क्या है ?"

महाराजश्री- तो रात की घटना को तुम ने देख लिया। इस विषय में किसी से चर्चा नहीं करना। लोग अनावश्यक वाद-विवाद करने लगते हैं। इस प्रकार की अनुभूतियां, यदि व्यक्त हो जायं, तो प्रसिद्धि का भी कारण बन सकती हैं, जो किसी भी साधक के लिए अवरोध रूप है। साधन तथा उस के अनुभव जितने गुप्त रहें उतना ही अच्छा है।

मैं तुम्हें पहले साधन-धाम के बारे में बता ही चुका हूं कि वहां पिछले नौ हज़ार वर्षों से मेरा खाली पड़ा आसन मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। (इस प्रसंग के लिए देखें हृदय मंथन भाग ३) अब मेरा वह समय समीप आ गया है जब मैं साधन-धाम में वापिस लौट कर अपना आसन ग्रहण करूंगा। तब मैं हज़ारों वर्षों के लिए समाधि में चला जाऊंगा। तो विचार आया कि उस से पूर्व एक बार गुरुजी के दर्शन का लाभ ले लूं। इस लिए मैं योगानन्द जी महाराज के लोक में चला गया था। मेरा जाना तथा आना तुम्हारी दृष्टि में आ गया।

मैं ने कहा- तो गुरु जी से कोई बात हुई ?

महाराजश्री- गुरुजी जिस लोक में वास करते हैं वहां शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। वहां वैखरी तथा मध्यमा वाणी मौन रह जाती है। एक के हृदय में भाव उदय होता है तो दूसरा उसे समझ लेता है। इस लिए किसी प्रकार की चर्चा का कोई प्रश्न ही नहीं। गुरुजी के दर्शन हुए उन्हों ने मेरा हृदय का भाव समझ लिया, तथा उन के हृदय में मेरे लिए आर्शीवाद का जो भाव उदय हुआ, वह मैं ने जान लिया।

मैं ने कहा- इस का अर्थ यह हुआ कि वहां ज़बान तथा कानों का कोई काम नहीं किन्तु आखें तो वहां भी काम करती हैं।

महाराजश्री- स्थूल आंखों का कोई काम नहीं। वहां का दृश्य देखने अथवा किसी का दर्शन करने के लिए सूक्ष्म आखों की आवश्यकता पड़ती है। तुम्हारे सामने ही मैं स्थूल देह को यहीं छोड़ कर गया था। वहां न तो स्थूल शरीर प्रवेश पा सकता है, न वहां उस की कोई उपयोगिता है। स्थूल इन्द्रियां, स्थूल जगत में ही कार्यशील हो सकती हैं।

यह बातें सुन कर मेरी बुद्धि एक दम कुण्ठित सी हो गई थी। काफी समय तक मेरे मुंह से कोई शब्द ही नहीं निकला

महाराजश्री- अध्यात्म जीव को बता देता है कि वह कौन है ? कब जाना

है ? कहां जाना है ? जिसे इन बातों की समझ नहीं उस का अध्यात्म में अभी प्रवेश नहीं हुआ। कोई पुस्तकों में ही सिर खपाना चाहता है तो उस की इच्छा !

इतना कह कर महाराजश्री चुप हो गए। तब तक हम घूम कर आश्रम लौट आए थे।

कर्तव्य-भाव

एक बार नारायण कुटी में कुछ निर्माण कार्य चल रहा था। महाराजश्री उस में पूरी रुचि लेते हुए उसे बार-बार देखने आते थे ऐसा प्रतीत होता था कि महाराज को आश्रम में बहुत आसक्ति है। कभी कहते कि यदि आज रेत का ट्रक नहीं आया कल तक काम बंद हो जायगा। कभी हिसाब लगाने लगते कि कितना सरिया लगेगा ? कभी सीमेंट की बोरियां गिनने लगते। कोई आ जाता तो पूछते, "उसे कौन सा कमरा दिया है ? उस के कमरे में तखत है कि नहीं ? क्या उस ने खाना खा लिया ?" मेरे मन में आशंका होने लगी कि हम सब लोग महाराजश्री की सेवा में हैं ही फिर उन्हें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? कहीं उन के मन में ममत्व तो अंगड़ाई नहीं ले रहा ? कहीं वह संसार में फिर से फंसते तो नहीं जा रहे ?" उचित समय देख कर मैं ने महाराज के समक्ष अपने मन की शंका व्यक्त कर दी।

महाराजश्री- तुम ने हमारे विषय में जो विचार किया, वह हमारे लिए कल्याणकारी है। यदि गुरु शिष्य को संभालता है तो कई बार शिष्य को गुरु को भी संभालना पड़ सकता है, किन्तु अभी तक यहां ऐसी कोई संभावना नहीं। कर्म दो प्रकार का होता है, आसक्ति से प्रभावित तथा कर्तव्य से प्रभावित। आसक्ति एवं कर्तव्य दोनों परस्पर विरोधी भाव हैं। आसक्ति प्रेय मार्ग का प्रतिनित्व करती है तो
कर्तव्य दोनों परस्पर विरोधी भाव हैं। आसक्ति प्रेय मार्ग का प्रतिनिधित्व करती है तो रुचि है किन्तु दोनों का चित्त पर प्रभाव भिन्न-भिन्न है। भगवान की बड़ी कृपा है कि अभी तक उस ने आसक्ति से बचाए रखा है। तुम ने कर्म में मेरी रुचि को तो देखा किन्तु मेरे भाव को नहीं देख पाए। इसी लिए तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न हो गई।

मैं आश्रम में रुचि लेता हूं, व्यवहार के प्रति सजग हूं क्योंकि यह मेरा, आश्रम का मुखिया होने के नाते, कर्तव्य है। कल को यदि मुझे आश्रम छोड़ना पड़े तो मुझे कोई कष्ट नहीं होगा क्योंकि मैं ने मन से आश्रम पकड़ा ही नहीं, तो छोड़ने का क्या अर्थ ? यही साधन का मार्ग है। यही साधकों का कर्तव्य है।

मेरा समाधान हो गया।

भगवती

एक दिन भ्रमण के समय टेकड़ी पर चामुण्डा माताजी की चर्चा करते हुए

महाराजश्री ने एक बार कहा, "भगवती के सभी स्वरूप एक समान वन्दनीय तथा पूजनीय हैं क्योंकि वह एक ही भगवती के विभिन्न स्वरूप हैं। हम सभी स्वरूपों में दक्षिणामूर्ति के दर्शन करते हैं। दक्षिणामूर्ति भगवान शंकर तथा भगवती का मिला-जुला स्वरूप है जो अपने भक्तों का हृदय निर्मल बना कर आत्माभिमुखी गतिशील है। आप शंकर के सभी स्वरूपों एवं भगवती के प्राकट्यों में दक्षिणामूर्ति की भावना कर सकते हैं। सद्गुरु में दक्षिणा मूर्ति तथा दक्षिणामूर्ति में सद्गुरु के दर्शन कर सकते हैं। दक्षिणामूर्ति की भावना शंकर, भगवती तथा सद्गुरु में एकत्व के दिग्दर्शन कराती है। दक्षिणामूर्ति शास्त्रीय तथा भावनात्मक परिकल्पना तो है ही, किन्तु उसका वैज्ञानिक, साधनापरक तथा अनुभवात्मक आधार भी है। आश्रम के मंदिर में दक्षिणा मूर्ति की जो आरती की जाती है, वह गुरु-भाव प्रधान है दक्षिणामूर्ति का उपदेश शब्द-मात्र नहीं होता, दिव्य मौन होता है, अन्दर् से उभरता है, अन्तर को रंग देंता है, अन्तर को प्रकाशित करता है। दक्षिणामूर्ति बीज रूप में प्राणी मात्र में अवस्थित है जिसे दक्षिणामूर्ति की कृपा से ही विशाल वट-वृक्ष के रूप में विकसित किया जा सकता है। दक्षिणामूर्ति के कृपा-कटाक्ष मात्र से सीमाओं के परम्परागत बंधन को तोड़ा जा सकता है।

एक भक्त- आप के दोनों आश्रमों में आरती के समय जय दक्षिणामूर्ति गाया जाता है। कुछ दूसरे गुरुओं ने भी इस आरती को अपना रखा है किन्तु कहीं भी दक्षिणामूर्ति का मंदिर नहीं है।

महाराजश्री- किन्तु हमारी भावनाओं के मंदिर में दक्षिणामूर्ति अवश्य प्रतिष्ठित है। भविष्य में, संभव है, दक्षिणामूर्ति के कुछ मंदिर भी बन जायं। हमारा साधन दक्षिणामूर्ति की कृपा पर ही आधारित है। गुरु के सामने जा कर, या शिव की उपासना करते समय अथवा भगवती के मंदिर में दर्शन करते समय, दक्षिणामूर्ति के भाव को अपनाया जा सकता है (ध्यान रहे कि नारायण कुटी देवास में, एक हाल बना कर,उस में दक्षिणामूर्ति की प्रतिमा कुछ दिन पहले ही स्थापित की जा चुकी है। अक्षय तृतिया सन् २००३ के शुभ मुहूर्त पर)

अदृश्य महापुरुष के दर्शन

मालवा क्षेत्र के कुछ सिद्ध अदृश्य महापुरुष महाराज श्री के संपर्क में थे। हिमालय के कई सिद्ध महापुरुषों के साथ भी उन का संपर्क था। अमेरिका के लास् एंजलिस नगर में एक पवित्र आत्मा आग़ाशा के आग़ाशा ज्ञान मंदिर में भी उन का आना-जाना था। किन्तु यह सब गतिविधियां सूक्ष्म स्तरों पर गुप्त रूप से ही सम्पादित होती थीं अर्थात् महाराजश्री ने कभी भी उन का प्रचार नहीं किया। स्थानीय भक्तों तथा आगुंतको को महाराजश्री ने इस की हवा भी नहीं लगने दी।

अदृश्य महापुरुष यदा-कदा भगवती चामुण्डा के दर्शन करने टेकड़ी पर आया करते हैं। साथ ही नारायण कुटी पर भी उन का आगमन हो जाया करता है। कई साधकों को कई बार किसी के चलने का आभास होता है जब कि दिखाई कुछ नहीं देता। कई साधको को साधन गुफा में बैठे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अन्य व्यक्ति भी बैठा है। आंख खोल कर देखते है तो कोई दिखाई नहीं देता। कई लोग ऐसा मानते हैं कि आश्रम में भूत-प्रेतों का आगमन है। ऐसा वही व्यक्ति सोच सकता है जो भूत-प्रेतों तथा अदृश्य महापुरुषों के अन्तर को न समझता हो।

एक दिन रात का समय था। चन्द्रमा अभी तक निकला नहीं था। आकाश तारों से भरा था। बिजली के दो बल्बों के कारण आश्रम में मध्यम प्रकाश फैला था। टेकड़ी भी बिजली के प्रकाश से अपने अस्तित्व का परिचय दे रही थी। महाराज श्री अपने आसन पर ध्यानस्थ थे। मैं वराण्डे में बैठा, थोड़ी-थोड़ी देर के पश्चात् खिड़की में से महाराजश्री को देख लेता था।

टेकड़ी ढलान पर होने के कारण नारायण कुटी का विकास सीढ़ियों की तरह हुआ है। अब कुछ सीढ़ियां कम हो गई हैं किन्तु आज से चालीस साल पहले अधिक थीं। नीचे के स्तर पर एक ओर रसोई घर था। बीच में एक छोटा सा कुण्ड बना था जिस में रात को चांदनी के प्रकाश में कुमोदिनी के फूल खिले रहते थे। मैं ने वराण्डे में बैठे उधर देखा तो कुण्ड के पास कोई बैठा दिखाई दिया। साधन में प्राय: लोग गुफा में ही बैठा करते थे। किन्तु गरमी के मौसम में कई बार यहां-वहां भी बैठ जाते थे। मैं ने समझा कि कोई साधक बैठा होगा। जब बार-बार कोई बैठा दिखाई दिया तो यह देखने के लिए कि कौन है ? मैं उठ कर कुण्ड के पास गया। देखा, तो वहां कोई भी नहीं था। वापिस वराण्डे में आ कर देखा तो फिर कोई बैठा दिखाई दिया। मैं दुविधा में पड़ गया। यह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि कुण्ड के पास कोई है या नहीं। एक बार फिर वहां गया। कोई नहीं था। वराण्डे में लौट कर अपने स्थान पर बैठा, अभी तक भी वहां कोई व्यक्ति बैठा दिखाई दे रहा था। आज ही चर्चा में किसी ने कहा था कि आश्रम में भूत रहते हैं। वह बात याद आई तो दिल कांप गया। आश्रम में आए अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था। समझ कच्ची थी। अनुभव अधूरा था। मैं उठ कर अपने कमरे में चला गया। किन्तु मन को चैन कहां ? खिड़की में से झांक कर देखा। अभी भी कोई कुण्ड के पास बैठा दिखाई दे रहा था। मैं ने डर के मारे खिड़की बंद कर ली। महाराजश्री अपने कमरे में ध्यानस्थ थे।

अकस्मात् मुझे याद आ गया, "भूत पिशाच निकट नहीं आवै, महावीर जब नाम सुनावै।" मैं हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा। थोड़ी देर में किसी के चलने की आवाज़ आई। ऐसा आभास होता था कि चलने वाले का काफी भारी

भरकम शरीर है। खिड़की में से झाक कर देखा, कोई भी नहीं था। मैं जोंर-ज़ोर से हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा।

प्रात: काल का समय। महाराजश्री के साथ टेकड़ी पर भ्रमण। मैं ने रात की घटना कह सुनाई। महाराजश्री उस समय तक मेरे साथ खुल कर कम ही बात करते थे। मुझे भी उन से अधिक बात करते डर लगता था। किन्तु मेरी बात सुन कर वह ज़ोर से हंसे।

महाराजश्री- जो भी हो किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आश्रम की सीमा में कोई भूत-प्रेत प्रवेश नहीं कर सकता, इस लिए तुम्हारा भयभीत हो उठना अकारण है।

फिर मेरे से पूछा, "क्या भूतों का स्थूल शरीर होता है ?"

मैं ने कहा, "सुना तो यही है कि नंही होता।

महाराजश्री- तो फिर किसी भारी भरकम शरीर के चलने की आवाज़ कैसे आ सकती है ? क्या इस का यह अर्थ नहीं कि चलने वाला भूत नहीं था। तुम्हारी तरह ही अन्य कुछ लोगों को भी आश्रम में भूत के होने की भ्रान्ति हो जाती है किन्तु वह यह नहीं जानते कि यहां अदृश्य महापुरुषों का आना-जाना है। अदृश्य महापुरुष उन की कल्पना के बाहर हैं, जब कि भूत-प्रेतों पर उन का विश्वास दृढ़ होता है। न ही उन्हें अदृश्य महापुरुषों के बारे में कोई जानकारी है तथा न उन्हें भूतों के विषय में कोई ज्ञान है। इस लिए ऐसे लोगों से अदृश्य महापुरुषों तथा भूतों के अन्तर को समझ पाने की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। कुछ ऐसी ही स्थिति तुम्हारी भी है। तुम्हें अभी बहुत कुछ जानना है, बहुत कुछ अनुभव करना है। धीरे-धीरे एक-एक परत खुलती जायगी तथा एक के पश्चात् एक विषय उजागर होता जायगा। जो बात प्रत्यक्ष अनुभव से जानी जा सकती है वह तर्क, युक्ति, प्रवचन अथवा समझाने से भी नहीं।

मैं क्या बोलता ! चुप रह गया। मेरे अन्तर् में अदृश्य महापुरुषों का एक नया अध्याय खुल गया। वैसे पुस्तकों में इस विषय में कुछ पढ़ा था, कुछ बातें भी सुनीं थी, किन्तु इधर विशेष ध्यान नहीं दिया था। पर अब महाराजश्री के कथन के अनुसार मैं एक ऐसे स्थान पर रहता था जहां अदृश्य महापुरुषों का आवागमन था, अब तो मेरे लिए यह जानने योग्य विषय हो गया था।

मैं ने कहा- अदृश्य महापुरुषों को प्रत्यक्ष करने के लिए क्या किसी विशेष प्रकार की साधना करनी पड़ती है ?

महाराजश्री- अदृश्य महापुरुषों का दर्शन तथा उन से संपर्क महापुरुषों की कृपा के अधीन है। किन्तु उस के लिए योग्य चित्त-भूमिका आप को बनानी पड़ती

हैं। महापुरुषों का दर्शन एक आध्यात्मिक उपलब्धि है।

मैं ने कहा- मैं ने पुस्तकों में पढ़ा है कि कई लोग सामान्य भूमिका के होते हैं। न कोई भजन, न महापुरुषों के दर्शन की इच्छा। किन्तु उन्हें महापुरुषों के दर्शन भी हुए, साधन भी मिल गया।

महाराजश्री- ऐसे लोग पूर्व जन्मों के योगी होते है। प्रारब्ध-वशात रास्ता भटक जाते हैं। जब उन का अनुकूल समय आता है तो महापुरुष प्रकट होकर उन्हें अपने मार्ग पर आरूढ़ कर देते हैं।

मृत्यु

महाराजश्री भक्तों से घिरे नारायण कुटी के आंगन में बैठे थे। विषय चल रहा था मृत्यु का। महाराजश्री कह रहे थे, "यदि आप का घर किसी मरघट को जाने वाली सड़क पर है तो आप बड़े भाग्यशाली हैं। क्योंकि दिन में कई बार मृत्यु आप के घर के सामने से हो कर निकल जाती है तथा आप को अपनी याद करा जाती है कि एक दिन तुम्हें भी इसी प्रकार चार लोगों के कंधे पर सवार हो कर, इसी मार्ग से जाना है। जीवन जिसे तू सत्य समझे बैठा है, तेरी कोरी कल्पना है। सत्य तो मैं हूं जो जीवन के मिथ्यात्व में भी तेरे साथ लगी रहती हूं। तू चाहे मुझे भूल जाए किन्तु मैं तुझे नहीं भूलती। भूल सकती भी नहीं, क्योंकि तू एक दिन मेरा आहार बनने वाला है। मैं प्रसन्न होती हूं जब तू बार-बार जन्म लेता है क्योंकि मुझे बार-बार तुझे खाने का अवसर प्राप्त होता है।"

"मनुष्य, जीवन की आंधी में मृत्यु को भूल जाता हैं। मृत्यु हर समय उस के चारों ओर नाचती रहती है किन्तु उसे नज़र नहीं आती। जब उस का कोई प्रिय चला जाता है तो कहता है कि उस की बारी आ गई किन्तु अपनी बारी के विषय में तनिक विचार नहीं करता। वह चाहता है कि उस के सामने मौत की कोई बात भी न करे। वह स्वप्न में भी मरने से भयभीत हो उठता है। युद्ध में रणकौशल दिखाता है। लोगों को अध्यात्म की बारीकियों से अवगत कराता है, किसी कला विशेष को अधिकार पूर्ण प्रस्तुत करता है, अभिमान में छाती तान कर चलता है, किन्तु मौत का नाम सुनते ही भय से कांपने लगता है।"

"कभी सोचा है कि यदि ईश्वर ने मृत्यु नहीं बनाई होती तो क्या होता ? लोग छोटी सी आयु की अवधि दुख भोगते हुए तंग आ जाते हैं। मृत्यु आ कर दुखों से छुटकारा दिलवाती है। यदि लोग जन्मते रहते किन्तु मरता कोई नहीं तो आज जगत में खड़ा होने के लिए भी स्थान नहीं मिलता। खाने को एक दाना तथा पीने को एक घूंट जल मिलना असंभव हो जाता। पक्षी इतने हो जाते कि वृक्षों पर बैठने का स्थान भी नहीं मिलता। फिर आप ही भगवान से प्रार्थना करते कि मुझे मृत्यु दे। भगवान

ने आप की प्रार्थना करने से पूर्व ही आप की प्रार्थना सुन ली है तथा आप को मौत दे दी।

जिस के मन में हर समय मृत्यु का स्मरण बना रहता है उस का समय सुख में व्यतीत होता है, जीवन सुंदर बनता है। अन्त में उसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है कि वह शाश्वत जीवन पा जाता है। मृत्यु को भूल कर जीवन को दुखमय क्यों बनाते हो। यदि मृत्यु से मुक्ति चाहते हो तो मृत्यु को याद रखो। मृत्यु को याद रखने का अर्थ है आगे देखते हुए आगे चलना, तथा संसार का ध्यान करते रहने का अर्थ है देखना पीछे पर चलना आगे। मनुष्य आगे की ओर देखे अथवा पीछे की ओर किन्तु उस का प्रत्येक कदम बढ़ता मृत्यु की ओर ही हैं। जीव की वास्तविकता मृत्यु में निहित है, जीवन में नहीं।

महाराजश्री- का दार्शनिक के रूप में उक्त वक्तव्य मैं दूर बैठा सुन रहा था। क्षण भर के लिए जीवन आखों से ओझल हो गया तथा मृत्यु सामने नाचती दिखाई देने लगी। जब मृत्यु समक्ष हो तो जीवन में कोई रस कैसे हो सकता है ? मुझे स्पष्ट अनुभव होने लगा कि वैराग्य के अभ्यासियों के लिए मृत्यु को स्मरण रखना कितना आवश्यक है ? मुझे जीवन अपना शत्रु तथा मृत्यु हितैषी दिखाई देने लगी। कुछ देर तक वैराग्य के सर्व दुख-निवारक शीतल जल में तैरता रहा, किन्तु मनुष्य के साथ विडम्बना यह है कि वह किसी कल्याणकारी भावना को अधिक देर तक स्थिर नहीं रख पाता। मैं भी वर्तमान जीवन में शीघ्र ही लौट आया। मैं ने महाराजश्री से पूछा, "इस में तो शंका नहीं कि मृत्यु ही जीवन का सत्य है, मृत्यु ही जीवन का आधार है। मृत्यु ही जीवन की सीमा निश्चित करती हैं पर महाराज जी ! क्या यह विचित्र बात नहीं कि सत्य के अन्वेषण में मिथ्या जीवन का सहारा लेना पड़ता है।"

महाराजश्री- मिथ्या जीवन का उपयोग सत्य को जानने के लिए नहीं वरन् मिथ्यात्व के भाव को विलीन करने के लिए है। जैसे कांटे से कांटा निकाला जाता है, वैसे मिथ्यात्व को मिथ्यात्व समाप्त करता है। सत्य स्वयं प्रकाश्य है। उस को प्रकाशित करने के लिए किसी उपकरण, माध्यम या साधन की आवश्यकता नहीं। चित्त पर पड़ी मिथ्यात्व की परत को हटाने का प्रयत्न करने में ही मिथ्यात्व जीवन का सदुपयोग है। जाग्रत शक्ति सत्य हैं किन्तु उस की क्रियाएं मिथ्या है जो मिथ्यात्व के संस्कारों को शिथिल कर विलीन हो जाती हैं। भगवान मिथ्या जीवन को क्यों प्रकट करते हैं ? ताकि जीव चित्त पर पड़े मिथ्यात्व को हटा सके। यदि जीव इस दिशा में प्रयासरत् है तभी उस का मिथ्या जीवन सार्थक होता है।

मैं ने कहा- मिथ्या किन्तु सार्थक विचित्र प्रयोग है।

महाराजश्री- हां, विचित्र तो है किन्तु जो मिथ्यात्व सत्य को जानने का कारण, माध्यम तथा आधार हो, उसे सार्थक ही कहा जायेगा। शक्ति की क्रियाएं मिथ्या होते भी सार्थक हैं गुरु-शिष्य संबंध मिथ्या होते हुए भी सार्थक है। प्रभु के प्रति अनुराग का भाव मिथ्या होते हुए सार्थक है। यह सब भाव तथा नाते एक दिन समाप्त हो जाएंगे किन्तु समाप्ति से पूर्व जीव को सत्य में स्थापित कर देंगे, इस लिए सार्थक हैं।

अब मिथ्या जीवन की सार्थकता मेरे समक्ष स्पष्ट थी। इस के साथ ही महाराजश्री की सूक्ष्म दृष्टि का प्रभाव भी मुझ पर बढ़ता जा रहा था। यह उन के अखण्ड साधन का ही परिणाम था कि उन के विचारों में इतनी प्रखरता एवं दृष्टि में इतनी विशालता-उदारता का विकास हो पाया था। महाराजश्री ऐसे गुरु थे जिन्हों ने अपने शिष्यों के सामने, सही अर्थों में शिष्य बन कर, शिष्य का क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित किया था। महाराजश्री सत् शिष्य थे इस लिए सद्गुरु भी बन पाए। उन्हों ने संयत जीवन बिता कर, दूसरों को संयम का उपदेश दिया। अपने मिथ्या जीवन का सदुपयोग कर के, दूसरों को जीवन सार्थक करने का उपदेश दिया। कुछ कहने से पूर्व वे अपने अन्तर् में झांक कर, अपनी चित्त-स्थिति से अवगत हो जाना आवश्यक समझते थे। अन्तर् में मलीनता को धारण कर के, दूसरों को निर्मलता का उपदेश करना दंभ है। महाराजश्री जीवन भर इस विषय में सतर्क बने रहे।

किसी का बन कर भी किसी का न बनना, किसी को अपना बना कर भी अपना न बनाना, सब व्यवहार करते हुए भी मन से अकर्ता बने रहना, सेवा करते हुए भी सेवा का अभिमान मन में न लाना, उपकार करते हुए भी अपने आप को उपकारी न समझना अर्थात् जगत में रहते हुए भी जगत में न रहना, यही वैराग्य की परिपक्वता के लक्षण हैं। महाराजश्री के जीवन में यह सारी बातें एकदम सही बैठती थीं। उन्हों ने नारायण कुटी देवास तथा योग श्री पीठ ऋषिकेश में अपना निवास अवश्य बनाया किन्तु अपने मन में कभी भी ममत्व का भाव नहीं पनपने दिया। उन के मन में न केवल जगत के प्रति वैराग्य ही था अपितु ईश्वर के प्रति इन के मन में अनुराग भी लबालब भरा था। वह साक्षात् प्रेम-स्वरूप थे।

महाराजश्री के इन गुणों को जब मैं देखता था तो अपनी स्थिति पर विचार करने लगता था, "क्या महाराजश्री ने मुझे अपने चरणों का सानिध्य तथा सेवा प्रदान कर के मुझे कुछ भी प्रदान नहीं किया। क्या मेरे समीप ही गुरु-शिष्य संबंध का महत्त्व है, महाराजश्री के लिए नहीं! "महाराजश्री केवल कर्तव्य-बुद्धि से सब क्रियाएं कर रहे थे। उन के लिाए गुरु-शिष्य संबंध भी विकल्प मात्र मिथ्या रह गया था, अन्यथा अनासक्त भाव से, कर्तव्य समझते हुए, गुरु का उत्तरदायित्व निबाह

रहे थे। मैं कुछ सेवा अवश्य करता था, कई बार मन में सेवा का कुछ अभिमान भी आ जाता था किन्तु महाराजश्री को किसी सेवा की आवश्यकता थी ही नहीं। वह सेवा ग्रहण करने को भी गुरु का एक कर्तव्य मान कर ही स्वीकार कर रहे थे।

अन्तिम चरण की आन्तरिक वृत्ति

अपने जीवन के अन्तिम चरण में महाराजश्री ने सब ओर से मन हटा कर आत्म-केन्द्रित होना आरंभ कर दिया था। आश्रमों की देखभाल एवं उत्तरदायित्वों के प्रति भी उदासीनता धारण करने लगे थे। उन के अमेरिका प्रवास का प्रसंग चला तो उधर से भी अपना मन हटा लिया। लेखन कार्य, दीक्षा कार्य, प्रवचन-भ्रमण, सब ओर से उदासीन होते जा रहे थे। ऐसा लगता था कि वे अपने मन की सारी वृत्तियों को समेट कर, साधन-धाम की ओर ही अपना लक्ष्य स्थिर किए थे। उन्हें अपना खाली पड़ा नौ हज़ार वर्षों से प्रतीक्षा करता, आसन दिखाई देता था। जब नाव नदी में छोड़ दी जाती है, तो किनारा दूर हटता हुआ दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार महाराजश्री को भी दृश्यमान जगत अपने से दूर हटता दिखाई दे रहा था, किन्तु किनारा कहीं हटता नहीं, वहीं बना रहता है जबकि नाव किनारा छोड़ कर दूर जा रही होती है। ऋषिकेश में रहते हुए मैं कभी नारायण कुटी देवास, अथवा योगश्री पीठ ऋषिकेश के विषय में कोई चर्चा करने का प्रयत्न करता तो कहते, "हम ने जो कुछ करना था, कर लिया, अब आप लोग संभालो, हमें अपने भाव में रहने दो।"

महाराजश्री अपने आप की ओर से भी लापरवाह होने लगे थे। उन्हों ने बात-चीत करना बहुत कम कर दिया था। अधिकतर साधन-ध्यान में ही समय व्यतीत करने लगे थे। यदि मैं कोई सांसारिक बात करता तो वे कहते, "यदि तुम्हें संसार की बहुत चिन्ता है तो तुम उसे संभालो। संसार की चिन्ता करते व्यर्थ जीवन खपा दिया। लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गए अभी तक संसार की समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया तथा कभी होगा भी नहीं।" मैं चुप रह जाता। अपने ऊपर झल्लाहट होती कि यह बात महाराजश्री से करने की क्या आवश्यकता थी।

एक योगी की अन्तर्दशा

यदि कोई व्याधि आ घेरे तथा जीवन की अन्तिम वेला समीप हो, तो योगी का जीवन कैसा होता है ? यह महाराजश्री के रूप में प्रत्यक्ष देखने को मिला। पौने दो वर्ष के अस्वस्थता-काल में महाराजश्री सदैव मुस्कराते रहे। एक बार भी उन के मुंह से आह नहीं निकली। कभी उन के मुख-मण्डल पर थोड़ी सी पीड़ा के लक्षण प्रकट नहीं हुए। मन जब शारीरिक कष्ट अनुभव करता है तब मुंह से आह निकलती

है। जब मन ही प्रभावित नहीं होता तो प्रतिक्रिया कैसी ? प्रतिक्रिया क्रिया की होती है। संसार के घटनाक्रम में भी महाराजश्री के शान्त रहने का यही कारण था कि उन का जीवन आदर्श रूप था । महाराजश्री की अस्वस्थ अवस्था में मैं ने उन के साथ हवाई जहाज़, बस तथा रेल गाड़ी, सब में यात्रा की है । उन्हो ने हर बार सामान्य व्यक्ति की तरह यात्रा की । अपने सहयात्रियों को इस बात का आभास तक नहीं होने दिया कि उन के साथ कोई रोगी यात्रा कर रहा है । अन्त तक उन की बुद्धि पूर्णतया संतुलित बनी रही ।

अन्तिम समय का वृत्तान्त

दिल्ली के एक नर्सिंग होम में महाराजश्री की चिकित्सा चलती थी। स्वास्थ्य दिन प्रति दिन बिगड़ता जा रहा था। मुझे महाराजश्री के वे शब्द जो उन्हों ने कभी कहे थे, बार-बार कानों में गूंज रहे थे, "सर्व प्रथम तो यह प्रयास करना कि मेरा अन्तिम समय गंगा किनारे ही घटित हो। यदि किसी कारण यह संभव न हो तो मेरे शरीर को ले जा कर गंगा जी में प्रवाहित करना" तब मैं ने कहा था, "यदि उस समय मैं आप के पास हुआ तो अवश्य ऐसा ही प्रयत्न करूंगा" तब महाराजश्री के चेहरे पर संतोष की एक रेखा दिखाई दी थी।

अब महाराजश्री का अन्तिम समय भी समीप आता जा रहा था, तथा मैं भी दैवयोग से उन के पास था तो मुझे उन के वचन बार-बार स्मरण आ रहे थे। मैं ने डाक्टर से कहा कि आप साफ-साफ बताएं कि इन के स्वास्थ्य-लाभ की कोई संभावना है कि नहीं ? अन्यथा हम इन्हें ले कर ऋषिकेश जाना चाहते हैं क्योंकि गंगा-किनारे देह त्याग की इन की प्रबल इच्छा है।" इस पर कई डाक्टरों ने इक्ट्ठे हो कर विचार-विनिमय किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि महाराजश्री को ऋषिकेश ले जाना ही उचित है।"

तीन कारों की व्यवस्था की गई तथा हम लोगों ने महाराजश्री को ले कर, ऋषिकेश के लिए प्रस्थान किया । हमारे तथा मृत्युदेव के बीच दौड़ लगी थी । मृत्युदेव भी भागते आ रहे थे तथा हम भी इस आशा से भागे जा रहे थे कि महाराजश्री के प्राण रहते गंगा-किनारे पंहुच जाएं। उस समय की याद कर के आज भी आंसू छलक पड़ते हैं। कार की पिछली सीट पर महाराजश्री मेरी गोद में थे। अनेकों प्रकार के विचार हृदय को विदीर्ण कर रहे थे। जिन चरणों में अपने जीवन को समर्पित कर रखा था उन का गंगा जी में विलीन होने का समय तीव्र गति से समीप आता जा र हा था। सभी आशाओं-उमंगों का केन्द्र बिन्दु विलीन होने को था। मैं बार-बार महाराजश्री के मुख को निहारता, बार-बार आंखें पोछता था। हम ने रास्ते में कहीं, पानी तक पीने के लिए गाड़ियां खड़ी नहीं कीं।

अन्ततः हम हरिद्वार हर की पौड़ी पर पहुंच गए। मैं ने महाराजश्री के कान में कहा, "महाराजश्री ! हम हरिद्वार पहुंच गए हैं। हर की पौड़ी पर खड़े हैं।" महाराजश्री ने अन्तिम बार आंखे खोली, मेरी ओर देखा तथा आंखें बंद कर लीं। मैं गंगाजी पर गया तथा गंगा जल ला कर उन के मुंह में थोड़ा सा पान कराया।

महाराजश्री के जीवन का, गंगा-किनारे शरीर त्यागने का अन्तिम लक्ष्य पूरा हो चुका था। गंगा-किनारे पहुंच चुके थे, गंगा जल ग्रहण कर चुके थे। अब उन्हों ने अपने आप को समेटना आरंभ कर दिया था। दोनों आश्रमों से मन को पहले ही हटा चुके थे। हर की पैड़ी से योग श्री पीठ, कोई आधे घण्टे का रास्ता था। आश्रम के सामने की सड़क ठीक गंगा जी का किनारा है। एक डाक्टर हमारे साथ थे। उन्हों ने नाड़ी देखी तो अत्यन्त धीमी चल रही थी। ठीक गंगा किनारे भौतिक देह का विसर्जन कर दिया।

इस प्रकार अन्त हुआ एक चमकते सितारे का, जो अध्यात्म जगत में अपनी आभा बिखेरता हुआ विलीन हो गया। जिस ने कैसे भी कष्ट सहे किन्तु किसी के सामने हाथ नहीं फैलाए। जिस ने सदैव दीन-हीन दुखियों की कर्तव्य मान कर सहायता की। जिस ने साधन के, अन्तर्विभूतियों एवं अनुभूतियों से भरे उच्च शिखर पर पदार्पण किया किन्तु जगत से इन अनुभूतियों को सदैव गुप्त रखा, जो गुरुओं में सद्गुरु तथा शिष्यों में सत् शिष्य था। ऐसे महापुरुष को शत्-शत् वन्दन।

सुधार-प्रचार

महाराजश्री ने अपने जीवन में सदैव साधन को सर्वोपरि स्थान दिया। वह आडम्बरपूर्ण दिखावे से सर्वदा दूर रहे। उन्हों ने साहित्य रचना की किन्तु स्वान्तः सुखाय। वह कोई प्रचारक सुधारक या शोशेबाज़ महात्मा नहीं, एक गम्भीर साधक थे। सुधार के विषय में वह कहते थे, "कितने सुधारक हो गए हैं ? प्रवचन किए, पुस्तकें लिखीं, शिविर लगाए, आयोजन किए, किन्तु क्या जगत का कुछ भी सुधार हो पाया है ? हां ! सुधार की बातें कोई प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए करे, तो बात अलग है।" प्रचार के बारे में वह कहते थे, प्रचार से ईश्वर को प्रतिष्ठापित करना चाहते हो ? वह पहले ही सर्वव्यापक है। प्रचार सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। यदि धर्म का प्रचार करना चाहते हो तो पहले से जिन्हें वह बातें ज्ञात हैं, वह उन पर कहां तक चल पाते हैं।

जिन के चित्त की स्थिति अनुकूल है उन्हें प्रचार की आवश्यता नहीं। जिन की मनः स्थिति प्रतिकूल है, उन पर प्रचार का कोई प्रभाव नहीं, फिर प्रचार कैसा ? प्रचार का सर्वोतम उपाय यह है कि साधक अपना सुधार कर के, जगत के समक्ष क्रियात्मक

उदाहरण प्रस्तुत करे। यदि कोई वास्तव में जगत में अध्यात्म का प्रचार करना चाहताहैं, संसार को सुधारना चाहते है तो उस के लिए एक ही मार्ग है साधन। आप के जीवन में सुगंध होगी तो चारों ओर फैलगी। अन्तर् में दुर्गंध को समेट कर कितना भी प्रचार करो, दुर्गंध ही फैलेगी।

चमत्कारों की निर्थकता

प्राय: लोग महाराजश्री के चमत्कारों का वर्णन करते हैं किन्तु इतने समय तक निरन्तर श्री चरणों के निकट सानिध्य में रहने पर मैं ने अनुभव किया वे अपनी शक्तियों को गुप्त रखने के पक्षपाती थे तथा उन के प्रदर्शन से अपने आप को बचाये रखते थे। कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि जब ऋषिकेश में योगानन्द जी महाराज से उन की दीक्षा हुई तो वह पानी पर चलते हुए गंगाजी के आर-पार जाया-आया करते थे। घूमने के लिए जाते तो ऋषिकेश से देव प्रयाग हो आया करते थे। देवास में भी उन के कई चमत्कारों की चर्चा होती रहती थी। एक बार मैं ने इस विषय में महाराजश्री से पूछ ही लिया,

महाराजश्री- मैं ने तो कभी ऐसा कहा नहीं। इस लिए इन प्रश्नों का उत्तर देना मेरा उत्तरदायित्व भी नहीं। जो लोग ऐसा कहते हैं उन्हीं से पूछना चाहिए।

बात ठीक थी महाराजश्री ने अपने मुख से कभी ऐसा संकेत नहीं दिया था। इस के विपरीत वह सदैव यही कहा करते थे कि यदि साधक के पास इस प्रकार की शक्तियां हों भी तो वह केवल उस के आध्यात्मिक उत्थान की सूचक हैं। यह शक्तियां आत्मा की स्वाभाविक शक्तियां हैं जो प्रत्येक् जीव में विद्यमान हैं किन्तु अज्ञान तथा भ्रम का आवरण आ जाने से व्यक्त नहीं हो पातीं। यदि यह शक्तियां प्रकट हो रही हैं तो अज्ञान का आवरण क्षीण होता जा रहा है यदि साधक इन का अभिमान करने लगे अथवा इन के प्रदर्शन में प्रवृत्त हो जाय तो स्पष्ट है कि वह फिर से अज्ञान की स्थिति में लौट रहा है कोई भी गंभीर साधक यह नहीं चाहेगा कि वह पुन: माया की पकड़ में चला जाय। साधन का स्वाभाविक लक्ष्य आत्म स्थिति की प्राप्ति है। आत्मा में सभी चमत्कारिक शक्तियां स्थित हैं किन्तु आत्म-स्थिति की अवस्था में किसी ऐसी शक्ति का प्रकटीकरण नहीं होता। इन शक्तियों मे उलझ जाने का अर्थ है आगे की यात्रा में गतिरोध उत्पन्न हो जाना।

महाराजश्री के इस स्पष्ट उत्तर ने मुझे निरुत्तर कर दिया। मैं ने कुछ देर विचार किया तथा फिर से कुछ कहने की हिम्मत जुटा पाया तथा पूछा, "महाराजजी! आपने अपने श्री मुख से कभी ऐसी कोई बात नहीं की, किन्तु लोगों में कई प्रकार की चर्चाऐं होती रहती हैं। इन का स्पष्टीकरण केवल आप के द्वारा ही संभव है अन्यथा यह बातें इसी प्रकार चलती रहें गी।

महाराजश्री- कोई लाख स्पष्टीकरण देता रहे जो बातें चलनी हैं, वह इसी प्रकार चलती रहेंगी। किसी की निन्दा करना या किसी का गुणगान करना संसार का सामान्य क्रम है। किसी बात में कहां तक तथ्य है ? इस से जगत को कुछ लेना-देना नहीं। उन्हें तो बातें करना है। जगत किसी की निन्दा कर आनन्द लेता है तो कभी किसी का गुणगान कर के। साधक को इन सब से उदासीन रह कर, अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिए। स्पष्टीकरण देने लगना, अर्थात् जगत में उलझना।

गुरु तत्त्व

महाराजश्री के शिष्यों - भक्तों को महाराजश्री सर्वगुण संपन्न व्यक्ति दिखाई देते थे। उन्हें गुरुदेव की हर बात अच्छी लगती थी। उन के व्यक्तित्व में किसी कमी की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। प्रायः यही स्थिति प्रत्येक् गुरु के शिष्यों की होती है, किन्तु प्रत्येक् गुरु के कुछ भक्त होते हैं तो कुछ विरोधी भी होते हैं। एक ही गुरु अपने विरोधियों में धूर्त, पाखण्डी तथा ठग के रूप में देखा जाता है। एक दिन इस विषय में महाराजश्री से चर्चा हुई तो उन्हों ने कहा-

महाराजश्री- गुरु का शुद्ध स्वरूप गुरुतत्त्व है जो वास्तव में ही सर्व- गुण संपन्न है, जिस में कोई कमी या दोष नहीं। किन्तु गुरुतत्त्व जगत का अंग नहीं, आधार है। जगत के घटनाक्रम का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गुरुतत्त्व सभी गुरुओं का भी गुरु है तथा शिष्य का कल्याण ही जिस का एकमात्र ध्येय है।

किन्तु तुम्हारी बातों से ऐसा स्पष्ट होता है कि इस समय तुम्हारा लक्ष्य गुरुतत्त्व पर नहीं, गुरु शरीर पर है। गुरुतत्त्व गुरु-शरीर के माध्यम से कार्यशील होता है। जहां गुरुतत्त्व को केवल अनुभव किया जा सकता हैं, वहीं भौतिक गुरु शरीर को भौतिक जगत देख पाने तक ही सीमित हैं इस लिए गुरु शरीर के अन्तर में झांक कर, गुरुतत्त्व को देख अथवा अनुभव कर पाने में असमर्थ रह जाता है। गुरु तत्त्व तक पहुंच, उन्नत साधकों का ही अधिकार है।

जहां तक गुरु शरीर का संबंध है तो सारी सृष्टि गुणदोषमय है। सृष्टि का प्रत्येक जीव तथा पदार्थ गुणदोषमय है। गुणदोषमय का गुण सृष्टि के कण-कण तथा रोम-रोम तक प्रभावशील हैं। कोई पदार्थ अथवा जीव ऐसा नहीं जिस में केवल गुण हों, या केवल दोष हों। गुणदोषों की स्थिति एवं अनुपात् बदलता रहता है। किसी में गुण अधिक हैं तो किसी में दोष अधिक हैं। जो आज गुण प्रधान है वह कल दोष-प्रधान हो जाता है। गुरु शरीर भी सृष्टि के ही अन्तर्गत् है। उस पर भी गुणों तथा दोषो का प्रभाव है। स्थूल जगत का यही नियम है। इस सत् तम् रज् तीनों गुण कभी समावस्था में नहीं आते सदैव विषमता बनी रहती है एवं तीनों गुणों की स्थिति में निरन्तर परिवर्तन घटित होता रहता है। पापात्मा कभी भी पुण्यात्मा हो

सकता है तथा पुण्यात्मा कभी भी पापात्मा।

इस दृष्टि से देखा जाय तो जो भी भौतिक देह में निवास करता है, उस का शरीर गुणदोषमय है। किन्तु जीव जगत को उस के वास्तविक स्वरूप में नहीं देख कर, चित्त स्थिति के चश्में में से देखता हैं तथा चश्में के रंग के अनुरूप उसे जगत का रंग दिखाई देता है। चित्त स्थिति सब की भिन्न है तथा जगत का ज्ञान भी सब का अपना-अपना है। जहां श्रद्धा तथा प्रेम का चश्मा चढ़ा होता है, वहां गुण ही गुण दिखाई देते है। जहां द्वेष, घृणा तथा वैमनस्य के आवरण मे से दृश्य को देखा जाता है वहां दोष ही दोष दिखाई देते हैं। यह एक प्रकार से जगत के गुणदोषमय स्वरूप को चुनौती है। ईश्वर के बनाए नियम की अवहेलना है। जीव की व्यक्तिगत् स्वतंत्रता की अवधारणा है। जीव किसी के अधीन नहीं रहना चाहता। ईश्वर के अधीन भी नहीं। वह ईश्वर का प्रकट किया हुआ अच्छा-बुरा नहीं देखना चाहता। अच्छे-बुरे की स्वयं कल्पना करना चाहता है जब कि उस का एक-एक पल पराधीनता में व्यतीत होता है। वह विवशता में ही जीवन-यापन करता है। इन्द्रियों तथा जगत की अधीनता। मन तथा वासना की अधीनता, विकारों तथा भावनाओं की अधीनता। जगत की अधीनता निरस्त करने के लिए मनुष्य को किसी अत्यन्त शक्तिशाली शक्ति की अधीनता की आवश्यकता है। इसी लिए उसे गुरु को समर्पित होने का निर्देश दिया जाता है

गुरु के प्रति समर्पण गुरुतत्त्व के प्रति समर्पण है। गुरुतत्त्व कहीं दिखाई नहीं देता। उस तक पहुचने के लिए पहले गुरु शरीर के प्रति समर्पण से आरंभ किया जाता है। गुरु को गुरु तत्त्व का प्रकट स्वरूप मान कर उस की पूजा की जाती है, आदेश का पालन किया जाता है, उस की सेवा की जाती है, उस के गुणों का ध्यान किया जाता है। यदि गुरु में दोष दिखाई देने लगें तो उस के गुणों का ध्यान भी कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे गुरुतत्त्व के अनुभव का पथ प्रशस्त होता है। गुरुतत्त्व सर्वगुणमयी है अतः शरीर के प्रति भी सर्व गुणमय की भावना साधन में सहायक है।

गुरु शरीर के विरोधियों के समक्ष गुरु तत्त्व नहीं होता। उन के समीप गुरु शरीर भी सामान्य शरीर होता है। उस शरीर के गुणदोष उन्हें दिखाई देते हैं। यदि मन में विरोध की भावना हुई तो वह गुरु-शरीर के भी विरोधी बन जाते हैं, उस की निन्दा करते हैं, विरोध करते हैं। जैसा वह सामान्य जगत में व्यवहार करते हैं, वैसा ही गुरुशरीर के साथ भी करते हैं।

गुरु-शिष्य का संबंध जोड़ने वाली कड़ी गुरु तत्त्व होता है। गुरु तत्त्व के रूप में कृपा करता है तथा गुरुतत्त्व ही शिष्य बन कर कृपा ग्रहण करता है। उन का

संबंध भौतिक या सांसारिक नहीं हो कर, शुद्ध आध्यात्मिक होता है। यदि भौतिकता का समावेश हो जाय तो संबंध दूषित हो जाता है। अतः शिष्य के हित में यही है कि वह गुरु के दोषों की ओर ध्यान न दे कर अपना लक्ष्य गुणों पर ही स्थिर रखे।

इस प्रकार चामुण्डा माता जी की टेकड़ी का सिद्ध महापुरुषों के द्वारा साधन-स्थली के रूप में प्रयोग होता रहा। भर्तृहरि से ले कर स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज तक, दो हज़ार वर्षों में मुख्यतः पांच महापुरुषों ने इस स्थान को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया, यद्यपि अनेकों अन्य साधक भी यहां आ कर तपश्चर्या करते रहे।

वर्तमान में इस टेकड़ी का तीर्थ-स्थान के रूप में विकास हो गया है। मंदिरों के स्वरूप में भी भव्यता आती जा रही है। सड़क निर्माण तथा बिजली पानी की भी सुविधा हो गई है। भक्तों का बड़ी संख्या में आवागमन होता रहता है। टेकड़ी के आस-पास का जंगल साफ हो कर बाज़ारों मकानों तथा कालोनियों का जंगल उभर आया है। अतः एकान्त-प्रिय साधकों ने यहां निवास करते हुए तपश्चर्या करना बंद कर दिया है। किन्तु अदृश्य-महापुरुष जिन्हें एकान्त अथवा भीड़-भाड़ से कोई अन्तर नहीं पड़ता, अभी भी मालवा के इस क्षेत्र में साधनरत् हैं। महाराजश्री के कथनानुसार इस समय भी योगी नागनाथ टेकड़ी के ऊपर अधर में समाधिस्थ हैं तथा एक योगी जिस का उन्हों ने नाम नहीं बताया, नारायण कुटी की पुरानी साधन-गुफा में ध्यानावस्था में है। भविष्य में कब, कौन अन्य कोई महापुरुष यहां आ कर साधनमय जीवन बिताएंगे ? अभी क्या कहा जा सकता है।

साधन शिखर

देवास (म.प्र.) की माताजी की टेकड़ी कब से आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र रही है ? इस का कोई पता नहीं । इस के शिखर पर एक शिला पर उभरी चामुण्डा माताजी की आकृति, मालव प्रदेश में निवास करने वाले अदृश्य महापुरुषों की श्रद्धा का केन्द्र रही है। यह भी ज्ञात नहीं की कब–कब तथा कौन–कौन महापुरुष यहाँ साधन का आनन्द लेते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी में टेकड़ी पर स्थित नारायण कुटी में निवासशील स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज की दिव्य दृष्टि ने यह उद्घाटन किया कि आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व महापुरुष भर्तृहरि, जो उज्जैन के भूतपूर्व नरेश थे, तथा सम्राट विक्रमादित्य के बड़े भाई थे, ने टेकड़ी को अपनी तपस्थली बनाया। उस समय टेकड़ी चारों ओर से वृक्षों से आच्छादित घने जंगल तथा जंगली हिंसक पशुओं, सांपों, बंदरों आदि से घिरी थी। तब तक देवास नगर का जन्म भी नहीं हुआ था।

उस के पश्चात् नाथ संप्रदाय के एक अन्य महापुरुष योगी नागनाथ अपने शिष्यों सहित यहां साधनारत् रहे। बारहवीं शताब्दी में दिल्ली के महाराजा पृथ्वीराज चौहान के राजकवि चन्द बरदाई चामुण्डा माताजी के प्रति आकृष्ट हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में योगी शीलनाथ महाराज ने देवास तथा टेकड़ी का अपनी साधना–स्थली के रुप में प्रयोग किया जब कि बीसवीं शताब्दी के मध्य में टेकड़ी पर नारायण कुटी स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज से सुशोभित रही।

स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज की दृष्टि अलौकिक थी, अतीत में झाँकने की क्षमता थी। सूक्ष्म स्तरों पर रमण करते हुए अदृश्य महापुरुषों के संपर्क में थे। उन्हीं के द्वारा वर्णन किया गया टेकड़ी तथा उस पर तपस्या करने वाले महापुरुषों का वृत्तान्त यहां संकलित है।

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
92–96 नवाली गाँव
पोस्ट दहीसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)

ISBN81-901471-6-1
9788190147163